# आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

# एक दृष्टि

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

# आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : एक दृष्टि

संपादक

डॉ० रामकुमार वर्मा

डॉ० जगदीश गुप्त : डॉ० रामजी पाण्डेय

# सम्पादकीय

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जन्म-शताब्दी वर्ष के उपलक्ष्य में जो संकल्पना की गयी थी और इस संकल्पना को विभिन्न आयोजनों के माध्यम से जिस तरह चरितार्थ किया गया, वह केवल एकपक्षीय ही नहीं रही। आचार्य शुक्ल के पूरे साहित्य पर सारा विचार, परम्परा को पुष्ट करने वाला ही नहीं रहा, वरन् कुछ लोगों ने नये सिरे से शुक्लजी की स्थापनाओं का पुनर्परीक्षण करने का संकल्प किया। यही नहीं, बहुत-सी अप्रकाशित सामग्री भी उस दौरान प्रकाश में आयी और आचार्य रामचन्द्र शुक्लजी के बहाने समस्त हिन्दी आलोचना के मूल्यांकन की चेतना उत्पन्न हुई।

इस सन्दर्भ में विभिन्न हिन्दी विभागों तथा अन्य संस्थाओं ने जो योगदान दिया, वह तो सराहनीय है ही, किन्तु साहित्य अकादमी, दिल्ली का आयोजन विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुआ।

हिन्दुस्तानी एकेडेमी ने आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के सम्मान में ऐसा कोई आयोजन तो नहीं किया, किन्तु **हिन्दुस्तानी पत्रिका के विशेषांक** रूप में इस पुस्तक में जो सामग्री प्रकाशित की है, वह मनीषियों के लिए तथा अन्य जिज्ञासुओं के लिए प्रेरक सिद्ध होगी, ऐसा हमारा विश्वास है।

**डॉ० जगदीश गुप्त**
सचिव

# स्मरण

शास्त्र तथा साहित्य लिखे जाने के उपरान्त ही उनकी आलोचना-प्रत्यालोचना सम्भव होती है। इस प्रकार इन दोनों विधाओं में समय का अन्तर होना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी हो जाता है।

आर्षवाणी की सृजनात्मक रचनाओं तथा उनकी शुद्धता बनाये रखना ही आरम्भिक आलोचना का लक्ष्य होने के कारण आधुनिक युग की आलोचना के लिए उनमें स्थान नहीं था, परन्तु काव्यशास्त्र के सम्बन्ध में बहुत से मत-मतान्तर प्राप्त होते हैं।

मध्य में आक्रमणकारियों के भारत में बस जाने के कारण फ़ारसी, अरबी आदि भाषाओं को राजभाषा होने का महत्त्व मिल गया और शिक्षा में मकतब-प्रणाली का उपयोग होने लगा।

उसके उपरान्त अंग्रेजी का युग आ गया जिसने आलोचना में कोई मौलिक कार्य करने की प्रेरणा नहीं दी।

इस प्रकार पं० रामचन्द्र शुक्ल का कार्य भगीरथ के गंगा लाने जैसा कठिन, मौलिक कार्य कहा जाएगा।

छायावाद के कवियों ने उन्हें तब देखा जब इन कवियों की रचनाएँ प्रकाशित होने लगी थीं।

मैंने भी उनके दर्शन तब किये जब मेरी दो-तीन पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी थीं। उनसे मिलना मानो अपने किसी आत्मीय बड़े-बूढ़े से मिलने का सुखद अनुभव था। गोलाई लिए कुछ चौड़ा मुख, मूछों के नीचे छिपी-सी मुस्कराहट। क्या ऐसा स्नेहिल व्यक्तित्व हमारा विरोधी आलोचक हो सकता है ? हममें से किसी का भी मन उनसे न कभी भयभीत हुआ, न उनका विरोधी। हमारी रचना-प्रक्रिया की सच्चाई ने उन्हें भी प्रभावित किया और उसके उपरान्त जो साहित्य का इतिहास लिखा गया, वह स्नेह की भूमिका में है।

इसी से आज उन्हें प्रणाम देना कृतार्थता लगती है।

**महादेवी**<br>
१७-सी, अशोकनगर,<br>
इलाहाबाद

# सरस स्मृति

प्रयाग विश्वविद्यालय में हिन्दी विभाग की स्थापना सन् १९२४ में हुई थी। किन्तु, दस वर्षों में ही डॉ० धीरेन्द्र वर्मा के निर्देशन में विभाग ने हिन्दी अध्ययन-अध्यापन और अन्वेषण के क्षेत्र में जो ख्याति अर्जित की, वह अन्य विश्वविद्यालयों के लिए स्पर्धा की बात बन गयी। उस समय काशी हिन्दू विश्वविद्यालय हिन्दी का गढ़ समझा जाता था, किन्तु हिन्दी भाषा और साहित्य के अध्ययन के लिए अन्य प्रदेशों या विदेशों से आने वाले विद्यार्थियों ने धीरे-धीरे जो सम्मान प्रयाग विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग को देना आरम्भ किया, उससे हिन्दू विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग की कीर्ति धूमिल होने लगी। उस समय भी हिन्दी विभाग की मर्यादा को स्थिर रखने वाले एक मनीषी कीर्ति-स्तम्भ के रूप में थे और वे थे—'आचार्य श्री रामचन्द्र शुक्ल'।

अपने विश्वविद्यालय के प्रारम्भिक दिनों में मैंने सुना था कि डॉ० धीरेन्द्र वर्मा के बाद विभाग के दूसरे पद के लिए सन् १९२५ में पं० रामचन्द्र शुक्ल का नाम प्रस्तावित किया गया था। तब शुक्ल जी की साहित्य-सेवा सामान्य ही थी। पर पं० मदनमोहन मालवीय जी ने पं० देवीप्रसाद शुक्ल का नाम पं० गंगानाथ झा, तत्कालीन कुलपति, के समक्ष प्रस्तावित कर दिया। क्योंकि पं० देवीप्रसाद शुक्ल पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी जी की अस्वस्थता में चार महीने सरस्वती मासिक पत्रिका का सम्पादन कर चुके थे। इस भाँति प्रयाग विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में पं० रामचन्द्र शुक्ल जी तो नहीं आये, पं० देवीप्रसाद शुक्ल आ गये। यदि पं० रामचन्द्र शुक्ल जी आते तो हिन्दी विभाग की स्थिति दूसरी ही होती।

पं० रामचन्द्र शुक्ली जी की साहित्य-सेवा यों तो ब्रजभाषा-काव्य से आरम्भ हुई। किन्तु, धीरे-धीरे उनके भावपक्ष पर बुद्धितत्त्व का प्राधान्य होता गया और वे ललित, मनोवैज्ञानिक और आलोचनात्मक निबन्ध लिखने लगे। इसकी परिणति 'चिन्तामणि' निबन्ध-संग्रह में हुई।

हिन्दी साहित्य को उनकी अविस्मरणीय देन उनका 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' है जिसने सर्वप्रथम भारतीय भाषाओं में हिन्दी के वास्तविक स्वरूप का बोध कराया। सन् १९३४ की बात है, मैं हिन्दी साहित्य सम्मेलन का परीक्षा मंत्री था। हिन्दी की प्रथमा, मध्यमा और उत्तमा परीक्षाओं में पाठ्यक्रम के निर्धारण करने का दायित्व मेरा था। परीक्षा विभाग की प्रत्येक बैठक में राजर्षि पुरुषोत्तम दास टण्डन जी आया करते थे। उत्तमा परीक्षा के पाठ्यक्रम में जब इतिहास की बात चली, तो पं० रामचन्द्र शुक्ल का इतिहास निर्धारित हुआ। राजर्षि चाहते थे कि इतिहास में आलोचनात्मक तत्त्व भी होना चाहिए और उन्होंने मुझे ऐसा इतिहास लिखने के लिए प्रेरित किया। मैंने शुक्ल जी के इतिहास से ही प्रेरणा ग्रहण की और अपना 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' सन् १९३६ में लिखा जिस पर अनायास मुझे डॉक्टरेट की उपाधि प्राप्त हुई। इस प्रकार आलोचना और इतिहास-लेखन में शुक्ल जी का दृष्टिकोण मुझे सदैव प्रेरणा देता रहा।

**डॉ० रामकुमार वर्मा**
साकेत, प्रयाग स्ट्रीट,
इलाहाबाद

## सहयोगी

□

# आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की लोकमंगल की अवधारणा

श्री विद्यानिवास मिश्र

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने प्रसिद्ध निबन्ध (काव्य में लोकमंगल और माधुर्य) में लोक में आनन्द की दो अवस्थाओं की स्थापना की है : (१) साधनावस्था और (२) सिद्धावस्था। साधनावस्था के बीज के रूप में करुणा है और उसके विकास के रूप में सात्त्विक अमर्ष, क्रोध, उत्साह जैसे दीप्त भाव हैं। इन सबके योग से लोकमंगल की भूमिका तैयार होती है। सिद्धावस्था का बीज है प्रेम और उसकी गति रंजन की ओर होती है। यद्यपि प्रेम में दुःख का भी अनुभव होता है, पर प्रेम का लक्ष्य माधुर्य की सिद्धि ही है। आचार्य शुक्ल की दृष्टि में साधनावस्था की अभिव्यक्ति ही श्रेष्ठतर काव्य के रूप में परिणत होती है। इस प्रकार उन्होंने एक सम्पूर्ण दृष्टि से एक लोकमंगलवादी सिद्धान्त की स्थापना की, किन्तु लोक क्या है, यह बात उनके आलोचनात्मक निबन्धों में कहीं स्पष्टतः निरूपित नहीं हो पाती। उनकी लोकदृष्टि को समझने के लिए उनकी काव्य-रचनाओं से सहायता लेनी पड़ती है अथवा हिन्दी साहित्य के इतिहास में उनकी साहित्यिक रुझान से कुछ सहायता मिलती है। इस आलेख में मुख्य रूप से उनकी लोकदृष्टि के अनिरूपित पक्ष को आकलित करने का प्रयत्न किया जायगा।

एक बात तो स्पष्ट है कि उनकी लोकदृष्टि में केवल मानव-समुदाय नहीं है। उनका लोक मनुष्य और सृष्टि की व्यापक साझेदारी का भाव है। 'हृदय का मधुर भाव' शीर्षक कविता में वे, मनुष्य और पक्षी के साहचर्य में ही जीवन की मूल्यवत्ता है, यह स्थापित करते हुए स्पष्ट रूप से कहते हैं—

> सहचर सारे ये हमारे रहते भी जहाँ
> कुछ सुख पावें पुण्यधाम वो हमारे हैं।
> इनके सुखों से सुख अपना हटा के दूर
> जीवन का मूल्य तो समूल हम हारे हैं।
> पर ये हमारे, हम इनके बने हैं अभी
> जैसे हम इन्हें वैसे हमको ये प्यारे हैं।

जब मनुष्य का अहंकार इस साझेदारी से हटकर उपभोक्ता के मद में चूर हो जाता है तो उसकी नरता कितनी भयावह है, यह आचार्य रामचन्द्र शुक्ल परिवेश की वर्तमान जागरूकता के दशकों से समझ चुके थे, तभी वे ऐसी बात कह सकते थे कि तुम जंगलों को काट डालो, पहाड़ों को समतल बना दो, जीवों का संहार कर लो, धरती की गोद सूनी कर दो—तुम्हें क्या मिलेगा ? एक प्रेत का अकेलापन। क्या अकेले नरता पर्याप्त है ?

> कर से कराल निज काननों को काटकर
> शैलों को सपाट कर सृष्टि को संहार ले

नाना रूप रंग धरे जीवन उमंग भरे
जीव जहाँ तक बने मारते तू मार ले
माता धरती की भरी गोद यह सूनी कर
प्रेत सा अकेला पाँव अपने पसार ले
विश्व बीच नर के विकास हेतु नरता ही
होगी किन्तु अलम, न मानव ! विचार ले।

आचार्य शुक्ल की लोकदृष्टि का दूसरा पक्ष यह है कि लोक का अर्थ है गोचर जगत् के साथ गोचर रागात्मक सम्बन्ध। दूसरे शब्दों में जो इन्द्रियगोचर संसार है, वह व्यर्थ नहीं है, वह अर्थवान् है। यदि मनुष्य उसे इस भाव से देखता है कि जो नारायण हमारे भीतर है, वही नारायण बाहर भी समान है और बाहिर्जनी नारायण को जो समझ नहीं पाता, वह अन्तर्यामी को भी नहीं समझ सकता। कुछ लोग इस भाव को स्थूल भौतिकवादी दृष्टि मानने की भूल कर सकते हैं और करते भी हैं। ऐसे लोग तर्क देते हैं कि आचार्य शुक्ल ने 'रिडिल ऑफ यूनिवर्स' जैसी अनीश्वरवादी रचना का अनुवाद 'विश्व-प्रपंच' के नाम से याद किया तो इसके पीछे यही कारण है कि उनका झुकाव भौतिकवाद की ओर है, परन्तु उनकी अधिकांश रचनाएँ यह स्पष्ट रूप से प्रमाणित करती हैं कि वे निरे भौतिकवादी नहीं थे। वे भौतिक पदार्थों में एक जोड़ने वाली सत्ता का अनुभव करते थे और भौतिक पदार्थों से रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करने वाली मनुष्य की जातीय स्मृति का महत्त्व भलीभाँति समझते थे। उन्हीं के शब्दों में 'विंध्य की वनवीथियाँ इसलिए और भी प्यारी लगती हैं कि वो रामपद अंकित है, ये कटीले झाड़ भी प्यारे लगते हैं क्योंकि हैं उनके ही वंशज ये जो—

कभी राम को छुए हमारे
इस नाते की चाट जिन्हें है
चित्रकूट कुछ और उन्हें है।'

वे इस नाते की चाट के ही कारण एक विचित्र प्रकार की आत्मीयता बीहड़ से बीहड़ प्रकृति से स्थापित करते हैं। इस प्रकार 'लोक' उनके लिए एक खुला हुआ संसार है जिसमें एक आन्तरिक संगति है, जिसमें मनुष्य की पीढ़ी-दर-पीढ़ी के साहचर्य का जुड़ाव है, जिसमें नर और नारायण के रिश्तों के बीच हजार किस्म के रिश्तों की सम्भावना की पहचान है और जिसमें एक दूसरे के ऊपर न्यौछावर होने में परम उल्लास का भाव है।

आचार्य शुक्ल की लोकदृष्टि में कभी-कभी एक अतिरिक्त ऊर्जस्विता दिखलाई पड़ती है जिसके कारण वे रहस्यवाद और छायावाद के कवियों के प्रति कुछ अकरुण भी हो जाते हैं। उन्होंने तो रवीन्द्रनाथ ठाकुर के सौन्दर्य-बोध को भी थोड़ा न्यून ही महत्त्व दिया है। वे अन्तर के साईं की खोज को अन्धकूप का भटकाव समझते हैं। यही नहीं, ब्लेक जैसे कवियों की नकल में अज्ञात प्रियतम की खोज की परम्परा को पाखण्ड की भी संज्ञा देते हैं। 'पाखण्ड-प्रतिबन्ध' शीर्षक से उनकी एक लम्बी कविता है जिसमें मुख्य रूप से तीन मुद्दे उठाये गये हैं, पहला तो यह है कि सत् का आभास अधिक महत्त्वपूर्ण है, ध्वंसस्वरूप असत् की छाया का महत्त्व उसकी अपेक्षा कहीं कम है। दूसरा यह कि भारतीय काव्यधारा बाल्मीक से लेकर आज तक जगत् की जागती सगुण विभूतिमयी भासमान सत्ता में अनन्त शाश्वत कला देखती आई है। इसी कारण उस परम्परा के 'सत्त्वगर्भ मानव' को 'खग' के भी जीवन की हानि और सुखभंग साध्य नहीं हुए। भारतीय काव्य-परम्परा लुकी-छिपी किसी कोने में नहीं रहती। वह खुले

आकाश में भ्रमण करती है। यह तो पश्चिम की नकल है जिसमें अज्ञात की लालसा के नाम पर ढोंग रचा है, जिसमें न भाषा है, न भाव है, न भूति भाँपने की आँखें हैं। लोग गुरुज्ञान-गूदड़ी के चिने हुए चिथड़ों से मन ब्रह्मलीन किये गाँठते हैं और 'कलाहीन कोटि' शब्द की उड़ान भरते हैं। आचार्य शुक्ल को ऐसे सिद्ध साइँयों पर बड़ा अक्रोश है जो अन्तर की वासना को, कामवृत्तियों के झंझावात को, झूठ की प्रचण्ड गति को अध्यात्म और ब्रह्मलिप्सा का मुलम्मा चढ़ते हैं। वे प्रत्यक्ष अनुभव के जगत् से बाहर अध्यात्म की खोज को निरन्तर नकारते रहते हैं। इसीलिए उन्होंने 'हृदय का मधुर भाव' शीर्षक कविता में छायावाद के प्रतिलोम में 'प्रकाशवाद' शब्द का आविष्कार किया है और इस पर क्षोभ व्यक्त किया है कि जिसके पास प्रकृति के शुद्ध रूप को देखने की आँख नहीं है, वे क्यों व्यर्थ भीतरी रहस्य समझाते हैं—

> प्रकृति के शुद्ध रूप देखने की आँख नहीं
> जिन्हें वे ही भीतरी रहस्य समझाते हैं।
> झूठे झूठे भावों के आरोपों से आच्छन्न उसे
> करके पाखण्ड कला अपनी दिखाते हैं।
> अपने कलेवर की मैली औ कुचैली वृत्ति
> छीप के निराली छटा उसकी छिपाते हैं।
> अश्रु, श्वास, ज्वर, ज्वाला, नीरव रुदन नित्य
> देख अपना ही तंत्री तार वे बजाते हैं।

तीसरा मुद्दा यह है कि लोकदृष्टि व्यक्ति के दुःख को महत्त्व तभी देती है जब वह समस्त सृष्टि के दुःख के साथ समवेत हो, अन्यथा उस दुःख में साधारणीकरण की संभावना नहीं हो पाती है तो उसे काव्य के लिए हेय समझती है।

इस तीनों मुद्दों में आचार्य शुक्ल का जो आवेशमय रूप दिखाई पड़ता है, वह ऊपर से तो बहुत ही निर्मम और कठोर लगता है, उससे पूरी तरह सहमत होने में भी कभी-कभी कठिनाई मालूम होती है किन्तु यह तो मानना ही पड़ेगा कि उनके स्वस्थ और आलोचक रूप का प्रमाण है। वे बिना लाग-लपेट के खरी बात कहना चाहते हैं। वे मलिक मोहम्मद जायसी के 'पद्मावत' में पद्मावती के अलौकिक रूप-वर्णन की अपेक्षा नागमती के विरह-वर्णन में जायसी की लोक-दृष्टि का प्रमाण अधिक पाते हैं क्योंकि वह विरह-वर्णन सामान्य गृहस्थ के जीवन से एक ओर जुड़ा हुआ है तो दूसरी ओर पूरी सृष्टि के परिवर्तनशील रूप की द्रवणशीलता से भी। इसमें हर बरसने वाला नक्षत्र, हर बरसने वाली नक्षत्र-माला कुछ नये ही ढंग से धरती को भिगोती है। उन्हें सूर का माधुर्य भाव इसलिए भी मोहित करता है कि उसमें सगुण रूप की लीला है और सूर से भी तुलसी इसलिए अधिक प्रिय लगते हैं क्योंकि वे लोकरंजक रूप की अपेक्षा लोकरक्षक रूप की महत्ता प्रतिपादित करते हैं। परन्तु वे तुलसीदास से भी कभी-कभी नाराज हो उठते हैं जब वे देखते हैं कि उनके प्रकृति-वर्णन में सहजता और स्वाभाविकता नहीं रह गई है, प्रकृति केवल उद्दीपन बनकर तत्त्वहीन हो गयी है। आचार्य शुक्ल की दृष्टि में प्रकृति उद्दीपन से अधिक आलम्बन बनकर ही काव्य में सामर्थक है। प्रकृति के भी निरे कोमल पक्ष में भी उन्हें उतना सौंदर्य नहीं दिखाई पड़ता जितना ऊपर से रूखे, किन्तु भीतर से सरस पक्ष में। शायद उसके ऊपर विंध्य की पथरीली-रूखी, पर वर्षा होते ही श्यामलता और रसमयता से आलुप्त धरती का प्रभाव है या उनके भीतर के वे संस्कार हों जो कर्तव्य की कठोरता के नीचे छिपी हुई नक्काशी से अधिक प्रभावित हुए हों। कारण जो भी हो, आचार्य शुक्ल बेल-बूटों की नक्काशी

में नहीं रमते, वे बीहड़ वनों में खुलेपन में अधिक रमते हैं क्योंकि वहाँ सहजता है, वहाँ एक खुली हुई सच्चाई है, कहीं भी दुराव नहीं। इस प्रकृति में ही 'मानस के अनेक द्वार' गुप्त होते हैं और हास की ऊँची तरंगें उठती हैं। वे धरती में अपने आप उगने वाले में एकसाथ पालन और रंजन का भाव पाते हैं—

गर्भ में धरित्री अपने ही कुछ काल जिन्हें
घटकर गोद में उठाती फिर चाव से।
और सगे हैं वे ही उसके जो हरे-हरे
खड़े लहराते पले मृदु क्षीर-स्राव से।
भरती हैं जननी प्रथम इनको ही निज
भले हुए पालन और रंजन के भाव से।
पालते यही हैं, बहलाते भी यहीं है फिर
सारी सृष्टि उसी प्राप्त शक्ति के प्रभाव से।

वे कविता की संभावना वहाँ देखते हैं जहाँ धरती किसानों के धूल-सने श्रम से फल के रूप में अपनी निधि बिछा देती है। उसी बिछी हुई निधि में से चिड़ियाँ अपना भार बँटाती हैं। धरती की इस ममता से भरी हुई छाँह का आमन्त्रण दुर्निवार है —

जननी धरणी निज अंक लिए बहु कीट पतंग खेलाती जहाँ
ममता से भरी हरी बाँह की छाँह पसार के नीड़ बसाती जहाँ।
मृदु वाणी, मनोहर वर्ण अनेक लगाकर पंख उड़ाती जहाँ
उजली कंकराली गली में धँसी तनुधार लटी बल खाती जहाँ।

अब इस आलोक में जब हम लोकमंगल की अवधारणा का स्वरूप-निर्धारण करेंगे तो समझ में आयेगा कि सौंदर्य का बीज न राग है, न द्वेष, उसका बीज है मंगल-विधान, अर्थात् सब की चिन्ता, सर्वमय होकर सबकी चिन्ता। यदि यह चिन्ता है तो सारे भाव—कोमल या मधुर, कठोर या तीक्ष्ण—सुन्दर हो जाते हैं। मंगल-विधान तभी शक्तिशाली होता है जब वह निर्विरोध और व्यापक होता है। आचार्य शुक्ल ही के शब्दों में 'यदि करुणा किसी व्यक्ति की विशिष्टता पर अवलम्बित होगी कि पीड़ित व्यक्ति हमारा मित्र, कुटुम्बी आदि है तो उस करुणा द्वारा प्रवर्तित तीक्ष्ण या उग्र भाव में उतनी सुन्दरता न होगी। पर बीज रूप में अंतःसंज्ञा में स्थित करुणा यदि ढब की होगी कि इतने पुरवासी, इतने देशवासी या इतने मनुष्य पीड़ा पा रहे हैं तो उसके द्वारा प्रवर्तित तीक्ष्ण या उग्र भावों का सौन्दर्य उत्तरोत्तर अधिक होगा। शुक्ल जी राग को प्रेम और करुणा दोनों का प्रवर्तक मानते हैं, किन्तु उनकी दृष्टि में प्रेम में कोई न कोई विशेषता अपेक्षित होती है, जबकि करुणा में निर्विशेषता की सिद्धि होती है। इसीलिए प्रेम की भूमिका की अपेक्षा करुणा की भूमिका अधिक व्यापक होती है।

आचार्य शुक्ल की इस स्थापना के पर स्पष्ट हैं, कहीं न कहीं एक हल्का पश्चिमी प्रभाव जरूर है। वे अपनी काव्य-रचना में साझेदारी की मधुरता की बात करते हैं। वहाँ करुणा से अधिक निर्विरोध प्यार का ही प्रसार है, परन्तु समीक्षा में वे यदि उस माधुर्य को कुछ न्यून करके देखते हैं तो यह योरोप के औद्योगीकरण से पनपी हुई मनुष्य की कर्मठता के उत्साह के प्रति श्रद्धा-भाव का ही प्रभाव कहा जा सकता है—विशेष रूप से उस समय जब देश में नवजागरण का संकल्प लिया जा रहा हो। यहीं आचार्य शुक्ल एक अन्तर्विरोध के जाल में फँस जाते हैं। वे एक ओर तो सहज भावुकता से वहाँ बिक जाते हैं 'जहाँ बक के निखरे सित पंख विलोक के—बाकी बिक जाती हैं', वहीं दूसरी ओर वे रवीन्द्रनाथ ठाकुर की आनन्दानुभूति को कुछ थोथी मानते हैं। सूर के माधुर्य भाव को भी वे केवल

रंजक मानते हैं। वे एक ओर तो अछूतों के लिए अपार करुणा से लहरा कर उनकी ओर से कविता के कारण अन्तर्नाद कर सकते हैं, दूसरी ओर कबीर-जैसे पाखण्ड-विरोधी कवि की रचना की मूल्यवत्ता बहुत कुछ अनदेखी कर जाते हैं। वे आनन्द और सुख का अन्तर ही अनदेखा कर जाते हैं। भारतीय दृष्टि दोनों को बराबर पृथक् मानती आई है। आनन्द न सुख है, न दुःख है, बल्कि सुख-दुःख की एक तटस्थ पर लोकसंपृक्त अनुभूति है। यह अनुभूति केवल करुणा से प्रेरित अक्षम या क्रोध की होने पर ही सुन्दर हो, ऐसी बात नहीं। स्वयं आचार्य शुक्ल अपने लोकमंगल वाले निबन्ध में माधुर्य की अभिव्याप्ति विभिन्न प्रकार के रागात्मक प्रसारों में पाते हैं (अतीत की स्मृति में)। कौमार अवस्था के परिचित पुराने पेड़ों और उजाड़ टीलों में, किसानों के झोपड़ों में, काई और कीचड़ भरे तालों में, चरकर लौटती हुई गायों के धूल उड़ाते हुए झुण्ड में, गड़ेरियों और ग्वालों की कमली में, ऊसर की पगडंडियों में मन को लीन करने वाला जो गुण है, वह माधुर्य है। यदि मंगल केवल प्रयत्न या साधनावस्था तक ही सीमित रहे, तो उसकी भूमिका कितनी छोटी होती है, इस ओर शुक्ल जी का ध्यान न गया हो, ऐसी बात नहीं, पर उनके भीतर एक आग्रह है जो लगता है किसी चिढ़ के कारण है। वे कहीं नकलीपन से उद्विग्न हो गये हैं, अन्तर्नाद, अन्तर्वेदना के खोखलेपन से खीझ गये हैं। इसलिए यह पहचानते ही कि श्रीकृष्ण के मथुरा जाने के बाद गोपियों की विरह-व्यथा का वर्णन जिस हृदय को द्रवित करता है, वह हृदय घुल जाता है। वे श्रीकृष्ण को लोकरंजक मात्र ही मानते हैं और यह भूल जाते हैं कि श्रीकृष्ण श्रीराम की तरह ही लोकरक्षक हैं। अन्तर केवल इतना है कि श्रीकृष्ण लोकरक्षक रूप को बराबर भुलवाते रहते हैं ताकि वे गोपियों के अधिक से अधिक आत्मीय हों, अधिक से अधिक सगे हों। स्वयं राम भी तुलसी के काव्य में विनम्रता और मधुरता की भूमिका से अपने स्फीत वीरभाव को दबाते चलाते हैं, ताकि वे सामान्य रूप से सामान्य व्यक्ति के आत्म हो सकें। निश्चय है कि यद्यपि आचार्य शुक्ल के मन में लोक है, वह बहुत व्यापक है। उसमें मनुष्य और पूरी सृष्टि समायी हुई है, पर उनकी सैद्धांतिक पीठिका में जो रुख है, वह मानववाद के पश्चिमी आन्दोलन की छाया से ग्रस्त है। इसलिए जहाँ कवि के रूप में आचार्य शुक्ल एक व्यापक लोक-मंगल की झाँकी प्रस्तुत करते हैं, वहीं आलोचक के रूप में लोकमंगल को एक दायरे में सीमित कर देते हैं।

इस अन्तर्विरोध के बावजूद भी यह स्वीकार करना चाहिए कि आचार्य शुक्ल में एक स्वस्थ और मौलिक लोकदृष्टि साहित्य-समीक्षा को दी और उन्होंने अपने समय के प्रवाह में न बहते हुए एक दूरदर्शिता का परिचय दिया। एक ऐसी आधुनिक चेतना का परिचय दिया जो उनके मरने के बाद आज ख्वाब में उभर रही है। आचार्य शुक्ल की मंगल-विधायिनी, लोकदृश्य जीवन से स्वीकार्य और जीवन की सम्पूर्णता की पहचान कराने वाली जो दृष्टि है, वह अध्यात्म को संसार से अलग नहीं देखती। इस गोचर संसार में ही अध्यात्म है, देखने का भाव होना चाहिए। दूसरे शब्दों में न तो वे मायावाद के फाँस में पड़े, न छायावाद के, न रूपवाद या भोगवाद के। वे एक सीधी राह निकाल सके हैं—यह बात ही अपने आप में बहुत महत्त्व रखती है।

●

बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी

# हिन्दी-समीक्षा में शुक्ल जी के आचार्यत्व का स्थान

● डॉ० रामलाल सिंह

अर्थ-परिवर्तन के विशिष्टीकरण की प्रक्रिया से 'आचार्य' शब्द का पारिभाषिक या शास्त्रीय अर्थ है ज्ञान के क्षेत्र में किसी नये सिद्धान्त की उद्भावना करने वाला शास्त्रीय विद्वान् व्यक्ति। इसी अर्थ में हमारे यहाँ भारतीय साहित्यशास्त्र में भरत, दण्डी, वामन, आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त आदि को आचार्य की उपाधि मिली है। इस दृष्टि से जब हम हिन्दी-समीक्षा में शुक्ल जी के आचार्यत्व पर विचार करते हैं, तब हमें यह विदित होता है कि उन्होंने साहित्य-समीक्षा में किसी अभूतपूर्व नये साहित्य-सिद्धान्त की उद्भावना नहीं की है, किन्तु इससे उनके आचार्यत्व में किसी प्रकार की कमी भी नहीं आती, क्योंकि जिस जाति या देश के पास दो सहस्र से अधिक वर्षों का साहित्य-चिन्तन भरा पड़ा हो, जिसमें एक से एक उदात्त सिद्धान्त आविष्कृत हो चुके हों, उस देश के साहित्य-चिन्तन के लिए सर्वथारूपेण किसी नये या मौलिक सिद्धान्त की उद्भावना का अवसर बहुत ही कम रहता है। ऐसी स्थिति में उसकी मौलिकता या आचार्यत्व की परीक्षा सर्वप्रथम मूल तथा व्यापक सिद्धान्त के ग्रहण से होती है, तदन्तर उस सिद्धान्त के विवेचन में प्रयुक्त उसकी मौलिक सामग्री तथा मौलिक विवेचन शैली से होती है। इसके पश्चात् उसके आचार्यत्व का परिचय उस मूल सिद्धान्त की युगानुरूप नवीन व्याख्या, उसके नवीन महत्व-प्रतिपादन, नवीन सम्बन्ध-स्थापन, नूतन संश्लेषण, नवीन बल, उसकी त्रुटियों के दूरीकरण के प्रयत्न तथा उसके अन्तर्गत की गयी नवीन उद्भावनाओं से मिलता है। उपर्युक्त दृष्टियों से जब हम शुक्ल जी के आचार्यत्व पर विचार करते हैं तो यह विदित होता है कि वे भारतीय समीक्षा के मूल सिद्धान्त 'रस-सिद्धान्त' के व्यापक स्वरूप को ग्रहण करने में समर्थ हैं। उन्होंने रस-सिद्धान्त को इतना व्यापक स्वरूप प्रदान किया है कि जिसमें भारतीय काव्य के सभी तत्त्व—अलंकार, रीति, गुण, ध्वनि, वक्रोक्ति, औचित्य तथा पश्चिमी दृष्टि से काव्य के प्रमुख तत्त्व—कल्पना, अनुभूति, सौन्दर्य-तत्त्व, वर्ण्य तत्त्व, शील-निरूपण, जीवन-सन्देश आदि एवं जीवन के प्रमुख पक्ष— मनोवैज्ञानिक, सामाजिक, सांस्कृतिक तत्त्व, युगचेतना तत्त्व, दार्शनिक तथ्य आदि समाहित हो जाते हैं जिसमें पूर्व तथा पश्चिम, प्राचीन तथा नवीन, सभी प्रकार के काव्यों की सम्पूर्ण सम्पदाएँ तथा विशेषताएँ समन्वित होकर काव्य-समीक्षा का इतना व्यापक प्रतिमान तैयार करती हैं कि जिसके द्वारा संसार भर के सभी प्रकार के साहित्यों की परीक्षा हो सकती है। जीवन की दृष्टि से शुक्ल जी इसमें लोक-जीवन तथा व्यक्ति-जीवन के संश्लेषण की क्षमता सिद्ध करते हैं, इसमें जीवन के आदर्श तथा यथार्थ दोनों पक्षों का समावेश करते हैं, इसमें यथासम्भव नये जीवन तथा नये विचारों की सन्निहित की व्याप्ति प्रतिपादित करते हैं तथा अन्ततोगत्वा इसमें विश्व-जीवन की आन्तरिक एकता की अनुभूति सिद्ध करते हैं।

रस-सिद्धान्त सम्बन्धी उनकी नवीन उद्भावनाएँ उनके आचार्यत्व को प्रमाणित करने में पूर्ण समर्थ हैं।

"लोकहृदय में लीन होने की दशा या हृदय की मुक्तावस्था" के रूप में शुक्ल जी की रस-परिभाषा मौलिक है। भाव-सामान्य तथा प्रत्येक भाव के विभिन्न निर्माणकारी तत्त्वों,

लक्षणों, विशेषताओं, भेदोपभेदों, स्वरूपों का पृथक्करण, वर्गीकरण तथा विश्लेषण, उनकी विस्तृत व्याप्ति, उनके उद्भव, गतिविधि तथा विकास की प्रक्रिया, जीवन तथा साहित्य में प्रत्येक भाव के महत्त्व तथा उपयोगिता का विवेचन, भावों की विभिन्न दशाओं—क्षणिक दशा, शील दशा, स्थायी दशा—का पृथक्करण तथा महत्त्वसहित उनका विवेचन जैसा शुक्ल जी ने कर दिया है, वैसा भारतीय साहित्यशास्त्र में कहीं देखने को नहीं मिलता।

भाव का एक वृत्ति-चक्र या मानसिक-शारीरिक विधान-व्यवस्था के रूप में निरूपण तथा स्थायी भाव का एक भावकोश या भाव-प्रणाली के रूप में प्रतिपादन एवं उसमें प्राथमिक भाव, साधित भाव, वासना, मनोवेग, इन्द्रिय-वेग, प्रवृत्ति, अन्तःकरण-वृत्ति, विवेकात्मक बुद्धि-व्यापार, संकल्प, इच्छा तथा शरीर-व्यापार का मूल भाव के शासन के भीतर नियोजन हिन्दी-समीक्षा में नितांत मौलिक वस्तु है।

शुक्ल जी ने भाव तथा रस-विवेचन में भावों तथा रसों की ऐसी अवस्थाओं का उल्लेख किया है जो शास्त्रीय ग्रन्थों में नहीं मिलतीं। जैसे—रौद्र रस के विवेचन में राजकोप, धर्मकोप, तथा लोककोप का विवेचन। साहित्य-मीमांसकों द्वारा विवेचित वीर रस के चार भेदों—दान-वीर, दयावीर, धर्मवीर और युद्धवीर के अतिरिक्त कर्मवीर, बुद्धिवीर तथा वाग्वीर की उद्भावना शुक्ल जी के निजी चिन्तन का फल है। स्थायी भाव की विशेषताओं तथा उनके निर्माण-कारी तत्त्वों का निरूपण तथा उसकी जीवन-सम्बन्धी साहित्यिक तथा सामाजिक व्याख्या शुक्ल जी के पूर्व किसी हिन्दी अथवा संस्कृत के शास्त्रीय ग्रन्थ में नहीं मिलती। प्रमुख सात स्थायी भावों—उत्साह, करुणा, प्रीति, घृणा, भय, क्रोध, और श्रद्धा-भक्ति तथा प्रमुख तीन संचारी भावों—लज्जा, ग्लानि तथा ईर्ष्या में से प्रत्येक की परिभाषा, स्वरूप, लक्षण, उसके निर्माणकारी तत्त्वों, व्यावहारिक जीवन में पाये जाने वाले उनके भेदोपभेदों, उनकी उत्पत्ति, विकास तथा गतिविधि आदि की जैसी मौलिक सामग्री शुक्ल जी ने दी है, वैसी हिन्दी क्या संस्कृत के किसी साहित्यशास्त्र-सम्बन्धी ग्रन्थ में नहीं मिलती। उपर्युक्त भावों का विवेचन करते समय शुक्ल जी ने 'चिन्तामणि' तथा रस-मीमांसा' के निबन्धों में साहित्य के माध्यम से अपने युग की प्रायः सभी प्रमुख समस्याओं का उद्घाटन तथा समाधान जिस कलात्मक ढंग से प्रस्तुत किया है तथा इनके द्वारा रस तत्त्व के भीतर ऐतिहासिक तथ्य, प्रकृति-दर्शन, युग-चेतना-तत्त्व, सांस्कृतिक तत्त्व, राष्ट्रीय तत्त्व आदि का समावेश जिस कलात्मक ढंग से किया है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है।

रस के मनोवैज्ञानिक तथा सामाजिक आधार की जितनी विस्तृत सामग्री शुक्ल जी ने 'रस-मीमांसा' में दी है, उतनी अन्यत्र नहीं मिलती। जीवन तथा साहित्य में प्रत्येक भाव तथा रस के ही नहीं, उनके विभिन्न स्वरूपों के महत्त्व तथा उपयोगिता का विवेचन 'रस-मीमांसा' में बिलकुल नया है। रस-सिद्धान्त को शुक्ल जी ने साहित्यशास्त्रीय सामग्री से ही नहीं, वरन् जीवन-सामग्री से भी समझाने का प्रयत्न किया है। अतः रस-व्याख्या के समय विवेचित शुक्ल जी का जीवन-दर्शन तथा साहित्य-दर्शन हिन्दी-समीक्षा-संसार में नवीन ढंग से अभिव्यक्त हुआ है। जगत् के सच्चे प्रतिनिधि बनने के रूप में स्थायी भाव के विवेचन की सामग्री शुक्ल जी की नवीन सूझ है। इस प्रकार रस-सिद्धान्त द्वारा जीवन तथा साहित्य को एक सूत्र में व्यवस्थित कर बाँधने का प्रयत्न किया है।

विभाव के भीतर मनुष्य से लेकर कीट-पतंग, वृक्ष-नदी-पर्वत आदि सृष्टि के सभी साधा-रण-असाधारण पदार्थों की योजना शुक्ल जी के व्यापक तथा मौलिक चिन्तन का फल है। अनुभाव को शारीरिक ही मानने वाले उनके मत का मनोवैज्ञानिक पक्ष बिलकुल मौलिक ढंग का है। हावों को अधिकांश मात्रा में विभाव के भीतर रखने के औचित्य का प्रतिपादन हिन्दी-

समीक्षा के लिए मौलिक सामग्री है। संचारियों का वर्गीकरण तथा प्रत्येक वर्ग की विशेषताओं का निरूपण जैसा शुक्ल जी ने 'रस-मीमांसा' में किया है, वैसा अन्यत्र नहीं मिलता। तैंतीस संचारियों को उपलक्षण मानकर उनसे अधिक संचारियों की संख्या मानने वाले मत का प्रतिपादन तथा विस्मृति, चकपकाहट, आदि नये संचारियों का आविष्कार महाकवि देव के विवेचन के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं नहीं मिलता।

साधारणीकरण-विवेचन के संदर्भ में रस-प्रक्रिया का जैसा मनोवैज्ञानिक विवेचन शुक्ल जी ने किया है, वैसा मनोवैज्ञानिक विवेचन हिन्दी अथवा संस्कृत के किसी साहित्यशास्त्रीय ग्रन्थ में नहीं मिलता। साधारणीकरण के तत्त्वों का स्पष्ट उल्लेख, उसकी प्रक्रिया की विभिन्न अवस्थाओं का स्पष्टीकरण, उसकी उच्च, मध्यम तथा अधम कोटियों की उद्भावना तथा उनका स्पष्ट निरूपण, शृंगार, वीर, रौद्र, के अतिरिक्त अन्य रसों के साथ साधारणीकरण-प्रक्रिया की प्रयोग-विधि तथा काव्य, नाटक के अतिरिक्त अन्य साहित्य-रूपों के साथ उसका प्रयोग शुक्ल जी के अतिरिक्त अन्यत्र किसी दूसरे भारतीय आचार्य के ग्रन्थ में देखने को नहीं मिलता।

रस की समग्र जीवनमयी तथा साहित्यमयी व्याप्ति का विवेचन रस-सिद्धान्त के क्षेत्र में शुक्ल जी की बहुत बड़ी देन है। रस-व्याप्ति में उसके मनोवैज्ञानिक पक्ष की विवृति, उसके नैतिक तथा सांस्कृतिक पक्ष का उल्लेख, दार्शनिक पक्ष का संकेत, उसके भीतर चरित्र-चित्रण तत्त्व का समावेश, प्रत्यक्ष जीवन में रसानुभूति का उल्लेख, जैसे—प्रकृति के रमणीय दृश्यों के दर्शन एवं ऐतिहासिक खंडहरों के प्रत्यक्षीकरण में उसकी सीमा के भीतर जीवन के आदर्श तथा यथार्थ दोनों पक्षों की सन्निहिति, उसके भीतर बोधवृत्ति, रागवृत्ति तथा संकल्प-वृत्ति की समाहिति तथा अनुभूति के माध्यम से उसके भीतर काव्य के अन्य तत्त्वों का समावेश करके शुक्ल जी ने रस-व्याप्ति-सम्बन्धी सामग्री को नितान्त मौलिक बना दिया है।

शुक्ल जी की रस-स्वरूप-सम्बन्धी सामग्री हिन्दी-समीक्षा के लिए ही नहीं, वरन् संस्कृत समीक्षा के लिए भी नितान्त नूतन वस्तु है। रस की उच्च, माध्यम तथा अधम दशाओं की उद्भावना शुक्ल जी के अतिरिक्त किसी दूसरे भारतीय आचार्य के विवेचन में नहीं मिलती। कल्पित रूप-विधान के अतिरिक्त प्रत्यक्ष रूप-विधान तथा स्मृत रूप-विधानजन्य अनुभूति में रसानुभुति का दर्शन करना शुक्ल जी की मौलिक सूझ है, क्योंकि उन्होंने जहाँ से इसका संकेत प्राप्त किया था, वहाँ इसका प्रयोग कल्पनानन्द के लिए किया गया था। रसानुभूति की विशेषताओं का विवेचन भी शुक्ल जी ने नवीन ढंग से किया है। रस के लौकिक स्वरूप पर इतना अधिक बल हिन्दी-समीक्षा में ही नहीं, संस्कृत-समीक्षा में भी किसी आचार्य ने नहीं दिया। लौकिक सुख-दुःख से भिन्न रस के सत्त्वोद्रेकयुक्त सामाजिक सुख-दुःखात्यक स्वरूप का समर्थन शुक्ल जी का मौलिक विचार है।

शुक्ल जी ने अपने युग के अनुरूप रस की नवीन व्याख्या की है। उनके युग में जीवन की सबसे बड़ी आवश्यकता, सबसे अधिक माँग सामाजिकता की थी। अतः उन्होंने रस की व्याख्या सामाजिकता, निर्वैयक्तिकता तथा लोकदशा में हृदय के लीन होने की दशा के रूप में की है। शुक्ल जी द्वारा निर्मित रसादर्श आवश्यक संशोधनों के साथ युग का प्रतिनिधि साहित्यादर्श स्वीकार किया गया है और उसी के आधार पर लोकधर्म का रस-सिद्धान्त पर प्रतिष्ठित समीक्षा की एक नयी परम्परा प्रतिष्ठित हुई है जो आज तक चलती जा रही है। उनके द्वारा निर्मित समीक्षा का जो जीवन-सम्बन्धी प्रतिमान 'जन-कल्याण' स्थापित हुआ, वह अनेक झोंके-झकोरे खाने के बावजूद भी आज तक अटूट बना हुआ है। इससे यह विदित है कि आचार्य शुक्ल अपने समीक्षा-सम्बन्धी आचरण की अमिट छाप अपने परवर्ती समीक्षकों पर

लगाने में समर्थ हुए हैं । आचार्य शब्द की व्युत्पत्ति-मूलक अर्थ-दृष्टि[१] से उनके आचार्यत्व का वह दूसरा सबसे बड़ा प्रमाण है ।

शुक्ल जी का रस-सिद्धान्त विश्व-समीक्षा सिद्धान्त बनने की सम्भावना के प्रतिपादन के कारण हिन्दी समीक्षा में उसके नवीन महत्त्व का प्रतीक है। शुक्ल जी ने हिन्दी समीक्षा में काव्य के सभी तत्त्वों का सम्बन्ध रस से नये सिरे से स्थापित किया है। सैद्धान्कि समीक्षा में साहित्य के विभिन्न सिद्धान्तों की क्या स्थिति होनी चाहिए, किस प्रकार सभी सिद्धान्त अनुभूतिजन्य होने के कारण रस से सम्बन्धित हो जाते हैं, इसे सर्वप्रथम हिन्दी समीक्षा में बलपूर्वक आचार्य शुक्ल जी ने ही कहा । हिन्दी समीक्षा में शुक्ल जी के पूर्व रस, अलंकार, रीति, ध्वनि, औचित्य आदि के विवेचन बिखरे-बिखरे रहते थे, पूर्वी एवं पश्चिमी समीक्षा के सिद्धान्त अलग-अलग दिखाई पड़ते थे । इनमें संश्लेषण लाने का कार्य सर्वप्रथम शुक्ल जी द्वारा रस के माध्यम से संपादित हुआ ।

शुक्ल जी ने सर्वप्रथम रस के दार्शनिक पक्ष से बल, सामाजिक पक्ष पर तथा शास्त्रीय पक्ष से व्यावहारिक पक्ष पर अवतरित किया । उन्होंने अपने रस-विवेचन में रस के मनोवैज्ञानिक तथा सामाजिक आधार, नैतिक पक्ष, त्रिकालवर्तिनी विश्वात्मक अनुभूति के स्वरूप तथा साधारणीकरण में आलम्बन के लोकधर्मी स्वरूप पर सर्वाधिक बल दिया है। इससे एक ओर तो उन्होंने रस को लौकिक अनुभूति सिद्ध किया तथा दूसरी ओर अलौकिकता, आध्यात्मिकता को रस-क्षेत्र से अलग करने का प्रयत्न किया । इन प्रयत्नों के फलस्वरूप वे साहित्य को जीवन के निकट लाने में तथा उसे सामाजिक बनाने में सर्वाधिक मात्रा में सफल हुए ।

शुक्ल जी के अंग-सिद्धान्तों का विवेचन भी उनके अंगी-सिद्धान्त—रस-सिद्धान्त के समान ही प्राचीन भारतीय काव्यशास्त्र का आधार लेने पर भी नवीनता रखता है। अलंकार-विवेचन में कल्पना का प्रयोग, उसके प्रयोग के मनोवैज्ञानिक कारणों का विचार, रूप, गुण, क्रिया तथा प्रभाव के आधार पर उसका वर्गीकरण, जीवन-सौन्दर्य के पर्याय-रूप में उसकी स्वीकृति शुक्ल जी सर्वप्रथम भारतीय समीक्षा में की । वे काव्य में अलंकार को वर्णन-प्रणाली मानकर उसका स्थान अन्य अंग तत्त्वों के समान रूप में ही स्वीकार करते हैं। अलंकार-सम्बन्धी उनका उपर्युक्त मत हिन्दी के परवर्ती समीक्षकों में निर्विवाद रूप से मान्य हो गया है। हिन्दी के अलंकार-ग्रन्थों में संस्कृत अलंकार-ग्रन्थों की देखा-देखी स्वभावोक्ति, उदात्त, अत्युक्ति, हेतु आदि वर्ण्य से संबंध रखने वाले अलंकार अलंकारों की श्रेणी में रखे जाते थे। इनका सम्बन्ध वर्ण्य से होने के कारण शुक्ल जी ने इनके अलंकारत्व का निषेध किया है। यह धारणा उनके परवर्ती समीक्षकों को भी मान्य-सी हो गई है। अलंकारों की संख्या के विषय में शुक्ल जी का विचार बहुत ही प्रगतिशील ढंग का है, क्योंकि वे उनकी इयत्ता नहीं मानते । उनकी दृष्टि में नये अलंकारों के आविष्कार की सम्भावना प्रत्येक कवि तथा कृति में है। इस प्रकार शुक्ल जी की प्रगतिशील अलंकार-धारणा हिन्दी के अलंकार-सम्बन्धी मत को उसकी संकुचित यंत्रगतिक शृंखला से उन्मुक्त कर उसे विस्तृत रूप देती है ।

शुक्ल जी की रीति-सम्बन्धी व्याख्या आज हिन्दी-समीक्षकों के बीच रीति-सम्बन्धी मान्य धारणा के रूप में प्रचलित है। रीतिवादियों के समान आज हिन्दी का कोई समीक्षक रीति को काव्यात्मा नहीं मानता । शुक्ल जी ने रीति का सम्बन्ध भाषा से, पद-संघटना से, शैली से मानते हुए उसका सम्बन्ध काव्य के बहिरंग-पक्ष से स्थापित किया है। रीति के सम्बन्ध में यही धारणा हिन्दी-समीक्षा में आज भी प्रचलित है ।

शुक्ल जी की गुण-सम्बन्धी धारणा रस-धर्म के रूप में अन्तरंग कोटि की है। गुण की यही धारणा हिन्दी समीक्षकों को आज मान्य है। शुक्ल जी रस के सहायक सिद्धान्त के रूप में औचित्य सिद्धान्त की सार्थकता स्वीकार करते हैं। वह भारतीय संस्कृति तथा वातावरण में पले किसी हिन्दी समीक्षक को अमान्य नहीं हो सकती।

अन्य सिद्धान्तों के समान वक्रोक्ति-सिद्धान्त की वास्तविकता को भी शुक्ल जी ने स्वीकार किया है। हिन्दी में शुक्ल जी के पूर्ववर्ती आचार्यों में एकाध को छोड़कर प्रायः सभी ने वक्रोक्ति को अलंकार-विशेष के रूप में ही स्वीकार किया है। जिन आचार्यों ने वक्रोक्ति को सिद्धान्त-रूप में ग्रहण किया, उनमें से पद्मसिंह शर्मा, भामह, दण्डी, कुंतक आदि के वक्रोक्ति या अतिशयोक्ति सम्बन्धी प्राचीन मत को ज्यों का त्यों रखते हैं। रत्नाकर जी उसे रमणीयता की सृष्टि में सहायक मानकर रस के समक्ष रखते हैं। ये दोनों आचार्य उसके सापेक्ष महत्त्व तथा वास्तविकता को अलग करने में असमर्थ हुए हैं, किन्तु शुक्ल जी अपनी तत्त्वाभिनिवेशी दृष्टि द्वारा वक्रोक्ति की सापेक्ष महत्ता तथा वास्तविकता को ग्रहण करने में समर्थ हुए हैं और उन्हें उसकी सार्थकता, मार्मिक अनुभूति से उत्पन्न होकर रसोद्रेक में सहायता पहुँचाने में मान्य है, इसके आगे नहीं। अर्थात् कुन्तक की वक्रोक्ति जहाँ तक अनुभूतिजन्य चमत्कार को लेकर चलती है, वहाँ तक शुक्ल जी को मान्य है, किन्तु जहाँ वह केवल अनुभूति-विरहित कोरे चमत्कार की प्रतिष्ठा करती है, वहाँ मान्य नहीं। कहने की आवश्यकता नहीं कि शुक्ल जी की वक्रोक्ति-सम्बन्धी उक्त धारणा हिन्दी-समीक्षा के लिए नवीन वस्तु है। वक्रोक्ति-सिद्धान्त-विषयक इस प्रकार की संतुलित धारणा शुक्ल जी के पूर्व किसी आचार्य ने प्रतिपादित नहीं की थी।

शब्द-शक्ति के विषय में आचार्य शुक्ल की हिन्दी-समीक्षा में सबसे बड़ी मौलिक देन यह है कि वे रस-निष्पत्ति की प्रक्रिया व्यंजना-प्रक्रिया से मानते हुए भी वाच्यार्थ में काव्य की रमणीयता मानते हैं। अर्थात्, वे व्यंजना को मानते हुए भी अभिधावादी हैं, अभिधा में काव्य का चमत्कार मानते हैं। इस प्रकार वे अनुभूति तथा सौन्दर्य पक्ष में समन्वय स्थापित करते हैं। काव्य की अनुभूति तथा चमत्कार पक्ष का यह सुन्दर समन्वय हिन्दी-साहित्य तथा समीक्षा के लिए बहुत बड़ी देन है। शुक्ल जी द्वारा संलक्ष्यक्रम व्यंग्य तथा असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य का स्पष्ट अन्तर भारतीय समीक्षा में अन्यत्र नहीं मिलता। यह शुक्ल जी के सूक्ष्म मौलिक चिन्तन का फल है। युक्तियुक्त ढंग से शुक्ल जी द्वारा व्यंजना की स्थापना, असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य की विशेषता का पूर्णरूपेण स्पष्टीकरण तथा लक्षण एवं व्यंजना के भीतर अभिधा की समाहिति का निरूपण इस बात को स्पष्ट करता है कि उनकी दृष्टि कभी एकपक्षीय अथवा एकांगी नहीं होती थी। वे किसी मत या वाद को मानने के कारण दूसरे मत के मूल्य की अवमानना नहीं करते थे, वरन् उसके सत्पक्ष को ग्रहण करने के लिए वे सदैव तैयार रहते थे। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि शुक्ल जी ने अलंकार, रीति, गुण, ध्वनि, वक्रोक्ति तथा औचित्य सम्प्रदाय की आधारभूत वास्तविकताओं को ग्रहण कर काव्य में सबके यथोचित मूल्य का निरूपण कर सैद्धान्तिक समीक्षा को उसके सभी विकसित अंगों सहित हिन्दी समीक्षा में प्रस्तुत किया है।

जिस प्रकार शुक्ल जी ने भारतीय समीक्षा के सभी सिद्धान्तों का मौलिक मनोवैज्ञानिक विवेचन कर सैद्धान्तिक समीक्षा का सर्वांगीण विकसित रूप उपस्थित करते हुए हिन्दी के अनुशीलन-कार्य को नई चेतना दी, तद्वत् उन्होंने साहित्य की सर्वांगीण व्याख्या और मूल्यांकन करने वाला काव्य-दर्शन देकर हिन्दी समीक्षा को नई दृष्टि दी। इस प्रकार उन्होंने हिन्दी-समीक्षा का स्वतन्त्र तथा नव्य दर्शन उपस्थित कर अपने आचार्यत्व को अपने कार्यों तथा

आचारों द्वारा प्रमाणित किया। उन्होंने काव्य-लक्षण, काव्य-हेतु, काव्य-प्रयोजन, काव्य-तत्त्व, काव्य-स्वरूप, कवि-कर्म, काव्य-प्रक्रिया, काव्य-निकष, काव्य की आवश्यकता, महत्ता तथा कार्य, कवि-व्यक्तित्व, काव्याधिकारी आदि काव्य-दर्शन-सम्बन्धी सभी आवश्यक प्रश्नों पर अधुनातन ढंग से विचार किया है।[२] उनके काव्य-दर्शन के विवेच्य अंगों की पदावली अधिकांश मात्रा में पुरानी है, पर उनके विवेचन की सामग्री नवीन तथा वैज्ञानिक है। फलस्वरूप पुराना काव्य-दर्शन सजीव तथा समयोपयोगी हो गया है, निर्जीव परम्परा सजीव हो उठी है।

भारतीय काव्यशास्त्र के सभी प्रतिनिधि लक्षणों में काव्य 'शब्दार्थ रूप' माना गया है। शुक्ल जी भी अपने काव्य-लक्षण-निरूपण में दोनों को रखते हैं, किन्तु हृदय की मुक्ति-साधना को काव्य का व्यावर्तक धर्म मानकर उसमें नवीनता ला देते हैं। काव्य-प्रयोजन-सम्बन्धी शुक्ल जी की दृष्टि शास्त्र-सम्मत होते हुए भी युगानुकूलता के तत्त्व को अपनाने के कारण, उसकी व्याख्या में नवीन वैज्ञानिक पदावली के प्रयोग के कारण नवीन कोटि की हो गई है। उन्होंने कविता के उदात्त से उदात्ततर प्रयोजनों को अपनी काव्य-प्रयोजन-धारणा में समाहित कर, काव्य को दर्शन की कोटि में तथा कवि को योगी की श्रेणी में ले जाकर कवि तथा काव्य, दोनों को यह प्राचीन गौरव तथा महत्त्व फिर एक बार दिलाने का प्रयत्न किया है जब कवि ऋषि, क्रान्तदर्शी, मनीषी आदि की श्रेणी में रखे जाते थे और कविता दर्शन के समान उदात्त तथा मंत्र के समान प्रभावशाली मानी जाती थी।

**काव्य-हेतुओं का विवेचन शुक्ल जी द्वारा** प्राचीन भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा के मेल में होते हुए भी प्रतिभा के मनोवैज्ञानिक विवेचन के कारण नवीनता रखता है। उन्होंने प्रतिभा के विवेचन में उसकी अलौकिक, अतिप्राकृत, दैवी धारणाओं का खण्डन करते हुए बौद्धिक ढंग से नवीन पदावली में उसका विवेचन किया है। प्रतिभा का ऐसा मनोवैज्ञानिक विवेचन शुक्ल जी के पूर्व किसी हिन्दी-समीक्षक ने नहीं किया है।

शुक्ल जी ने भारतीय काव्य-तत्त्वों—रस, अलंकार, रीति, वक्रोक्ति, औचित्य तथा ध्वनि एवं पश्चिमी काव्य-तत्त्वों—अनुभूति, कल्पना, सौन्दर्य तत्त्व, राग तत्त्व, बुद्धि तत्त्व, अभिव्यंजना तत्त्व, आदर्श तत्त्व तथा यथार्थ पक्ष पर विचार करते हुए सबका समन्वय रस के माध्यम से सफलतापूर्वक करके काव्य का बहुत ही विस्तृत स्वरूप खड़ा किया है। वह कविता जो चुने हुए नायक-नायिकाओं, बँधी हुई जीवन-धाराओं, कुछ सीमित भावनाओं तथा कुछ विषयों में बँध गई थी, उसको उसके संकुचित स्वरूप से मुक्त कर, जगत् और जीवन के विस्तार के समान विस्तृत कर उसको इतना व्यापक स्वरूप शुक्ल जी ने दिया है कि उससे अधिक की कल्पना करना असम्भव है। उसके पूर्ववर्ती किसी भी हिन्दी-समीक्षक ने कविता को इतना व्यापक स्वरूप नहीं प्रदान किया था।

शुक्ल जी ने कवि-कर्म का निरूपण भारतीय काव्य-पक्ष—विभाव एवं भाव पक्ष तथा पश्चिमी काव्य-पक्ष—अनुभूति, कल्पना, चिन्तन तथा प्रेषणीयता के माध्यम से किया है। इसलिए उसमें मौलिकता तथा आधुनिकता का पुट आ गया है। उन्होंने काव्य-प्रक्रिया का सम्बन्ध भावना-प्रक्रिया तथा अथवा कल्पना-प्रक्रिया से जोड़कर एवं उसके माध्यम से काव्य के सभी तत्त्वों को संश्लिष्ट कर उसकी अधुनातन व्याख्या की है।

**शुक्ल जी द्वारा निरूपित काव्योद्देश्य**—विश्व से रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करने अथवा विश्वव्यापिनी त्रिकालवर्तिनी अनुभूति में लीन करने में साहित्य एवं जीवन के ऊँचे से ऊँचे उद्देश्य आ जाते हैं। इतना व्यापक काव्योद्देश्य हिन्दी-समीक्षा में पहली बार उन्हीं के द्वारा निरूपित हुआ। उनके द्वारा वर्ण्य तथा रस के आधार पर किया हुआ काव्य का वर्गीकरण

अपने ढंग का नवीन प्रकार का काव्य-वर्गीकरण है जो भारतीय समीक्षा में कहीं नहीं मिलता।

शुक्ल जी ने काव्य के सभी वादों तथा तत्त्वों को रस की कसौटी पर कस कर देखा है। जो खरे उतरे हैं, उनको उन्होंने देशी और विदेशी के भेदभाव से निराशक्त होकर ग्रहण किया है। आवश्यकतानुसार इनका संस्कार भी किया है। इस प्रकार उन्होंने अपनी रस-कसौटी द्वारा हिन्दी-समीक्षा को तत्त्वाभिनिवेशी, सारग्राहिणी तथा सामंजस्यपूर्ण दृष्टि प्रदान की है।

शुक्ल जी ने काव्य की महत्ता, आवश्यकता तथा कार्य का निरूपण जितने उच्च स्तर तथा उदात्त दृष्टि से किया है, उतनी उदात्तता किसी दूसरे हिन्दी-समीक्षक में नहीं मिलती। उन्होंने काव्य का सम्बन्ध संस्कृत-प्रवृत्तियों तथा निवृत्तियों से स्थापित कर उसमें नीति तथा लोकमंगल की जैसी प्रतिष्ठा की है, वैसी प्रतिष्ठा हिन्दी का कोई समीक्षक नहीं कर सका। किन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि उन्होंने काव्य में कलात्मक ढंग की नीति-प्रतिष्ठा का समर्थन किया है, उपदेशात्मक ढंग की नीति-प्रतिष्ठा का नहीं।

कवि के व्यक्तित्व तथा उसकी परिवृत्ति पर विचार करने वाले शुक्ल जी हिन्दी में पहले आलोचक हैं। यह दूसरी बात है कि उनके व्यक्तित्व-विवेचन में मनोवैज्ञानिक सूक्ष्म तत्त्वों का निदर्शन बहुत गम्भीर कोटि का नहीं है। उनके द्वारा निरूपित काव्याधिकारी अथवा सहृदय का लक्षण बहुत ही मनोवैज्ञानिक ढंग का है। ऐसा मनोवैज्ञानिक निरूपण अन्यत्र पूर्ववर्ती हिन्दी-समीक्षा में नहीं मिलता।

जिस प्रकार आचार्यत्व की अभिव्यक्ति पुराने सिद्धान्तों में नवीन सामग्री की उद्भावना, युगानुरूप उसकी नवीन व्याख्या तथा नवीन महत्त्व-प्रतिपादन से होती है, उसी प्रकार और उसी मात्रा में उसकी अभिव्यक्ति उसकी त्रुटियों के दूरीकरण के प्रयत्न में होती है। इस दृष्टि से शुक्ल जी ने प्राचीन रस-विवेचन-सम्बन्धी त्रुटियों के दूरीकरण के प्रयत्न में अपने आचार्यत्व की सच्ची अभिव्यक्ति की है। इसका प्रमाण रस-विवेचन-सम्बन्धी त्रुटियों के दूरीकरण के उनके प्रयत्न द्वारा दिया जायगा।

भरत मुनि की रस-परिभाषा का अभाव बतलाते हुए शुक्ल जी ने यह कहा कि वह दृश्य काव्य के लिए ही अधिक उपयुक्त है और उस अभाव को उन्होंने अपनी मौलिक परिभाषा द्वारा दूर करने का प्रयत्न किया। आचार्यों द्वारा निरूपित स्थायीभाव के प्राचीन लक्षण में अतिव्याप्ति दोष दिखाकर शुक्ल जी ने उसे दूर करने का उपाय बताया। प्राचीन आचार्यों के ग्रन्थों में भावों-विभावों का विवेचन प्रायः यंत्रगतिक ढंग का था, उनके विभिन्न निर्माणकारी तत्त्वों का स्पष्ट रूप से पृथक्करण नहीं हुआ था, संचारियों का तो प्रायः नाम गिना दिया जाता था, पर शुक्ल जी ने अपने मनोविकार-सम्बन्धी निबन्धों द्वारा इस अभाव को दूर किया।

शृंगार रस के विवेचन में शृंगार का मूल संस्थापक भाव रति या प्रीति न मानकर शुक्ल जी ने राग माना है। इसी प्रकार रौद्र का स्थायीभाव क्रोध न मानकर वे वैर बताते हैं। अनुभाव के प्राचीनतर भेदों को शुक्ल जी अनावश्यक समझ कर उसे शारीरिक ही मानना अधिक उचित समझते हैं। प्राचीन आचार्यों ने उत्साह का आलम्बन विजेयत्व माना था, शुक्ल जी उत्साह का जीवनव्यापी स्वरूप दिखाकर उसका आलम्बन विकट कर्म मानते हैं। संस्कृत के प्राचीन आचार्यों तथा हिन्दी के एकाध को छोड़ कर प्रायः सभी आचार्यों ने प्रकृति-वर्णन को केवल उद्दीपन के भीतर ही रखा था, शुक्ल जी इस मत को भी त्रुटिपूर्ण समझते हुए विशुद्ध प्रकृति-वर्णन को आलम्बन के भीतर रखने का आदेश देते हैं। वे वात्सल्य, भक्ति आदि को अलग रस मानने वाले आचार्यों का खण्डन करते हुए उनको शृंगार रस के भीतर रखना ही अधिक उपयुक्त समझते हैं। आचार्य-प्रेम पितृ-प्रेम, मित्र-प्रेम आदि के वर्णन से उत्पन्न अनुभूति को आचार्यों ने भाव-कोटि का ही माना था, किन्तु शुक्ल जी ने इस मत को अनुपयुक्त समझते हुए उन्हें

अपने तुलसीदास के विवेचन में तत्सम्बन्धी प्रसंगों में रस-कोटि के भीतर रखा है। प्राचीन आचार्यों के रस-प्रक्रिया-विवेचन में दार्शनिक रंग अधिक चढ़ गया है, इसलिए उनके रस-विवेचन में रस का स्वरूप कभी-कभी मनोमय कोश के बाहर चला जाता है। शुक्ल जी ने रस-प्रक्रिया को मनोमय कोश के भीतर की वस्तु समझते हुए उसका मनोवैज्ञानिक ढंग से विवेचन किया है। रस के आध्यात्मिक स्वरूप को सामाजिक जीवन के लिए अनुपयुक्त समझने के कारण उन्होंने उसके लौकिक स्वरूप का ही सदैव समर्थन किया है। रस-विशेष की अभिव्यंजना कितनी शक्तिपूर्ण अथवा निःशक्त प्रणाली से हुई है, किसी रस की सामाजिक भूमि क्या है, वह किन परिस्थितियों की प्रतिक्रिया है और वह सामाजिक जीवन पर क्या असर डालेगा आदि बातों को जानने की सामग्री हिन्दी के लक्षण-ग्रंथों में नहीं मिलती थी। इस अभाव को शुक्ल जी ने रस के मनोवैज्ञानिक तथा सामाजिक विवेचन द्वारा एवं अपनी व्यावहारिक समीक्षाओं में भाव-व्यंजना के विश्लेषण द्वारा दूर करने का प्रयत्न किया। रस-विवेचन में लोकोत्तर, अलौकिक, ब्रह्मानन्द सहोदर आदि शब्द प्राणरहित हो रहे थे, शुक्ल जी ने इनमें युगानुसार नया अर्थ—लोकहृदय में लीन होने की दशा, चेतना-विस्तार, सत्त्वोद्रेक, सामाजिकता, व्यक्तित्व का परिहार, आदि भरकर उन्हें नयी सजीवता प्रदान की।

रस-सिद्धान्त की त्रुटियों के निराकरण के उपर्युक्त प्रयत्नों से यह विदित होता हैं कि शुक्ल जी उसे भारतीय साहित्यशास्त्र का सर्वोपरि सिद्धान्त मानते हुए भी उसे परम्परा से आगे ले जाना चाहते थे, उसमें युग के अनुसार संस्कार तथा परिष्कार आवश्यक समझते थे। मनोविज्ञान, समाजशास्त्र, नीतिशास्त्र आदि की सहायता से उसका खूब प्रसार करना चाहते थे। इससे विदित होता है कि वे प्राचीन आचार्यों के सिद्धान्तों में आस्था रखते हुए भी उनमें युग के अनुसार संस्कार, परिष्कार तथा प्रसार आवश्यक समझते थे। वे एकदम नवीन सिद्धान्तों को भी उदारता की दृष्टि से देखते थे। यदि उनमें कुछ सत्य की मात्रा रहती थी, उनमें जीवन की मंगल-साधना में योग देने की कोई तात्त्विक वस्तु उन्हें मिलती थी तो उसका सामंजस्य अपनी साहित्य-धारणा में करने के लिए वे सदैव तैयार रहते थे। इस प्रकार के विचारों से शुक्ल जी ने हिन्दी-समीक्षा को परम्परा से आगे बढ़ने के लिए विकासवादी दृष्टि प्रदान की है।

शुक्ल जी की काव्य-दर्शन-सम्बन्धी उपर्युक्त नवीनताओं तथा मौलिक विचारों से स्पष्ट है कि उनके सैद्धान्तिक काव्य-दर्शन का आधार भारतीय काव्य-दर्शन है जो बहुत ही व्यापक कोटि का है, जिसमें शाश्वत तत्त्वों का आधिक्य है, किन्तु साथ ही उसमें युग को व्यापक साहित्य-दर्शन प्रदान करने के आधारभूत तत्त्व भी वर्तमान हैं। इसलिए इनका साहित्य-दर्शन केवल समीक्षा के शाश्वत तत्त्वों का निर्माता ही नहीं, इनकी वैयक्तिक मान्यता का परिचायक ही नहीं, वरन् अपने युग की आवश्यकता, आशा, आकांक्षा का प्रतिनिधित्व करने में भी समर्थ है। कहने की आवश्यकता नहीं कि शुक्ल जी के काव्य-दर्शन की नवीनता भी उनके आचार्यत्व की श्रेष्ठता को प्रमाणित करने में पूर्ण समर्थ है।

अमरकोश में मंत्र-व्याख्याता को भी आचार्य कहा गया है। हिन्दी-समीक्षा में शुक्ल जी के लिए इस अर्थ का प्रयोग करने पर 'आचार्य' शब्द का अर्थ हुआ जिसमें साहित्य के कठिन एवं सूक्ष्म तत्त्वों के विश्लेषण की असाधारण क्षमता हो। 'आचार्य' शब्द की इस अर्थ-दृष्टि से भी शुक्ल जी में अद्वितीय कोटि का आचार्यत्व दिखाई पड़ता है क्योंकि उन्होंने अपने निबन्धों में मनोविकारों तथा भावों एवं रसों का जैसा सूक्ष्म विवेचन कर दिया है, कविता का जैसा तत्त्वाभिनिवेशी निरूपण प्रस्तुत कर दिया है, इतिहास में प्राचीन तथा नवीन कवियों का जैसा मार्मिक विश्लेषण प्रस्तुत कर दिया है, साहित्य की विभिन्न शाखाओं तथा स्वरूपों का जैसा तलस्पर्शी

स्वरूप निश्चित कर दिया है, उपन्यास, कहानी, नाटक आदि का जैसा वर्गीकरण कर दिया है, प्रत्येक युग की साहित्यिक धाराओं, प्रवृत्तियों तथा आधुनिक युग की समस्याओं का जैसा निरूपण उपस्थित कर दिया है, अपने इन्दौर के अभिभाषण में पश्चिम के विभिन्न वादों का जैसा तार्किक खण्डन कर दिया है तथा अपनी व्यावहारिक समीक्षा-कृतियों में तीन प्रसिद्ध कवियों—जायसी, सूर तथा तुलसी का जैसा मार्मिक विवेचन प्रस्तुत कर दिया है, वैसा अन्यत्र नहीं मिलता।

शतपथ ब्राह्मण के 'आचार्य वचसा' से प्रमाणित होता है कि आचार्य होने का अधिकारी वही है जिसकी वाणी उसके युग में तथा उसके दिवंगत होने के बाद आप्तवचन-सदृश गृहीत हो। इस कसौटी पर शुक्ल जी का आचार्यत्व हिन्दी-समीक्षा में क्लासिकल कोटि का सिद्ध होता है क्योंकि आधुनिक हिन्दी के लब्धप्रतिष्ठ प्राय: सभी समीक्षक शुक्ल जी के समीक्षादर्श पर चल रहे हैं, अपने मतों की प्रामाणिकता में वे आज शुक्ल जी को ही सर्वाधिक मात्रा में उद्धृत कर रहे हैं। उनकी समीक्षा आधुनिक समीक्षकों तथा साहित्यकारों के लिए अजस्र प्रेरणा-स्रोत सिद्ध हो रही है तथा उनकी इतिहास-लेखन-प्रणाली ही अद्यावधि इतिहास-लेखन की आदर्श तथा प्रामाणिक प्रणाली के रूप में हिन्दी-साहित्य के अन्य इतिहास-ग्रन्थों में कायम है। शुक्ल जी की समीक्षा-शैली के अनुकरण के फलस्वरूप सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक दोनों प्रकार की समीक्षाओं में हिन्दी-समीक्षक साहित्य-मीमांसा के साथ-साथ जीवन-मीमांसा को लेकर चलने लगे हैं। उनके साहित्यगत जीवन-मूल्यों के प्रभाव के फलस्वरूप हिन्दी-आलोचना में क्रमश: जीवन तथा साहित्य में घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित होता जा रहा है, समीक्षा में सामाजिक सम्पर्क का आह्वान प्रबल-तर रूप में किया जा रहा है, कला तथा साहित्य की समीक्षा में जीवन की उपयोगिता को स्थायी स्थान प्राप्त हो रहा है।

साहित्य में रस तथा उसके जीवन-तत्त्व में लोक-मंगल तथा लोक-मर्यादा का शुक्ल जी ने साहित्यिक मानों के रूप में सर्वाधिक उपयोग किया है। उनके सभी मानों में सभी परवर्ती समीक्षकों की उनकी जैसी आस्था नहीं रही, किन्तु उनके साहित्यिक मानों ने परवर्ती आलोचकों में युगानुसार नवीन सामाजिक मानों को खोजने की प्रेरणा उत्पन्न कर दी है। जीवन में सदा-चार की प्रेरणा देने वाले, लोक-मंगल की स्थापना में योग देने वाले, राष्ट्रीय समस्याओं तथा प्रश्नों के सुलझाव में सहायता पहुँचाने वाले साहित्य की उत्कृष्टता आज सभी लब्धप्रतिष्ठ आलोचकों को मान्य है। यह शुक्ल जी की मूल्यवादी समीक्षा का प्रभाव है। उनकी वैधानिक आलोचना को तो बहुत से परवर्ती आलोचकों ने बहुत अधिक अपनाया है। हाँ, शुक्ल जी जैसी मौलिकता, गम्भीरता, उदारता तथा व्यापकता का उनमें अभाव है। उक्त विवेचन का तात्पर्य यह है कि शुक्ल जी ने अपने रस-सिद्धान्त में लोक-धर्म के आधार पर लोकवादी मूल्यों की प्रतिष्ठा करने वाली जिस समीक्षा की उद्भावना की, उसमें भारतीय समीक्षक के वर्तमान तथा भविष्य की प्रगति का अक्षय निधि वर्तमान है। हिन्दी-समीक्षा की वह स्थायी सम्पत्ति है, मौलिक निधि है। इसी कारण उसका आश्रय लेकर आज भी हिन्दी-समीक्षा आगे बढ़ रही है। उक्त विवेचित तथ्यों से यह प्रमाणित होता है कि शुक्ल जी हिन्दी-समीक्षा के एक अपराजेय आचार्य हैं।

**संदर्भ-संकेत**

१. आचार्य ( आ+चर्+ण्यत ) जिसका आचरण अनुकरणीय हो—आचारात् ग्राह्यति आचारमिति आचार्य:। २. 'कविता क्या है'—चिन्तामणि।

एल० आई० सी० कालोनी,
टैगोर टाउन,
इलाहाबाद

# आचार्य शुक्ल का रस-चिन्तन

●

डॉ० रमाशंकर तिवारी

( क )

**शास्त्र-स्वतंत्र चिंतन-दृष्टि** : आधुनिक हिन्दी साहित्यालोचन में 'आचार्यत्वेन' रस पर विचार करने वाले सबसे पहले व्यक्ति हैं पं० रामचन्द्र शुक्ल। किन्तु, उन्होंने प्राक्तन आचार्यों की तरह भरत-सूत्र, "विभानुभाव व्यभिचारी-संयोगाद्-रस निष्पित्तिः" की कोई शास्त्रीय व्याख्या नहीं की है। साथ ही, उनके रस-चिन्तन में किसी स्पष्ट दार्शनिक अनुरोध की प्रेरणा भी लक्षित नहीं होती। व्यावहारिक रसमर्मज्ञता की भूमि पर उन्होंने काव्य तथा रस पर विमर्श किया है। उनके प्रतिपादनों में स्वतंत्र रीति तथा स्वतंत्र भाषा का व्यवहार हुआ है और उनके प्रयोग, इसी कारण, 'क्लैसिक' सौरभ से परिपूर्ण हो गये हैं।

इस संदर्भ में उल्लेखनीय है कि आचार्य शुक्ल ने रस पर, रस को स्वतंत्र विषय बनाकर, विचार नहीं किया है। जैसा 'रस-मीमांसा' के सम्पादक विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने अपनी 'प्रस्तावना' में कहा है, "काव्य-मीमांसा" विषय पर किसी ग्रन्थ की रचना शुक्ल जी का अभीष्ट था। अतएव काव्य की अन्तःप्रकृति तथा बहिरंग स्वरूप पर गहन विचार की प्रक्रिया में, स्वभावतः उन्होंने रसविमर्श किया क्योंकि भारतीय परम्परा रसवाद से घनिष्ठतया जुड़ी हुई थी। 'ध्वनि-वाद' से उन्हें चिढ़ थी और वे रस को ही कविता की "साध्य वस्तु" मानते थे। अस्तु, आचार्य शुक्ल के रस-चिन्तन में नवीनता है और उनकी 'अप्रोच' परम्परा से कटी हुई होने पर भी, आचार्य-सुलभ गंभीरता से मंडित है। प्रस्तुत अध्ययन में उनके इतस्ततः बिखरे तथा छितराये, और कहीं-कहीं व्यवस्थित कथनों एवम् निरूपणों के आधार पर, विभिन्न शीर्षकों के अन्तर्गत, उनकी रस-विषयक मान्यताओं तथा धारणाओं का प्रतिपादन किया गया है।

( ख )

**रसानुभूति और रसावयव** : आचार्य शुक्ल रसानुभूति के लिए विभावानुभाव इत्यादि रसावयवों का संश्लिष्ट वर्णन आवश्यक नहीं मानते। वे आलंबन-मात्र के "विशद वर्णन" को श्रोता या पाठक में रसानुभाव (भावानुभव सही) उत्पन्न करने में "पूर्ण समर्थ" समझते हैं। इस संबंध में अनुभावों की योजना अपरिहार्यतः अपेक्षित नहीं होती। 'नख-शिख' तथा 'नायिका-भेद' के वर्णनों में आलंबन के चित्रण का ही प्राधान्य होता है और उनमें रसिक लोग बराबर आनंद प्राप्त करते देखे जाते हैं। प्राकृतिक दृश्यों के वर्णन-मात्र में भी काव्यत्व उपलब्ध होता है।[1] यदि कवि ने "ऐसी वस्तुओं और व्यापारों" का सजीव चित्र उपस्थित कर दिया, तो उससे भी सहृदय को भावानुभूति होती है। अतएव 'आश्रय' की योजना के अभाव में भी रस अथवा भाव का अनुभव होता है। "रस की योजना-मात्र से रस का सम्पादन नहीं होता।"[2]

"विभाव-पक्ष" को आचार्य शुक्ल कविता में "प्रधान स्थान" देते हैं। लेकिन, इस विषय में उनकी स्थिति उदारतापूर्ण है। लक्षण-ग्रन्थों में गिनाये हुए भिन्न-भिन्न रसों के आलंबन मात्र को ही वे विभाव नहीं मानते। जिन वस्तुओं, व्यापारों या प्रसंगों से

हमारे हृदय में किसी भाव का संचार होता हो, उनका वर्णन "आलंबन का ही वर्णन" माना जायेगा। अर्थात्, भावोद्रेक कराने वाला प्रत्येक "अर्थ" काव्य में (आलंबन) बन जाता है। "विभाव-प्रधान कविता" में, जहाँ आलंबन का "विस्तृत रमणीय" चित्रण रहता है, संवेदना पाठक के ऊपर छोड़ दी जाती है।[३] कहने का तात्पर्य यह है कि आलंबन के रमणीय वर्णन से सहृदय पाठक को स्वत.संबद्ध या अन्तर्निहित भाव की प्रतीति हो जाती है। इसी प्रकार जहाँ भाव का चित्रण प्रधान बन गया होता है, अर्थात्, "संवेदना की विवृति" ही रहती है, वहाँ "आलंबन का आक्षेप" पाठक स्वयं कर लेता है।[४] तथापि, शुक्ल जी की निजी वरीयता कवि द्वारा "अपनी अनुभूति या संवेदना का लंबा-चौड़ा ब्यौरा" प्रस्तुत करने के पक्ष में नहीं है, प्रत्युत वे यह मानते हैं कि उस अनुभूति या संवेदना को उत्पन्न करने वाली वस्तुओं अथवा तथ्यों को पाठक की कल्पना में पहुँचा देना कवि के लिए अधिक आवश्यक है, क्यों कि सहृदय या भावुक पाठक 'अपनी अनुभूति का पक्ष बहुत कुछ आप से आप निकाल लेते हैं।"[५] यह कथन पूर्णतः यथार्थ है।

**रसात्मक प्रतीति के प्रकार :** आचार्य शुक्ल रसात्मक प्रतीति के मूलतः दो रूप मानते हैं। पहला रूप है व्यंजित भाव की अनुभूति में लीन न होते हुए भी, उसकी "व्यंजना की स्वाभाविकता और उत्कर्ष का हृदय से अनुमोदन करना।" इस प्रकार की प्रतीति में "पूर्ण रस की अनुभूति" होती है और उसके लिए स्थायीभावों की व्यंजना ही उपादेय होती है क्योंकि इन्हीं के चित्रण में मग्न होकर "हमारी भाव-सत्ता का सामान्य भाव-सत्ता" में विलय हो जाता है। वही रस की "पुनीत" भूमि है। किन्तु मुक्तक कविताओं में किसी भाव की "क्षणिक दशा" का रमणीय वर्णन होता है। वहाँ हम व्यंजना के स्वाभाविक उत्कर्ष से चमत्कृत हो जाते हैं, उस भाव में तल्लीन भले न हों। ऐसी अवस्था "रसात्मक प्रतीति" का दूसरा प्रकार है। इसमें उस प्रतीति की "मध्यम" अवस्था प्रसक्त होती है।[६]

**स्थिति का उलझाव :** आचार्य शुक्ल ने इस संदर्भ में अपनी स्थिति को उलझा दिया है। 'साधारणीकरण' के संदर्भ में उन्होंने कहा है कि वे रस की "उत्तम कोटि" अथवा पूर्ण रस की दशा वहाँ मानते हैं जहाँ सहृदय का आश्रय के साथ तादात्म्य स्थापित हो जाता है, अर्थात् आश्रय द्वारा अभिव्यक्त भाव की अनुभूति में वह भी निमग्न हो जाता है। 'मध्यम कोटि" वे ऐसे प्रसंगों में मानते हैं जहाँ पात्र या आश्रय द्वारा व्यंजित भाव में पाठक का हृदय 'योग न देकर' उस पात्र के प्रति ही किसी अन्य भाव का अनुभव करने लगता है।

अब इस अवस्था के परिप्रेक्ष्य में जब हम उपर्युक्त "मध्यम" प्रकार वाली "रसात्मक प्रतीति" पर विचार करते हैं, तब स्थिति निश्चित उलझ जाती है। मुक्तकों से उपलभ्य रस-प्रतीति और आश्रय के साथ तादात्म्य-स्थापन के अभाव में ("शील-द्रष्टा" के रूप में) प्राप्त होने वाली भावानुभूति या रसानुभूति प्रत्यक्षतः भिन्न-भिन्न स्थितियाँ हैं। किन्तु, दोनों को "मध्यम" दशा वाली रसानुभूति मानना स्पष्ट ही असंगतिपूर्ण है। यहाँ यह स्मरण करना आवश्यक है कि मुक्तकों से उपलब्ध रस-प्रतीति में सहृदय का मन भले ही किसी भाव में लीन या निमग्न नहीं हो, इतना तो निश्चित है कि वहाँ किसी ऐसे अन्य भाव का उदय नहीं होता जो "व्यंजना की स्वाभाविकता और उत्कर्ष" का अनुमोदन न करे। अतएव, आश्रय के साथ तादात्म्य-स्थापन के अभाव से संलग्न भाव-दशा (या रस-दशा) मुक्तकों वाली रस-प्रतीति से निश्चित ही भिन्न है। आचार्य शुक्ल ने पहली स्थिति को पुनः 'काव्य में अभिव्यंजनावाद' वाले निबन्ध में निरूपित किया है। प्रकृति के "वैचित्र्य-प्रदर्शन की दृष्टि" से प्रणीत पाश्चात्य नाटकों में यही "मध्यम कोटि" की रसानुभूति होती है—ऐसा वे मानते हैं।[७]

आचार्य शुक्ल की उदारता सर्वग्राह्य बन गयी है जब वे "चमत्कारवादियों के कुतूहल" को भी काव्यानुभूति के अन्तर्गत ग्रहण करते और उसे रसानुभूति की "निकृष्ट" दशा स्वीकार करते हैं। इस प्रकार, रसानुभूति की तीन दशाएँ उन्हें मान्य हैं : उत्तम, मध्यम और निकृष्ट।[७] रस-दशाओं का ऐसा विभाजन प्रत्यक्षतः भारतीय आचार्य-परम्परा की मान्यता के विरोध में पड़ता है।

तथापि, रस की इन कोटियों की स्थापना से आचार्य शुक्ल ने रस-क्षेत्र का विस्तार किया है और काव्यानुरागियों के एक बहुत बड़े समुदाय की काव्यानुभूति को रसानुभूति की परिधि में समेट लिया है। पूर्ण रस-दशा के अतिरिक्त जिसे वे 'उत्तम कोटि' मानते हैं, पाठकों की ऐसी भी मनःस्थितियाँ होती हैं जिनमें वे किसी न किसी भाव की अनुभूति करते हैं।

**रसानुभूति के अ-लौकिकत्व का अपलाप :** रस अथवा सौन्दर्यानुभूति को प्रायः पूर्व या पश्चिम में अलौकिक माना गया है। आचार्य शुक्ल एक सीमित अर्थ में रस को 'लोकोत्तर समझते हैं, किन्तु वह लोकोत्तरत्व इस लोक से विच्छिन्न "कोई स्वर्गीय विभूति" नहीं है। प्रमाता जब अपनी विशेष सत्ता की भावना से मुक्त होकर, विशुद्ध हृदय से काव्य-वस्तु को ग्रहण करता है, तब उसका वही ग्रहण उसकी अनुभूति को अलौकिक बना देता है। उसे ही कोई यदि "ब्रह्मानन्द-सहोदर" की अभिधा प्रदान करना चाहे तो शुक्लजी को कोई आपत्ति नहीं होगी। वे स्पष्ट कहते हैं कि "रसानुभूति प्रत्यक्ष या वास्तविक अनुभूति से सर्वथा पृथक् कोई अन्तर्वृत्ति नहीं है, बल्कि उसी का एक उदात्त और अवदात स्वरूप है।"[८] स्पष्ट ही, रसानुभूति की उदात्तता एवं अवदातता (सुन्दरता, स्वच्छता) से आचार्य शुक्ल का अभिप्राय है—उसका व्यक्तिगत संबंधों से सर्वथा निर्मुक्त होना। नितान्त लौकिक अनुभवों में निःसंगता अथवा ताटस्थ्य की स्थिति नहीं होती और इसी कारण, "हृदय की मुक्तावस्था" भी उपपन्न नहीं होती। अतः अन्तिम विश्लेषण में, प्रमाता की मुक्त-हृदयता ही, जब वह विशुद्ध अनुभूति-मात्र रह जाता है, रसानुभूति को अलौकिकता के तत्त्व से समंजित कर देती है।

**रसानुभूति का स्वरूप**—आचार्य शुक्ल ने कहीं रसानुभाव के तात्त्विक स्वरूप का प्रत्यक्ष परिभाषण नहीं किया है। उन्होंने 'सौन्दर्य' के विषय में एक जगह अवश्य संक्षिप्त चर्चा की है। अधुना 'रस' और 'सौन्दर्य' का समीकरण प्रायः सर्वसम्मति से स्वीकार किया गया है। अतः सौन्दर्य के विषय में शुक्लजी जो कथन करते हैं, उसे इस विषय में घटाया जा सकता है।

आचार्य शुक्ल का कथन है कि 'सौन्दर्य बाहर की कोई वस्तु नहीं है, मन के भीतर की वस्तु है।" इस कथन की स्पष्ट व्यंजना यह है कि सौन्दर्य-भावना 'वासनात्मतया" मनुष्य में अवस्थित है, कोई बाहर से आरोपित वस्तु नहीं है। शुक्लजी ने "रस-परिपाक" के संदर्भ में वंशानुगत वासना की दीर्घ-परम्परा का उल्लेख किया है।[९] जब वे 'सौन्दर्य' को मन के भीतर की वस्तु बताते हैं, तब उनका अभिप्राय इसी वासनाजन्य संस्कार-परम्परा से है। उनका कथन है कि सुन्दर वस्तुओं का साक्षात्कार "हमारी सत्ता" पर ऐसा अधिकार कर लेता है कि "हम उन वस्तुओं की भावना के रूप में परिणत हो जाते हैं।"[१०] उनके मतानुसार "हमारी अन्तस्सत्ता की यही तदाकार-परिणति सौन्दर्य की अनुभूति है।"[११] सौन्दर्यानुभूति का यह स्वरूप रसानुभूति का भी स्वरूप समझा जा सकता है।

रस-दशा में, प्रस्तुत निरूपणानुसार, रति, क्रोध, शोक प्रभृति स्थायिभाव प्रमाता के अन्तश्चैतन्य को अपने निजी आकार में परिणत कर लेते हैं। अन्य शब्दों में, उसकी अन्तस्सत्ता इन भावों की अनुभूति में इतनी घुल-मिल जाती है कि वह रतिमय, क्रोधमय इत्यादि स्थिति को उपलब्ध कर लेती है। यही उसकी "तदाकार परिणति" है। यही रसानुभूति का स्वरूप है।

इस प्रसंग में हम दुहराना चाहेंगे कि आचार्य शुक्ल के निरूपणों में कोई दार्शनिक "ओवर-टोन" वर्तमान नहीं है। लेकिन गहराई से विचार करने पर ज्ञात होता है कि दार्शनिक भंगिमा को "माइनस" कर देने पर भी, वे उसी भूमि पर मूलतः अवस्थित प्रतीत होते हैं जहाँ अभिनवगुप्त अथवा पंडितराज जगन्नाथ हैं। अभिनवादि के अनुसार, अज्ञान-रूप आवरण से मुक्त, शुद्ध चैतन्य का विषयीभूत रत्यादि स्थायिभाव ही रस है—"इत्थं च अभिनवगुप्त-मम्मटादि-ग्रंथ-स्वारस्येन भग्नावरण-चिद्-विशिष्टो रत्यादिः स्थायी भावो रस इति स्थितम्।" पंडितराज ने अपनी ओर से इस मान्यता में तनिक संशोधन कर, यह स्थापना की है कि रति आदि अस्थायी भावों से अवच्छिन्न (घिरा हुआ) अज्ञानावरण से मुक्त चैतन्य ही रस है—"रत्याद्यवच्छिन्ना-वरणाचिदेव रसः।"[१२]

अज्ञानावरण से मुक्त जिस "चित्" (चैतन्य) की बात उपर्युक्त उद्धरणों में कही गयी है, उसे ही आचार्य शुक्ल ने "हृदय की मुक्तावस्था" बताया है। पुनः उनकी अन्तस्सत्ता की "तदाकार-परिणति" वही है जिसे जगन्नाथ ने "रत्याद्यवच्छिन्ना भग्नावरण चिद्" कहा है।

**तदाकार-परिणति** : "तदाकार-परिणति" पद के प्रयोग से योगशास्त्र अथवा अद्वैत-वेदान्त के वृत्ति-निरूपण का स्मरण हो जाता है। योगशास्त्र में चित्तवृत्तियों के निरूपण में 'प्रत्यक्ष', 'अनुमान' तथा 'शब्द' इन तीन 'प्रमाणों' का प्रतिपादन हुआ है। इन्द्रिय-रूपी नालिका के द्वारा चित्त बाहर जाकर वस्तुओं के साथ 'उपराग' (निकटस्थ वस्तु के प्रभाव से रंग-रूप बदलना) को प्राप्त कर विषयाकार हो जाता है। वस्तु के आकार को प्राप्त जो चित्तवृत्ति होती है, वही "प्रत्यक्ष" प्रमाण कहलाती है। वस्तु के आकार को प्राप्त चित्तवृत्ति में "मैं घट को जानता हूँ"—इस प्रकार, घट का साक्षात्कार होता है। यही "पौरुषेय" चित्तवृत्ति 'बोध' अथवा 'ज्ञान' है। (डॉ० उमेश मिश्र : 'भारतीय दर्शन')

अद्वैत-दर्शन में भी 'वृत्ति' का निरूपण हुआ है। वहाँ अन्तःकरण के परिणाम-विशेष को 'वृत्ति' कहा गया है। 'वृत्ति' के मूलतः दो भेद किये गये हैं : पहली बाह्य विषयों से संबंधित वृत्ति और दूसरी ब्रह्मानुभूति से संबंधित अन्तःकरण की अखण्डाकार आकार वाली चित्तवृत्ति। 'वेदान्त-परिभाषा' के रचयिता धर्मराजाध्वरीन्द्र के अनुसार, जिस प्रकार तालाब का जल किसी एक छिद्र से निकलकर, कुल्या का रूप ग्रहण करता हुआ, खेत के चारों ओर क्यारियों में प्रविष्ट होता और उन क्यारियों की तरह त्रिकोण, चतुष्कोण आदि आकारों को प्राप्त करता है, उसी प्रकार तेजस होने के कारण, अतिशीघ्रगामी अन्तःकरण भी नेत्रादि ज्ञानेन्द्रिय के द्वारा निकलकर घट-घटादि विषय-देश को प्राप्त होता हुआ घट-घटादि विषयों के आकार-रूप में परिणमित हो जाता है। वही 'वृत्ति' है।

तात्पर्य यह है कि योगशास्त्र और अद्वैत-दर्शन में बोध या ज्ञान का स्वरूप अन्तःकरण से संबद्ध विषय या वस्तु के आकार-रूप में परिवर्तित हो जाता है। 'मानस' में गोस्वामी तुलसीदास ने 'ज्ञान-सिद्धान्त' का निरूपण करते हुए, "सोऽहमस्ति इति वृति अखण्डा" कथन किया है जो शब्दानुविद्ध समाधि में स्थित होने के फलस्वरूप उत्पन्न आत्मानुभव के "अपरोक्ष" प्रकाश का व्यंजक है। "वह मैं हूँ", अर्थात् 'अहं ब्रह्मास्मि' (मैं ब्रह्म हूँ)—इस प्रकार की अखण्डाकार आकार वाली चित्तवृत्ति को आत्मानुभूति अथवा ब्रह्मानुभूति का स्वरूप बताया गया है। (डॉ० उमेश मिश्र, 'भारतीय दर्शन', १९५७, पृष्ठ ३६८)

उपर्युक्त उद्धरणों के आलोक में, आचार्य शुक्ल का यह कथन कि हमारी "अन्तस्सत्ता की यही तदाकार-परिणति सौन्दर्य की अनुभूति है", अद्वैत-वेदान्त के परोक्ष प्रभाव का व्यंजक माना जा सकता है। 'मानस' के प्रति उनकी श्रद्धामिश्रित निष्ठा प्रत्यक्ष ही है। "सोऽहमहिम × ×" वाला कथन जिसमें अन्तःकरण की अखण्डाकाराकारित 'वृत्ति' का स्पष्ट ध्वनन है, हमारे इस

अनुमान का परिपोषण करता है कि सौन्दर्यानुभूति को अन्तस्सत्ता की तदाकार-परिणति बताने में योगशास्त्र अथवा अद्वैत-दर्शन की उपपत्तियों का परोक्ष या प्रत्यक्ष प्रभाव प्रत्यभिज्ञेय है। रसानुभूति अथवा सौन्दर्यानुभूति का इन शब्दों में परिभाषण संस्कृति-आलोचना में कहीं नहीं मिलता।

**रस की अखण्डता का अपलाप** : आचार्य शुक्ल सौन्दर्य की श्रेणियाँ मानते हैं। "जिस वस्तु के प्रत्यक्ष ज्ञान या भावना से तदाकार-परिणति जितनी ही होगी, उतनी ही वह वस्तु हमारे लिए सुन्दर कही जायगी।" शुक्लजी के इस कथन से साफ झलकता है कि तदाकार-परिणति के अनुपात में वस्तु का सौन्दर्य न्यून अथवा अधिक हो सकता है। अन्य शब्दों में, "रस-मग्नता" की 'डिग्रियाँ' हो सकती हैं, उसमें तर-तम का अनुपात रह सकता है। शुक्लजी, जैसा हमने अभी दिखाया है, रस की "मध्यम कोटि" और "निकृष्ट कोटि" भी मानते हैं। अतएव, उनके समीप सौन्दर्य अथवा रस की अनुभूति अखण्ड, अविभाज्य वस्तु नहीं है जैसा प्राक्तन आचार्यों ने माना है। "हृदय की मुक्तावस्था" रस-दशा है, लेकिन तदाकार-परिणति के परिमाण-भेद से साफ ध्वनित होता है कि वह हृदय-मुक्ति पार्यन्तिक नहीं है, सापेक्ष है। इस प्रकार, रस की अखण्ड सत्ता नहीं है। शुक्ल जी ने इस अखण्डता का अपहास ही किया है। "डॉ॰ मैकेल साहब ने फरमाया, काव्य एक अखण्ड तत्त्व या शक्ति है जिसकी गति अमर है।"[१३] निदान, यह मानने में कोई आपत्ति नहीं होगी कि शुक्लजी अपनी व्यावहारिक रस-दृष्टि में रस की अखण्डता का अपलाप करते हैं। यहाँ वे पुरानी शास्त्रीय परम्परा के विरुद्ध पड़ते हैं।

**रसानुभूति का लक्षण** : आचार्य शुक्ल ने रसानुभूति के दो लक्षण ठहराये हैं—

(१) "अनुभूति-काल में (प्रमाता के) अपने व्यक्तित्व के संबन्ध की भावना का परिहार और (२) किसी भाव के आलंबन का सहृदय-मात्र के साथ साधारणीकरण, अर्थात् उस आलंबन के प्रति सारे सहृदयों के हृदय में उसी भाव का उदय।"[१४]

प्रस्तुत प्रतिपादन त्रुटिपूर्ण है। व्यक्तित्व-सम्बन्ध की भावना का परिहार तो हृदय-मुक्ति का धर्म है और इस कारण उसे रसानुभूति का लक्षण माना जा सकता है। लेकिन, दूसरा कथित लक्षण रसानुभूति का लक्षण नहीं है, अपितु वह आलंबन के 'साधारणीकरण' का लक्षण है जो "हृदय-मुक्ति" उत्पन्न करने के प्रक्रम में एक कारक अथवा सोपान कहा जायेगा। अतः, आचार्य शुक्ल के चिन्तन में एक उलझाव उत्पन्न हो गया है। रसानुभूति मूलतः वैयक्तिक होती है, किन्तु अभिनवादि काव्यशास्त्रियों ने रस के सामष्टिक स्वरूप का भी निरूपण किया है।

'तंत्रालोक' में अभिनवगुप्त ने स्थापना की है कि अभिनय, संगीत, गोष्ठी आदि अवसरों पर सामाजिकों की संख्या के अनुपात में रस-धारा, व्यक्तिगत सीमाओं का अतिक्रमण कर, सामूहिक स्वरूप ग्रहण कर लेती है क्योंकि सामाजिकों में परस्पर "तादात्म्य" स्थापित हो जाता है और देह-भेद से संकुचित हुई "सर्वात्मिका संवित् परस्पर टकराती हुई, एक-दूसरे में प्रतिबिम्बित होती हुई, विकसित हो जाती है।" अभिनव इस "सुधा-सागर" में सभी सामाजिकों के तल्लीन हो जाने का कारण आत्म-तत्त्व की अद्वैतता मानते हैं।[१५]

आचार्य शुक्ल भी रसानुभूति को वैयक्तिक परिधि से निकाल कर सामष्टिक आयाम प्रदान करना चाहते हैं। यतः वे किसी दार्शनिक प्रतिबद्धता से बचना चाहते हैं, अतः उन्होंने "उस आलंबन के प्रति सारे सहृदयों के हृदय में" एक ही जैसे भाव के उदय का कथन किया है। समान भाव का उद्‌बोध रसानुभूति को यही सामूहिक स्वरूप प्रदान करेगा—ऐसी उनकी विवक्षा है। तथापि, यह रसानुभूति का "लक्षण" नहीं होगा, अपितु रस-दशा की सर्व-सहृदय-सामान्यता का निदर्शन माना जायेगा। अतएव, रसानुभूति का केवल 'एक लक्षण' है : व्यक्तिगत सत्ता की भावना के परिहार से संलग्न। शुक्ल जी "लोक-सामान्य भावभूमि" के

प्रति अपनी अविचलित निष्ठा की मानसिक भंगी में, रसानुभूति की सामूहिकता को रेखांकित करना चाहते हैं। सुतराम्, रसानुभूति के लक्षण-निरूपण में उनकी वैपश्चिती प्रज्ञा तनिक विचलित हो गई है और वे साधारणीकरण को रसानुभूति का लक्षण मान बैठे हैं जब कि वह रस-दशा की अधिगम्यता में एक कक्षा अथवा प्रक्रम है।

**लोक-सामान्य भावभूमि** : जैसा अभी कहा है, आचार्य शुक्ल की रस-दशा "लोकसामान्य भावभूमि" का उपलक्षण है। कविता का धर्म, उनके मतानुसार, मानव-हृदय को "स्वार्थ-संबंधों के संकुचित मण्डल से ऊपर उठाकर लोक-सामान्य भावभूमि" पर ले जाना है जहाँ वह "अपनी सत्ता को लोक-सत्ता में लीन" कर देता है जहाँ उसकी अनुभूति सबकी अनुभूति होती है या हो सकती है। आचार्य शुक्ल की रसानुभूति यही लोक-सामान्य अनुभूति है।[१६] वे स्पष्ट कहते हैं कि "इसी लोक-हृदय में हृदय के लीन होने की दशा का नाम रस-दशा है।"[१७]

**सहृदय और रस-व्याप्ति** : "शुद्ध मुक्त भावभूमि" का अनुभव करने की, व्यक्ति-सत्ता को लोक-सत्ता में विलीन करने की सामर्थ्य रखने वाला व्यक्ति ही शुक्लजी के अनुसार "सहृदय" है। यह सहृदय अभिनव गुप्त के उस 'सहृदय' से आपाततः भिन्न है जिसका मनोमुकुर काव्यानुशीलन के अभ्यास से विशद बन गया है और जो तन्मयीभाव की योग्यता से संयुक्त, "हृदय-संवाद" का धनी है—

> "येषां काव्यानुशीलनाभ्यास-
> वशाद्—विशदीभूते मनोमुकुरे
> वर्णनीय—तन्मयी भवनयोग्यता, ते स्वहृदय
> संवाद-भाजः स्वहृदयाः"[१८]

तात्पर्य यह है कि अभिनव का सहृदय काव्यार्पित वस्तु के प्रति तन्मयीभूत होने की योग्यता रखता है और एतदर्थ, उसे सत्काव्यों के अनुशीलन का यथेष्ट अभ्यास होना आवश्यक है जिसके फलस्वरूप, उसमें "हृदय-संवाद" की क्षमता कालान्तरेण विकसित हो जाती है। लेकिन, आचार्य शुक्ल के "सहृदय" को काव्यानुशीलन की आवश्यकता नहीं है, केवल उसे संवेदनशील हृदय से सम्पन्न होना चाहिए जिसमे वह लिखित काव्य का ही रस न हृदयंगम कर सके, प्रत्युत "इस विश्व काव्य की रस-धारा" में निमग्न होने की योग्यता भी रखता हो।[१९] उसका 'सौन्दर्य' औपचारिक काव्य में ही फलभूत नहीं रहता, अपितु वह सृष्टि के सौन्दर्य-दर्शन में भी "रस-मग्न" होता है।[२०] अभिनव का सहृदय "शब्द-काव्य की सिद्धियों" का पारखी है जबकि आचार्य शुक्ल का सहृदय "वस्तु-काव्य" किंवा "विश्व-काव्य के पृष्ठों" के अनुशीलन का भी अनुरागी है।[२१] अतएव, शुक्लजी की "मुक्त-भावभूमि" व्यापक है : उसकी एक ही पहचान है, "लोकसत्ता मे व्यक्ति-सत्ता का विलयन, और वह विलयन 'शब्द-काव्य" और "वस्तु-काव्य" दोनों के अनुशीलन से सम्पादित हो सकता है। सुतराम्, उनका 'सहृदय' इसी "शुद्ध मुक्त भावभूमि" का अभ्यासी है।

उपरिगत विवेचन से स्पष्ट है कि आचार्य शुक्ल का "रस" शब्दबद्ध काव्य तक ही परिसीमित नहीं है, प्रत्युत उसकी व्याप्ति बहुत बड़ी है। वह रस "प्रकृति के नाना रूपों" तथा रत्यादि भावों की प्रत्यक्षानुभूति को भी अपनी परिधि में समेटता है। "रसात्मक बोध के विविध रूप" शीर्षक निबन्ध में उन्होंने विस्तार से बताया है कि रति प्रभृति भावों के वास्तविक लौकिक अनुभव में और प्राकृतिक दृश्यों के अवलोकन में जब हमारा मन "स्वार्थमय जीवन की शुष्कता तथा विरसता" से दूर हटकर, विशुद्ध अनुभूति में मग्न हो जाता है, तब भी हम रसानुभूति की दशा में पहुँचे हुए रहते हैं।[२२] तथापि, ऐसा मानना निराधार अथवा अयौक्तिक नहीं होगा कि शुक्लजी "शब्द-काव्य" से उपलब्ध रस को प्रत्यक्ष या वास्तविक रसानुभूति की तुलना में थोड़ा

भिन्न अवश्य मानते हैं, 'जाति' में नहीं, 'स्वरूप' में, जब वे कहते हैं कि "शब्द-काव्य" से उपलब्ध रसानुभूति प्रत्यक्ष या वास्तविक अनुभूति का ही "एक उदात्त और अवदात स्वरूप है।"[२३]

आचार्य शुक्ल प्रकृति की छवियों तथा छटाओं के अन्यतम अनुरागी हैं और उन्हें उनके प्रत्यक्ष अवलोकन तथा उसमें भाव-विभोर होने का प्रचुर अवकाश मिला है। 'प्रकृति-रस' की उनकी मान्यता उनकी "वस्तु-काव्य" की सौन्दर्य-दिदृक्षा का असंदिग्ध प्रमाण है। वैसे ही, रत्यादि भावों की लौकिक अनुभूति में भी उन्होंने सौन्दर्य के दर्शन किये हैं और 'रस' उपलब्ध किया है। लौकिक अनुभवों की रसात्मकता के निरूपण में वे प्राक्तन आचार्यों की प्रतिष्ठित परम्परा से कट जाते हैं, किन्तु अपनी स्वतन्त्र विचार-सरणि के प्रतिपादन में उन्हें एक प्रकार की आत्मोपलब्धि मिली है।

**भावों की प्रत्यक्ष रसानुभूति :** प्रत्यक्ष अथवा लौकिक भावों की अनुभूति के रसत्व-स्थापन में भी शुक्लजी पूर्वोक्त दो लक्षण ही निर्धारित करते हैं। हमने पहले दिखाया है कि उनमें से व्यक्तिगत सम्बन्धों का परिहार ही रसानुभूति का प्रकृत लक्षण माना जा सकता है। उन्होंने कतिपय भावों के प्रत्यक्षानुभव पर विचार किया है और स्वयमेव यह टिप्पणी की है कि "कुछ भावों में तो ये बातें (उपर्युक्त दो लक्षण) कुछ ही दशाओं में या कुछ अंशों तक घटित होती है और कुछ में बहुत दूर तक या बराबर।"[२४] अतएव, प्रत्यक्षानुभूति सर्वदा व्यापक रसकोटि में समाविष्ट नहीं हो सकती—यह वे परोक्षतया स्वीकार करते हैं।

'रति' भाव के विषय में आचार्य शुक्ल का एक कथन उल्लेखनीय है। वे मानते हैं कि "गहरी प्रेमानुभूति की दशा में मनुष्य रस-लोक में ही पहुँचा रहता है।"[२५] स्मरणीय है कि 'रस' शब्द का यह प्रयोग यहाँ सामान्य आनन्द या प्रमोद का वाचक नहीं है, अपितु शास्त्रीय 'रस' का सूचक है। रति-स्थायी के संचारियों में उन्होंने रस-दृष्टि से भेद किया है। हर्ष, विषाद, स्मृति इत्यादि कतिपय संचारियों का अनुभव रस-कोटि में वे समावेश्य मानते हैं क्योंकि प्रेमी इनका अनुभव "बीच बीच में अपना व्यक्तित्व भूला हुआ करता है।" स्मरणीय है कि रसानुभूति के उपर्यक्त लक्षण-द्वय में प्रमाता द्वारा अपनी सत्ता का अथवा अपने व्यक्तित्व की भावना का परिहार पहला लक्षण बताया गया है।" अर्थात्, व्यक्तिगत सुख-दु:ख की धारणा से मुक्ति "रस-दशा" का मुख्य व्यवच्छेदक धर्म है। शुक्लजी इस लक्षण को घटाते हुए हर्ष, विषाद, स्मृति इत्यादि के अनुभव को रसात्मक मानते हैं, किन्तु अभिलाष, औत्सुक्य इत्यादि दशाओं के अनुभव को "रस-कोटि के बाहर" बताते हैं, क्योंकि उनके मतानुसार, इनकी अनुभूति में "व्यक्तित्व का सम्बन्ध" अधिकतया एवम् "घनिष्टतया" अन्तःकरण में स्फुट रहेगा। "लेकिन यह स्फुटता" न्यूनाधिक हो सकती है। 'अभिलाष' में "व्यक्तित्व का सम्बन्ध जहाँ अत्यन्त अल्प या सूक्ष्म" रहता है—"जैसे रूप-अवलोकन मात्र का अभिलाष; प्रिय जहाँ रहे, सुख से रहे, इस बात का अभिलाष—वहाँ वास्तविक अनुभूति रस के किनारे तक पहुँची हुई होती है।"[२६]

प्रस्तुत कथन के सन्दर्भ में विचारणीय यह है कि हर्ष, स्मृति इत्यादि संचारियों का अनुभव क्या सचमुच व्यक्तित्व-संबंध की भावना के परिहार से जुड़ा रहता है जबकि अभिलाष, औत्सुक्य इत्यादि "दशाएँ" व्यक्तित्व-संबंध से जुड़ी रहती हैं? 'लोभ और प्रीति' शीर्षक निबन्ध में शुक्लजी ने प्रीति अथवा प्रेम का यह वैशिष्ट्य बताया है : "लोभ सामान्योन्मुख होता है और प्रेम विशेषोन्मुख; किसी व्यक्ति के प्रति जो ललक होती है, उसे प्रेम कहते हैं;" "यही एक ऐसा भाव है जिसकी व्यंजना हँसकर भी की जाती है और रोकर भी, जिसके व्यंजक दीर्घ नि:स्वास और अश्रु भी होते हैं तथा हर्ष-पुलक और उछल-कूद भी।"[२७]

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट होता है कि शुक्लजी के ही मतानुसार, प्रेम मूलतः व्यक्ति-संवद्ध भाव है और उसकी व्यंजना सुखात्मक तथा दुःखात्मक, दोनों रूपों में होती है। तब, प्रश्न उठता है : क्या प्रेम की कोई प्रतिक्रिया या व्यंजना ऐसी होगी जिसमें प्रेमी वैयक्तिक अनुषंगों से पूर्णतया कटा हो सकेगा ? शेक्सपियर ने प्रेमी, पागल तथा कवि को समानधर्मा बताया है क्योंकि वे तीनों अतिशय कल्पना प्रवण होते हैं।[२८] उनकी (कम-से-कम प्रेमी और पागल की) घनीभूत निविड़ कल्पना मूलतः व्यक्तिगत आलंबनों से ही शृंखलित होती है। अतएव, प्रेमी-की कोई भी अनुभूति, चाहे वह कितनी ही अंतरंग या बहिरंग रूप वाली हो, तत्त्वतः व्यक्तित्व परिहार से विशेषित नहीं होगी। उस अनुभूति को व्यक्ति से असंबद्ध इस कारण भी नहीं कहा जा सकता कि वैसी प्रतिक्रियायें अथवा अन्तर्वृत्तियाँ सभी प्रेमियों की समान होती हैं। "अभिलाष तथा औत्सुक्य में जितनी व्यक्तिबद्धता होगी, उतनी ही हर्ष, विषाद आदि में भी। गहरी प्रेमानुभूति की दशा में मनुष्य रस-लोक में ही पहुँचा रहता है" – यह कथन बिल्कुल सही है। लेकिन, वह "रस-लोक" प्रमोद या आनंद का ही द्योत्तक है और व्यक्तिगत ही रहता है, सार्वजनीन नहीं। प्रेम-व्यंजना का स्वरूप सार्वभौम या सार्वलौकिक हो सकता है, होता भी है, किन्तु उसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि 'व्यक्ति प्रेमी' अपने प्रेमानुभव में 'व्यक्ति' नहीं रहता, अपनी पृथक् सत्ता की धारणा से मुक्त हो जाता है।

'अभिलाष' के संबन्ध में उल्लेख्य यह है कि शुक्लजी ने उसे हर्ष, विषाद, औत्सुक्य इत्यादि संचारियों के साथ कथित किया है जब कि 'अभिलाष' संचारी नहीं, 'काम-दशाओं' में से एक माना गया है। ये दशाएँ नितान्त वैयक्तिक होती हैं, अर्थात् इनकी अनुभूति व्यक्तित्व-संबंधों से विच्छिन्न नहीं हो सकती—चाहे प्रिय के रूप-दर्शन की अभिलाषा हो, चाहे उसके सामान्य कल्याण की कामना हो, ये सभी दशाएँ व्यक्तित्व से संलग्न होती हैं। ध्यान में रखने का तथ्य यह है कि आचार्य शुक्ल यहाँ भावों की "प्रत्यक्षानुभूति" का विवेचन कर रहे हैं, "काव्यानुभूति" का नहीं। लेकिन, इस प्रतिपादन-प्रयास में, जाने-अनजाने, वे "काव्य-रस" के अपने अनुभवों को प्रत्यक्षानुभूति पर भी घटा देते हैं, यद्यपि उनकी ईमानदारी यह है कि वे व्यक्तित्व-परिहार वाली काव्यगत कसौटी को पहले ही प्रत्यक्षानुभूति की "रसता" की कसौटी स्वीकार कर चुके हैं। कठिनाई यह उत्पन्न होती है कि वे अपने प्रतिपादन को सिद्ध करने के लिए व्यक्तित्व-परिहार के निकष पर समस्त लौकिक प्रेमानुभूतियों को घटित कर देते हैं। पुनः, जैसे वे काव्य-रस की "कोटियाँ" मानते हैं, वैसे ही प्रत्यक्षानुभूति के रस की भी श्रेणियाँ मानते प्रतीत होते हैं : "× × × प्रेमानुभूति उतनी ही रस-कोटि के बाहर रहेगी"—इस कथन की व्यंजना और क्या हो सकती है ?

आचार्य शुक्ल ने बहुत-सी बातें इस प्रसंग में उलझा दी हैं। 'हास' का आलंबन "बहुत से लोगों" में एकसाथ "विलक्षण आह्लाद" का जनन करेगा—ऐसा वे कहते हैं। अर्थात्, उनके कथनानुसार, 'हास' की प्रत्यक्षानुभूति 'रस' कहलायेगी क्योंकि वह आह्लाद व्यक्तिगत नहीं, सामूहिक होगा, उसमें व्यक्तित्व का संश्लेष नहीं, अपितु विश्लेष होगा। प्रस्तुत कथन उन्होंने 'रति-भाव' के उपर्युक्त विवेचन के तुरन्त बाद किया है।[२९] तब, क्या यह माना जाय कि वे व्यक्तिगत 'रति' के आलंबन को, 'हास' के आलंबन के समान, लोक के समक्ष प्रस्तुत कर, यह सत्यापित करना पसंद करेंगे कि उस रमणीय-दर्शना युवती के प्रति लोगों की कैसी प्रतिक्रियाएँ होती हैं ? वे यह भी कहते हैं कि "रति-भाव की पूर्ण पुष्टि के लिए कुछ काल अपेक्षित होता है।" अतएव, किसी "अत्यन्त मोहक आलंबन" के प्रथम दर्शन से प्रेम के प्रथम अवयव', "अच्छा या रमणीय लगना" का उदय "एकसाथ बहुतों के हृदय में" होने की बात यदि स्वीकार कर

भी ली जाय, तो भी यह प्रश्न उठता है कि 'रति-भाव' को "पूर्ण पुष्टि" के लिए जो "कुछ काल अपेक्षित होता है", क्या 'उतना काल' सभी दर्शकों को उस नव्यांगना-विशेष के प्रसंग में उपलब्ध होगा ? यदि नहीं, तो यह क्योंकर स्थापित किया जा सकता है कि व्यक्तिगत रति का आलंबन परिपोष के इस अभाव में, "बहुतों के हृदय" को एकसाथ रसविभोर करेगा ? यदि "उतना काल" सभी को मिल भी जाय, तो भी क्या 'रति' के परिपुष्टीकरण में कोई विघ्न सबके लिए समानरूपेण उत्पन्न नहीं होगा ? उस मोहक प्रिय-दर्शना तरुणी का वास्तविक प्रेमी तो अप्रत्याशित अथवा अनाशंकित सभी स्थितियों का साक्षात्कार करता हुआ, रति के प्रकर्ष को उपलब्ध कर लेगा, किन्तु यही बात समस्त रूप-लोभियों के सम्बन्ध में नहीं कही जा सकती। हमारी प्रस्तुत तर्कणा 'अनुपपन्न हास्यास्पदता' (reductio ad absurdum) समझी जा सकती है, किन्तु आचार्य शुक्ल के वर्तमान निरूपण की अयुक्तता प्रदर्शित करने के लिए यह आवश्यक थी और उसका विधान तर्कशास्त्र में किया भी गया है।

आचार्य शुक्ल ने व्यक्तित्व-परिहार के तथ्य को अतिशय महत्त्व दिया है—जिसे रसानुभूति (काव्यरसानुभूति) के लिए पुराने आचार्यों ने भी महत्त्वपूर्ण माना है। किन्तु, प्रत्यक्षानुभूति की रसवत्ता के प्रतिपादन में शुक्लजी के सामने स्वभावतः कठिनाई उपस्थित हुई है। उदाहरणतः, वे उत्साह, क्रोध प्रभृति भावों के आलंबन में भी भेद करते हैं, रसात्मकता की दृष्टि से। उनका कथन है कि जो उत्साह (स्थायी) निजी लाभ वाले "विकट कर्म" की ओर प्रवृत्त होगा, वह "रसात्मक" नहीं होगा। इसी प्रकार, किसी ऐसे व्यक्ति के प्रति उद्बुद्ध क्रोध में, जिसने हमें पीड़ा पहुँचायी है, रसात्मकता नहीं होगी। इसी प्रकार, व्यक्तिगत कारणों से जागृत शोक भी रसात्मक नहीं होगा। इसके विपरीत, उन्होंने बताया है, इन भावों के आलंबन यदि 'लोक' से जुड़े होंगे, तब उनकी अनुभूति रसकोटि में निविष्ट हो जाएगी। आलंबन के इस द्वैत का निरूपण शुक्लजी को इसीलिए करना पड़ा है कि वे इन भावों की प्रत्यक्ष अनुभूति को भी रसकोटि में खींच लाने के लिए संकल्पबद्ध हैं। उल्लेखनीय है कि काव्य में इन भावों के "रसीकरण" के विषय में ऐसी कोई कठिनाई उत्पन्न नहीं होगी।

ध्यातव्य विन्दु यह है कि काव्यार्पित सभी भाव मूलतः व्यक्तिगत होते हैं। यह भिन्न बात है कि उनके विकास में सार्वजनीनता अथवा सार्वलौकिकता का आयाम जुड़ जाता हो। राम ने रावण पर चढ़ाई की मूलतः सीता के उद्धार-हेतु, अर्थात् व्यक्तिगत कारणों से। उस अभियान में लोक-कल्याण की कामना भी अनुविद्ध थी, यह भिन्न स्थिति है। इसी प्रकार, शकुन्तला-विषयिणी दुष्यन्त की रति मूलतः व्यक्तिगत है और 'विभावन' व्यापार द्वारा साधारणीकृत बनकर, वह व्यक्ति-संसर्गों से विच्छिन्न हो जाती है। लेकिन, प्रत्यक्षानुभूति के प्रसंग में आचार्य शुक्ल का मूल आलंबन ही निर्वैयक्तिक अथवा लोकमंगल से संलग्न है—इस कारण कि उसे व्यक्तित्व-परिहार के विन्दु से जोड़कर, सम्बन्धित भाव की अनुभूति को रसात्मक ठहराना उनका प्राग्-नियोजित अभीष्ट है।

**'शोक'-स्थायी और करुण रस** : आचार्य शुक्ल ने अपने पक्ष के स्पष्टीकरण में 'शोक' स्थायी तथा करुण रस का प्रसंग उठाया है। अपनी इष्ट-हानि या अनिष्ट-प्राप्ति से उत्पन्न दुःख 'शोक' कहलाता है। उनका कथन है कि इस शोक की वास्तविक अनुभूति रस-कोटि में नहीं आती, क्योंकि वह व्यक्तिगत संबंध से अनुविद्ध रहती है। पर, दूसरों की पीड़ा या वेदना से उत्पन्न भाव 'करुण' है और उसकी प्रत्यक्ष अनुभूति रसात्मक होगी—ऐसा शुक्लजी का तर्कण है। वे अतीव सरल ढंग से कहते हैं—"शोक अपनी निज की इष्टहानि पर होता है और करुणा दूसरों की दुर्गति या पीड़ा पर होती है। यही दोनों में अन्तर है। इसी अन्तर को लक्ष्य करके

काव्यगत पात्र (आश्रय) के शोक की पूर्ण व्यंजना द्वारा उत्पन्न अनुभूति को आचार्यों ने 'शोक-रस' न कहकर 'करुण-रस' कहा है।''[३०]

आचार्य शुक्ल ने इस कथन से ठीक पहले यह दिखाया है कि क्रोध, भय, जुगुप्सा इत्यादि के आलम्बन जब निर्वैयक्तिक अथवा लोक-संबद्ध होंगे, तभी उनकी प्रत्यक्षानुभूति रसमयी होगी, क्योंकि वह अनुभूति व्यक्तिगत सम्बन्धों से आविद्ध नहीं रहेगी। 'शोक' और 'करुणा' वाले प्रस्तुत कथन में उन्होंने एक सूक्ष्म 'फैलेसी' उत्पन्न कर दी है। 'शोक' को तो वे 'करुण-रस' का स्थायी भाव मानते ही हैं। तब, जैसे वे क्रोधादि अप्रीतिकर भावों के संबंध में आलंबन की लोकसंबद्धता पर बल देते हैं, वैसे ही 'शोक' के आलंबन की लोक-संबद्धता को भी उन्हें उभार में लाना चाहिए था। निज की इष्ट-हानि अथवा अनिष्ट-प्राप्ति के विरोध में वे ईसामसीह के शूली पर लटकाये जाने के लोक-प्रभावी तथ्य को हमारे सम्मुख प्रस्तुत कर सकते थे—(गांधी-जी की हत्या तो उनके निधनोपरान्त घटित हुई थी) अथवा यह तर्क दे सकते थे कि उस अनुचित, अन्यायपूर्ण घटना से जो शोक की लहर तत्कालीन समाज में फूट पड़ी थी, वह रस-कोटि में आती थी, या आयी थी जब कि अपनी किसी निजी इष्ट-हानि से उत्पन्न 'शोक' रसात्मक नहीं होता। यदि शुक्लजी ने ऐसा किया होता, तो उनके प्रतिपादन में कम-से-कम एक संगतिपूर्णता तो रहती।

लेकिन, उपर्युक्त विवेचन में शुक्लजी ने पहली तर्कसरणि को छोड़कर 'शोक' के साथ 'करुणा' का झमेला उपस्थित कर दिया है क्योंकि पुराने आचार्यों ने शोक की परिपूर्ण व्यंजना को 'शोक' से भिन्न 'करुण' रस का अभिधान प्रदान किया है। यहाँ सबसे पहली बात तो यही हमारा ध्यानाकर्षण करती है कि पुराने आचार्यों ने काव्य-रस का विवेचन किया है, न कि लौकिक अनुभूतियों का; और यहाँ एक ऐसी स्थापना की पुष्टि में उनका अनुमोदन प्राप्त करने का प्रयास किया जा रहा है जो उन्हें स्वीकार्य नहीं थी। तदनन्तर, 'शोक' के विपक्ष में 'करुणा' को लेकर 'शोक' के मौलिक आलंबन की उपेक्षा कर दी गई है। हमारा अभिप्राय यह है कि शोक की वास्तविक अनुभूति को ही रसमयी निरूपित किया जाना चाहिए था। यदि पुराने आचार्यों की मान्यता मानी जाती है, तो काव्य-वर्णित आश्रय की निजी इष्टहानि अथवा अनिष्ट-प्राप्ति को करुणा' के आलंबन, ''दूसरों की दुर्गति या पीड़ा'' से कैसे समीकृत किया जा सकता है? 'फैलेसी' बड़ी सूक्ष्म तथा बारीक है। काव्यार्पित प्रत्येक भाव-चक्र 'व्यक्ति' से संबद्ध होता है और उसके रसीकरण के लिए उसी आश्रय के उसी भाव की चर्चा होनी चाहिए। किन्तु, शुक्ल जी ने बड़ी चतुराई से, अथवा अपने ही स्थापना मोह में ग्रस्त होकर अनजाने, 'करुणा' का तर्क अपना लिया जिसका 'शोक' से पार्थक्य भी उन्होंने निरूपित कर दिया है। वस्तुत: 'शोक' और 'करुणा' सजातीय भाव ही हैं क्योंकि दोनों की प्रकृति दु:खात्मक है। रसों के नामकरण में आचार्यों ने प्रमाता में उत्पन्न होने वाली भाव-दशा को ही ध्यान में रखा है। काव्य में नायक की निजी इष्ट-हानि अथवा अनिष्ट-संप्राप्ति का चित्रण सहृदयों के भीतर मूलत: 'शोक' ही उत्पन्न करता है जो समनन्तरमेव 'करुणा' का स्वरूप ग्रहण कर लेता है। अतएव अन्तिम परिणाम को ध्यान में रखते हुए, अचार्यों ने 'शोक' के परिपोष को 'करुण रस' कहा है, न कि इस कारण कि निजी इष्ट-हानि इत्यादि का पात्र रस-दशा में सहृदयों के लिए, अपने (अर्थात् उस पात्र) से भिन्न ''दूसरा'' बन जाता है। ''यदि भवभूति के करुण रस को ही रसानुभूति का मूल माना,''[३१] तो इसका यह अर्थ कतई नहीं कि 'उत्तररामचरित' के नायक राम सहृदयों के लिए, राम से भिन्न कोई दूसरे व्यक्ति हो गए जो हमारी करुणा का आस्पद बन गया। आचार्य शुक्ल ने 'शोक' के और 'करुण' के आलंबन में अनावश्यक द्वैत उपस्थापित कर दिया और एक शास्त्रीय अभिधान-परम्परा की व्यर्थ की खींच-तान अपने अभीष्ट समर्थन में की है।

**प्राकृतिक दृश्यों की प्रत्यक्षानुभूति** : आचार्य शुक्ल ने 'वस्तु-काव्य' अथवा 'विश्व-काव्य' के प्रत्यक्ष अनुशीलन (अवलोकन) से भी रस की उत्पत्ति मानी है। वहाँ भी उनका निकष वही रहा है, व्यक्तित्व-संबंध का परिहार। लेकिन, उनके निरूपण की दुर्बलता यह है कि वे सदैव प्रकृति के रमणीय रूपों या व्यापारों को ही विचारार्थ लेते हैं जिनके सौन्दर्य अथवा माधुर्य के आस्वादन में सचमुच प्रमाता अपने को भूल जाता है, अपने व्यक्तिगत स्वार्थ के "संकुचित मंडल" से ऊपर उठ जाता और सच्ची "हृदय-मुक्ति" की अवस्था को उपलब्ध कर लेता है। लेकिन, प्रकृति के भीम-भैरव रूपों अथवा व्यापारों के संबंध में क्या ऐसी "हृदय-मुक्ति" वाली रस-दशा प्रमाता में उत्पन्न होगी ?

उदाहरणतः, निर्जन प्रदेश में, तिमिरावृत रजनी में मेघों की गड़गड़ाहट और चपला की लपलपाती चमक के प्राकृतिक व्यापार को लें। यह व्यापार निश्चिततया सर्वसाधारण लोगों में भय का संचार करेगा। वह एक ही नहीं, अनेक का आलंबन हो सकता है और प्रत्येक दशा में उससे उत्पन्न प्रतिक्रिया भय ही रहेगी। और, भय की अनुभूति इतनी गहरी तथा घनी होगी कि वह द्रष्टा की अन्तश्चेतना को पूर्णतः आच्छन्न कर लेगी। किन्तु, क्या यह कहा जा सकता है कि द्रष्टा अथवा द्रष्टा-समूह के प्रत्येक सदस्य के मन में उसके निजी 'योग-क्षेत्र' अथवा लाभ-हानि की भावना का प्रादुर्भाव नहीं होगा ? तात्पर्य यह है कि ऐसी प्रत्यक्षानुभूति व्यक्तिगत अनिष्ट की आशंका से लिपटी रहेगी, और तब, व्यक्तित्व-परिहार वाली रसानुभूति कैसे उत्पन्न हो सकेगी ?

वास्तविकता यह है कि प्रत्यक्षानुभूति की रसात्मकता मानने में तात्त्विक कठिनाई है, और आचार्य शुक्ल का यह प्रयास सुचिन्तित एवं सुव्यवस्थित नहीं है। व्यक्तित्व-भावना का परिहार काव्यरस में ही प्रसक्त होता है, प्रत्यक्षानुभूति में नहीं।

**विशुद्ध स्मृति अथवा प्रत्यभिज्ञान की रसात्मकता** : आचार्य शुक्ल प्रत्यक्षानुभूति के समान 'स्मरण' में भी रसानुभूति मानते हैं। ऐसे रसात्मक स्मरणों को वे मूलतः रति, हास तथा करुणा से सम्बद्ध बताते हैं। सामान्य अर्थ में हमें यह मानने में कोई आपत्ति नहीं है कि ये स्मरण प्रायः रसात्मक अथवा आनन्दमय होते हैं। किन्तु, हमारी कठिनाई तब फिर उत्पन्न होती है जब शुक्ल जी इन स्मरणों की रसात्मकता सिद्ध करने के लिए भी 'आलंबन' के केवल हमारी ही व्यक्तिगत भाव-सत्ता से "नहीं, अपितु" सम्पूर्ण नर-जीवन की "भाव-सत्ता से सम्बद्ध" होने की बात करते हैं।[३२] स्पष्ट है कि (विशुद्ध) स्मृति का ऐसा भाव-विभोर करने वाला आलंबन, जिससे कोई व्यक्तिगत अनुषंग नहीं लिपटा हो, विरला ही उपपन्न होगा।

प्रत्यभिज्ञान में भी शुक्लजी "रस-संचार की बड़ी गहरी शक्ति" होने का कथन करते हैं।[३३] उनकी धारणा है कि × × × प्रत्यभिज्ञान की रसात्मक दशा में मनुष्य मन में आई हुई वस्तुओं में ही रमा रहता है, अपने व्यक्तित्व को पीछे डाले रहता है। "इस कथन के उत्तरार्द्ध की सत्यता में गहन सन्देह का अवकाश है, और इसी कारण, प्रत्यभिज्ञान की तात्त्विक रसवत्ता प्रमाणित नहीं की जा सकती।"

मनोरंजक तथ्य यह है कि शुक्लजी ने प्रत्यभिज्ञान की रसमयता के प्रमाण में "काव्य" से उद्धरण दिए हैं और "काव्य में" प्रत्यभिज्ञान के चित्रण से जो रसनीयता उत्पन्न हो जाती है, उसे उन्होंने लौकिक प्रत्यभिज्ञा के पक्ष में ग्रहण कर लिया है। विवक्षा यह है कि वास्तविक प्रत्यभिज्ञा और काव्य-वर्णित प्रत्यभिज्ञा में अन्तर होता है। "मन ह्वै जात अजौ वहै वा जमुना के तीर"—आचार्य शुक्ल द्वारा उद्धृत इस पंक्ति में वर्णित प्रत्यभिज्ञा सचमुच रसमयी है, लेकिन इससे यह प्रमाणित करना कि लौकिक प्रत्यभिज्ञा भी रसात्मक होगी, युक्तिसंगत नहीं है।

"व्यक्तित्व को पीछे डाल" देने का जो कथन उन्होंने अभी किया है, वह स्थिति वास्तविक प्रत्यभिज्ञा में उपपन्न होगी, यह विवादास्पद प्रश्न है।

**स्मृत्याभास कल्पना की रसनीयता** : शुक्लजी ने "रसात्मक स्मरण और रसात्मक प्रत्यभिज्ञान" का निरूपण करने के अनंतर, उस कल्पना पर विचार किया है जो "स्मृति या प्रत्यभिज्ञान का-सा रूप धारण करके प्रवृत्त होती है।" इस कल्पना के अभ्यास का आधार या तो "आप्त-शब्द" (इतिहास) होता है अथवा "शुद्ध अनुमान।"[३४]

शुक्लजी ने पहला आधार लेकर बताया है कि ऐतिहासिक महत्त्व के नगरों में अथवा स्थलों पर जाने से भावुक व्यक्ति, यदि उसे इतिहास का ज्ञान है, पुरानी घटनाओं की प्राणमयी स्मृतियों से चंचल हो उठता है, और वह अनुभव रसात्मक होता है। इसी प्रकार अनुमान पर आश्रित कल्पना भी कभी-कभी अपरिचित······खण्डहरों पर पहुँचने से, व्यक्ति के मानस-पटल पर पुरानी संभावित घटनाओं की छापें अंकित कर देती है, यथा—"यह वही स्थान है जहाँ कभी मित्रों की मंडली जमती थी, रमणियों का हास-विलास होता था, इत्यादि।" कुछ चिह्न पाकर यह कल्पना केवल अनुमान के सहारे "रूपों और व्यापारों की योजना" में तत्पर हो जाती है। शुक्लजी के कथनानुसार यह योजना रसात्मक होती है क्योंकि उन रूपों या व्यापारों का हमारे "व्यक्तिगत योग-क्षेम से कोई सम्बन्ध" नहीं होता। उन्होंने "अतीत जीवन" के विषय में इतिहास के आधार पर नाना मनोरम घटनाओं तथा दृश्यों के कल्पना-चित्र प्रस्तुत किये हैं और उन्हें रसात्मक ठहराया है।[३५]

इस सन्दर्भ में हमें यह कहना है कि आचार्य शुक्ल ने 'काव्य-रस' को, काव्य से व्यतिरिक्त लौकिक या प्रत्यक्षाश्रित अनुभवों में घटाने का जो भगीरथ प्रयास किया है, वह उद्भावनापूर्ण होने के बावजूद, कच्ची भित्ति पर आलंबित है। वास्तव में, उन्होंने अपने ही कल्पना-प्रवण व्यक्तित्व को सामान्य सहृदयों के ऊपर आरोपित कर दिया है और यह निश्चय कर लिया है कि अतीत के खण्डहरों आदि के साक्षात्कार से जैसे उनके भावुक हृदय में रसात्मक भावों का संचार होता है, वैसे ही सभी सहृदयों के मानस में भी होता होगा, अथवा होना चाहिए। शुक्लजी यहाँ स्वयं, लोक-सामान्यता का तथ्य बार-बार उजागर करने के बावजूद, एक अलोक-सामान्य मनःस्थिति की वकालत करने लगे हैं।

दिनकर की "हिमालय के प्रति" कविता पढ़कर जो भावोद्रेक हम में होता है, वह 'नगाधिराज' हिमालय के प्रकृत दर्शन से नहीं। मनोरंजनप्रसाद सिंह की कविता, "वैशाली के आँगन में", के अनुशीलन से वैशाली के अतीत गौरव की जो भावना हमें अनुप्राणित करने लगती है, वह वर्तमान वैशाली के प्रान्त में जाने से उसी निविड़ता तथा शक्तिमत्ता से नहीं उत्पन्न होगी। और तो और, ताजमहल के प्रकृत सामीप्य में हमारे भीतर प्रणय-भाव की गहराई की वह सघन-सान्द्र अनुभूति नहीं उत्पन्न होगी जो कवीन्द्र रवीन्द्र की ताजमहल-विषयक कविता की निम्नस्थ पंक्तियों के पठन से—

> "एके कथा जानिते तुमि,
> भारत-ईश्वर सा-जहाँन।
> काल-स्रोते भेसे जाय,
> जीवन यौवन धन् मान।
> शुधु तव अन्तर-वेदना,
> चिरन्तन हए थाके सम्राटेर,
> छिल ए साधना।

राज-शक्ति वज्र सुकठिन
संध्याराग सम तन्द्रातले
हय हरेक लीन।
केवल एकटि दीर्घश्वास
नित्य उच्छ्वसित हए,
संकरुण करुक आकाश
एइ तव मने छिल आश।"

वास्तविकता यह है कि 'स्मृत्याभास कल्पना' प्रकृति जीवन में जो "रूप-विधान" हमारे अन्त.करण में उत्पन्न करती है, उनके उत्तेजन (स्टिमुलाई) सुनी-सुनाई किंवदन्ती अथवा ऐतिहासिक इतिवृत्त से जुड़े होने के कारण प्रायः दुर्बल होते हैं। इनके विपरीत, काव्य में जो वस्तु-बिम्ब निबद्ध रहते हैं, उनका उत्तेजन सघन तथा शक्तिमान होता है। "रस-निष्पत्ति" की व्याख्या करने वाले श्री शंकुक जैसे आचार्यों ने "काव्यबल" अथवा "वस्तु-सौन्दर्य-बल" का जो कथन किया है[३६], उसके मूल में परोक्षतया यह स्वीकृति सन्निहित है कि काव्यचित्रित वस्तु से प्राप्त उत्तेजन तीव्र, सान्द्र तथा लोकातिशायी होते हैं। रसानुभूति अथवा शुक्लजी की "हृदय-मुक्ति" वाली "रसदशा" उत्पन्न करने में काव्य-चित्रणों का यही लोकातिशायी स्वरूप कारणभूत होता है। "बिम्बग्रहण" कराने में आपाततः अनलंकृत "संश्लिष्ट" चित्रण जिसकी प्रशंसा उन्होंने की है, [३७] वह भी अपनी वस्तुनिष्ठता में ही लोकातिशायी होता है—आचार्य शुक्ल इसे स्वीकार करें या नहीं। "रसात्मक बोध के विविध रूपों" का जो निरूपण उन्होंने मनोयोगपूर्वक किया है, उसमें उनकी व्यक्तिगत मान्यतायें पांडित्य के अपूर्व समारोह के साथ प्रतिपन्न हुई हैं, उनके तर्क "तर्काभाव" बन गए हैं।

**लौकिक अनुभूतियों में रसात्मकता नहीं :** सबसे मौलिक प्रश्न इस प्रसंग में यह उपस्थित होता है कि रसात्मक प्रतीति के इन विविध रूपों का जो उद्घाटन शुक्ल जी ने किया है, उसका काव्यानुशीलन की दृष्टि से क्या महत्त्व है ? वस्तुतः, 'रस' की भावना तो उन्हें काव्य से ही मिली और अतिशय भावुक होने के कारण, उन्हें प्रकृति के रमणीय साम्राज्य में, ऐतिहासिक ध्वंसावशेषों में तथा कल्पाना के ललित अभ्यास में भी रसमयता की प्रतीति हुई जिसे उन्होंने सिद्धान्त का गौरव प्रदान किया। तथापि प्रश्न रह ही जाता है :

इस सम्पूर्ण मानसिक व्यायाम से सामान्य सहृदयों की काव्य-मर्मज्ञता में कौन-से नए आयाम जुड़े, काव्य-रस के हृदयंगमीकरण में सहृदयों की संवेदनशील चेतना का कौन-सा नवीन स्तर उन्मीलित हुआ ? यह प्रश्न अनुत्तरित ही रह जाएगा। आखिर, प्राक्तन आचार्यों ने कुछ सोच-समझकर ही तो लौकिक अनुभूतियों में रसत्व का अपलाप किया था—"तदा हि लौकिक-चित्तवृत्त्यनुमाने का रसता। तेनालौकिक-चमत्कारात्मरसास्वादः स्मृति-अनुमान-लौकिक स्वसंवेदन-विलक्षण एव।"[३८]

अभिनवगुप्त ने यहाँ, ध्यातव्य है, 'काव्यरस' को स्मृति, अनुमान तथा लौकिक प्रत्यक्षादि से विलक्षण बताया है, अथवा यह अद्भुत संयोग है कि उन्होंने, मानो आचार्य शुक्ल का पूर्वाभास पाकर, पहले ही यह घोषित कर दिया है कि लौकिक चित्तवृत्तियों के अनुमान में रसता नहीं होती—"लौकिक चित्तवृत्त्यनुमाने का रसता ?"

**रसानुभाव का स्वभाव :** अब एक ही प्रश्न रह जाता है कि आचार्य शुक्ल की दृष्टि में रसानुभूति का क्या स्वभाव स्थिर होता है ? यहाँ सबसे पहले यह तथ्य ध्यानाकर्षण करता है कि उन्होंने भट्टनायक अथवा अभिनवगुप्त जैसे आचार्यों के रस से संलग्न "भोग" या "आस्वाद"

पक्ष की एकान्त उपेक्षा की है। "रस-दशा", "रसानुभूति", "रसमयता", "रसात्मक बोध" प्रभृति संज्ञाओं का ही उन्होंने प्रयोग किया है जो उनकी प्रिय "हृदय की मुक्तावस्था" से संलग्न हैं। 'भोग", "आस्वादन", "चर्वणा", 'स्वप्रकाशता", "विश्रान्ति" प्रभृति जो अभिधाएँ क्लैसिकल रस-निरूपण में उपलब्ध होती हैं, उनका संभवतः एकान्त अभाव उनके रस-चिन्तन को व्यवच्छेदित करता है। वैसे ही "चमत्कार" तथा "लोकोत्तर" अथवा "अनिर्वचनीय" जैसी संज्ञाओं से भी उन्हें सामान्यतः चिढ़ है, यद्यपि 'चमत्कार"-तत्त्व का वे एकान्त वहिष्कार नहीं करते।

रस की सैद्धान्तिक "आनन्दमयता" में उन्हें विश्वास नहीं है। भाव की सान्द्र, हृदय पर अधिकार करने वाली अनुभूति को वे "रसमयी" बताते हैं। यद्यपि उन्होंने कहीं स्पष्ट नहीं कहा जैसा कि जैनाचार्य रामचन्द्र-गुणचन्द्र आदि ने कहा है कि रस की प्रकृति तत्तत् भावों के अनुसार सुखात्मक-दुःखात्मक अर्थात् उभयात्मक होती है, तथापि वे मानते ऐसा ही हैं। क्रोध, भय, शोक, जुगुप्सा आदि भावों की "वास्तविक अनुभूति" जैसे दुःखात्मक होती है, वैसे ही काव्य में चित्रित होने पर भी शुक्ल जी के मतानुसार उनकी प्रकृति वैसी ही बनी रहती है। "विभावत्व" (विभावन-व्यापार) उनके स्वरूप का हरण कर. उन्हें "सुख का स्वरूप" नहीं प्रदान करता।

आचार्य शुक्ल की एतद्विषयक मान्यता इस उद्धरण से स्फटिकवत् झलक उठती है—"क्या मृत पुत्र को लिए विलाप करती हुई शैव्या से राजा हरिश्चन्द्र का कफन माँगना देख-सुन कर आँसू नहीं आ जाते, दाँत निकल पड़ते हैं? क्या महमूद के अत्याचारों का वर्णन पढ़कर यह जी में नहीं आता कि वह सामने आता तो उसे कच्चा खा जाते? × × × 'चित्त का यह द्रुत होना क्या आनन्दगत है? इस आनन्द' शब्द ने काव्य के महत्व को बहुत कुछ कम कर दिया है—उसे नाच-तमाशे की तरह बना दिया है।"[३९]

प्रस्तुत उद्धरण से साफ हो जाता है कि आचार्य शुक्ल भावों की प्रत्यक्षानुभूति की प्रकृति के समानान्तर इनके काव्यगत स्वरूप की प्रकृति को भी सुखात्मक अथवा दुःखात्मक मानते हैं। इस उद्धरण से यह भी प्रतीत होता है कि उन्होंने काव्य का लक्ष्य 'आनन्द' मानने के अविचारित साहित्यिक "फैशन" की तीव्र प्रतिक्रिया में ही उक्त बातें कही हैं। 'आनन्द' पर उनका स्वस्थ विमर्श रसात्मक बोध के विविध रूपों के निरूपण के दौरान सामने आया है—यद्यपि वहाँ भी वह ('आनन्द' शब्द) उन्हें "कुछ गड़बड़ डालता दिखाई" पड़ता है।

'आनन्द' शब्द को वे "व्यक्तिगत सुख-भोग के स्थूल अर्थ में ग्रहण करना" पसन्द नहीं करते। स्मरणीय है कि पुराने आचार्यों ने भी "आनंद" को इस व्यक्तिगत सीमित अर्थ में ग्रहण नहीं किया है, यद्यपि यह सही है कि उनकी विचारणा में काव्यानन्द या रसानन्द "ब्रह्मानन्द-सहोदर" होने के कारण क्लेश अथवा संताप आदि उद्वेगकर प्रतीतियों से सर्वथा अतीत है। आचार्य शुक्ल ने प्राचीनों के करुण-प्रधान नाटकों के आस्वादन-विषयक इस सरल तर्कण का अपलाप किया है कि "आनन्द में भी तो आँसू आते हैं।" स्वस्थ भाव से, तथापि, उन्होंने आनन्द-विषयक जो कथन किया है, वही उनकी सही मान्यता प्रतिबिम्बित करता है—"उसका (आनन्द का) अर्थ मैं हृदय का व्यक्तिबद्ध दशा से मुक्त और हल्का होकर अपनी क्रिया में तत्पर होना ही उपयुक्त समझता हूँ। × × × (करुण-प्रसंगों में) दर्शक वास्तव में दुःख ही का अनुभव करता है। हृदय के मुक्त दशा में होने के कारण वह दुःख भी रसात्मक होता है।"[४०]

सुतराम्, आचार्य शुक्ल की मान्यता में सुख की अनुभूति भी रसात्मक, दुःख की अनुभूति भी रसात्मक होती है और हृदय की उसकी मुक्त दशा में अनुभव करने की क्रिया ही "आनन्द" है। शुक्ल जी ने पहले ही कहा है कि हृदय की मुक्तावस्था "रस-दशा" है। अतएव, यह स्थापना

युक्ति-विहीन नहीं होगी कि शुक्लजी "आनन्द" को 'रस' का पर्याय मानते हैं। यह प्रतिपत्ति स्पष्टतया क्लैसिकल चिन्तन-धारा से उन्हें पृथक् स्थापित कर देती है।

तथापि, कुल मिलाकर, आचार्य शुक्ल शास्त्र-स्वतन्त्र होते हुए भी शास्त्र-परतन्त्र हैं और शास्त्र-परतन्त्र होते हुए भी शास्त्र-स्वतन्त्र हैं।

## संदर्भ-संकेत

१. 'चिन्तामणि', दूसरा भाग, पृष्ठ ३७-३८। २. वही, पृष्ठ ४८। ३. वही, पृष्ठ १११। ४. वही, पृ० १११-१२। ५. वही, पृष्ठ ६७-६८। ६. वही, पृष्ठ २३६। ७. वही, पृष्ठ २४०। ८. 'चिन्तामणि', पहला भाग, पृष्ठ २०३। ९. वही, पृष्ठ २०३। १०. वही, पृष्ठ १३२। ११. वही, पृष्ठ १३२। १२. 'हिन्दी रस-गंगाधर' (चौखम्बा), पृष्ठ ८७-९७। १३. 'चिन्तामणि', पहला भाग, पृष्ठ १९९। १४. वही, पृष्ठ २००।

१५. "संवित्सर्वात्मिका देहभेदाद् या संकुचिता तु सा।
मेलकेऽन्योन्य-संघट्ट-प्रतिबिम्बादिक-त्वरा॥
उच्छलान्निज-रश्म्योघः संवित्सु प्रतिबिम्बितः।
बहु-दर्पणवद्-दीप्तः सर्वायेताप्ययत्नतः॥ ('तन्त्रालोक')
—डॉ० प्रेमस्वरूप गुप्त के 'रसगङ्गाधर का शास्त्रीय अध्ययन' से उद्धृत।

१६. चिन्तामणि, पहला भाग, पृष्ठ ११३। १७. वही, १८३। १८. 'हिन्दी ध्वन्यलोक', (चौखम्बा), पृष्ठ ३९-४०। १९. 'चिन्तामणि', पहला भाग, पृष्ठ ११७। २०. वही, पृष्ठ १२८। २१. वही, पृष्ठ २०३। २२. वही, पृष्ठ २०१-०३। २३. वही, पृष्ठ २०३। २४. वही, पृष्ठ २००। २५. वही, पृष्ठ २००। २६. वही, पृष्ठ २०१। २७. वही, पृष्ठ ५५, ६८, ७६। २८. 'मिड-समर नाइट्स ड्रीम'। २९. 'चिन्तामणि', पहला भाग, पृष्ठ २०१। ३०. 'चिन्तामणि', पहला भाग, पृष्ठ २०२-०३। ३१. वही, पृष्ठ २०३। ३२. वही, पृष्ठ २०५। ३३. वही, पृष्ठ २०५। ३४. वही, पृष्ठ २०७। ३५. वही, पृष्ठ २०९-१२। ३६. "विभावाहि काव्यबलानुसन्धेयाः।" अभिनव भारती "अनुमीयमानोऽपिवस्तुसौन्दर्यबलाद् रसनीयत्वे नान्यानुमीय मान-विलक्षणः" इत्यादि। ('काव्य प्रकाश')। ३७. दे० चिन्तामणि, पहला भाग, पृष्ठ ११६, ११८, १८४ इत्यादि। ३८. हिन्दी अभिनव-भारती, पृष्ठ ४८५। ३९. रस-मीमांसा, पृष्ठ १०१। ४०. 'चिन्तामणि', पहला भाग, पृ० २०२।

●

१७७, मुगलपुरा,
फैजाबाद (उ० प्र०)

प्रसारित लेख

# आचार्य शुक्ल का साहित्य-दर्शन

●

डॉ० श्रीरंजन सूरिदेव

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी के शलाकापुरुषों में परिगणनीय हैं। वह हिन्दी-आलोचना के क्षेत्र में प्राचीन साहित्याचार्यों की साहित्यालोचन-परम्परा के उत्तरवर्ती विकास के अन्तिम ध्वजवाहक थे। उनके द्वारा रचित 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास', 'चिन्तामणि' और 'रसमीमांसा' नामक ग्रन्थ वेदान्त की प्रस्थानत्रयी की भाँति विशिष्ट सारस्वत गरिमा का संवहन करते हैं। विशेषतया, 'चिन्तामणि' और 'रसमीमांसा' से यह स्पष्ट है कि रस-सिद्धान्त के विवेचन में वह बहुधा वेदान्त-मार्ग का ही अनुसरण करते हैं, तभी तो उनकी दृष्टि में भक्ति चित्त के भावमय प्रकाश के रूप में प्रस्फुटित होती है। कहना न होगा कि उन्होंने पूर्वाचार्यों की परम्परा का अनुसरण करते हुए अपने साहित्यालोचन के द्वारा साहित्य को जिस दर्शन से संबलित किया है, उसकी अपनी सर्वातिशयी विशेषता और नवीनता है।

आचार्य शुक्ल जी का साहित्य-दर्शन मूलतः मानव के जीवन-दर्शन से सम्बद्ध है। इसलिए, वह, 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः' सिद्धान्त के प्रवर्तक शंकराचार्य की भाँति अद्वैतवादी नहीं थे, अपितु वल्लभाचार्य की भाँति 'ब्रह्म सत्यं जगत्सत्यं अंशो जीवो हि नापरः' सिद्धान्त के मानने वाले परम शुद्धाद्वैतवादी थे। इसीलिए, उन्होंने शुद्धाद्वैतवाद के आलोक में ही अपने रस-सिद्धान्त की स्थापना की और उसे व्यावहारिक रूप देने के लिए, सगुण-निर्गुण भक्ति का समन्वय करते हुए रसानुभूति के सम्बन्ध को लोकहृदय की अनुभूति से जोड़ा और हृदय की मुक्तावस्था को रसदशा की संज्ञा दी, साथ ही प्रसिद्ध जैनाचार्य हेमचन्द्र की तरह रस को सुख-दुःखात्मक मान कर लोकजीवन की मिश्रित हृदयानुभूति की सच्ची पहचान भी उपस्थित की। और इसीलिए, कर्म, ज्ञान और भक्ति या प्रवाह, मर्यादा और पुष्टि के समर्थक गोस्वामी तुलसीदास और उनके सुख-दुःखमिश्रित चरित्र से सम्पन्न मर्यादापुरुषोत्तम राम आचार्य शुक्लजी के विशेष प्रिय बने।

आचार्य शुक्लजी ने जिसे ज्ञानदशा या आत्मा की मुक्तावस्था कहा है, वही वल्लभाचार्य की सात्त्विक ज्ञानोत्तर कैवल्य-मुक्ति या सगुण जीवन्मुक्ति है। इसी मुक्तावस्था को शुक्लजी ने 'रसदशा' या हृदय की मुक्तावस्था के समानान्तर रखा। उनका भावयोग, कर्मयोग और ज्ञानयोग वल्लभाचार्य के प्रवाह, पुष्टि और मर्यादाभक्ति का रूपान्तर है। पुनश्च, उनका भावयोग तो स्पष्ट ही वल्लभाचार्य के भक्तियोग का ही पर्याय है। इसलिए, आचार्य शुक्लजी एक ओर शुद्धाद्वैतवादी थे, तो दूसरी ओर बौद्धाचार्य वसुमित्र की तरह सर्वास्तिवादी भी। क्योंकि, उन्होंने सर्वास्तिवादी की भाँति प्रत्येक वस्तु की सत्ता स्वीकृत करते हुए कहा है कि द्रव्य और शक्ति दोनों अक्षर और अविनाशी हैं। इस प्रकार, आचार्य शुक्लजी, हिन्दी-साहित्य की विवेचना-परम्परा में मानवतावादी जनचेतना के धरातल पर भारतीय दर्शन, संस्कृति, सिद्धान्त और साधना के प्रतिष्ठापक हैं, साथ ही रूढ़िवादी आस्तिकता से हटकर ज्ञान और संसार एवं आदर्श और व्यवहार या यथार्थ के पारस्परिक सम्बन्ध के सन्दर्भ में पौरस्त्य और पाश्चात्य विचारधाराओं के ऐतिहासिक समन्वय की दृष्टि से नये व्याख्याकार और साहित्येतिहास के विलक्षण स्रष्टा भी हैं।

यही कारण है कि हिन्दी के इतिहासविद् आलोचकों में उनका अतिशय वरेण्य और कूटस्थ स्थान बन गया है।

विशुद्धाद्वैतवादी वल्लभाचार्य के मतानुसार, ब्रह्म के सत् एवं चित्, अर्थात् सगुण एवं निर्गुण, दोनों के संयोग से जीव-जगत् की सृष्टि होती है। इसलिए, जगत् सच्चिदानन्दमय ब्रह्म का आधिभौतिक या अव्यक्त का व्यक्त स्वरूप है। वल्लभाचार्य के मत से सच्चिदानन्द अक्षर ब्रह्म सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण के समन्वय से जगत् की सृष्टि करते हैं और अपनी 'सन्धिनी' शक्ति से सत्स्वरूप का और 'ह्लादिनी' शक्ति से आनन्द-कला का प्रकाश करते हैं। आचार्य शुक्लजी ने 'रसमीमांसा' में, काव्य-विवेचन के सन्दर्भ में ब्रह्म की इस आनन्द-कला को लोक-मंगलविधात्री शक्ति के रूप में ग्रहण किया है और इस प्रसंग की उनकी जो व्याख्या है, वह तदनुरूप तो है ही, अपनी विशिष्ट मौलिकता से भी मण्डित है। उनके कथन का आशय है कि अव्यक्त प्रकृति के व्यक्त स्वरूप जगत् में आदि से अन्त तक अवस्थित सत्त्व, रजस् और तमस्, तीनों गुण समष्टि-रूप में ब्रह्म की लोकमंगलविधायिनी आनन्द-कला के प्रकाश के माध्यम हैं। आचार्य शुक्ल ने तीनों गुणों की समष्टि स्वीकार करते हुए भी उसमें विशिष्टता उपस्थापित की है। ब्रह्म की आनन्द-कला या ह्लादिनी शक्ति की सही प्रकाश-पद्धति यही है कि रजोगुण और तमोगुण सत्त्वगुण के अधीन होकर उसके संकेत पर काम करें। ऐसी स्थिति में, रजोगुण और तमोगुण अपनी प्रवृत्ति के अनुसार काम करने पर भी समष्टि-रूप में वे सत्त्वगुण के लक्ष्य की ही पूर्ति करेंगे। सत्त्वगुण के शासन में रजोगुण की कठोरता और तमोगुण की प्रचण्डता अमंगलकारी न प्रतीत होकर लोकमंगलकारी सात्त्विक तेज के रूप में भासित होंगी।

वल्लभाचार्य के मतानुसार ब्रह्म सच्चिदानन्दमय और अद्वितीय सत् हैं और वह 'सन्धिनी' शक्ति के द्वारा अपने सत्त्वरूप का प्रकाश करते हैं। स्वयं शुक्लजी ने भी वल्लभाचार्य के नामोल्लेखपूर्वक इस तथ्य का समर्थन करते हुए लिखा है कि ब्रह्म की सन्धिनी शक्ति द्वारा प्रकाशित सत् के दो अर्थ हैं : जो वास्तव में हो, तथा अच्छा या शुभ (दे० रसमीमांसा, पृ० ७०)। इस प्रकार, शुक्लजी काव्य में यथार्थ और शुभ, यानी सत्य और शिव, दोनों पक्षों के समावेश के आग्रही हैं।

वल्लभाचार्य ने परब्रह्म को सर्वव्यापी रस-रूप माना है, इसलिए रसशास्त्र में रस का जो विवरण मिलता है, वह रस-रूप भगवान् का ही कार्यभूत अंश है। रस की अभिव्यंजना की विभिन्न प्रणालियाँ हैं। अतएव, रस वास्तव में एक होते हुए भी भिन्न रूपों में प्रकट होता है। वास्तव में, परब्रह्म ही हृदय में आविर्भूत होकर रस कहलाते हैं और वही आनन्द की उत्पत्ति करते हैं। चिदानन्द ही रस है। भावमय भक्ति से ही भगवान् के रस-रूप का आविर्भाव होता है। ब्रह्मरूप से भी भगवान् का आविर्भाव रसात्मक है। इस प्रकार, आनन्दात्मक या रसात्मक भगवान् की इच्छा से ही उनका ब्रह्मत्व जीवरूप ग्रहण करता है और ब्रह्म की भक्ति से वही जीव पुनः ब्रह्मभाव को प्राप्त करता है। वल्लभाचार्य का यही विशुद्धाद्वैत है। आचार्य शुक्लजी ने भी 'रसमीमांसा' (पृष्ठ २५६-२६०) में रसात्मक बोध के प्रसंग में वल्लभाचार्य के रस-सिद्धान्त को ही समेकित रूप से उपन्यस्त करते हुए लिखा है कि सौंदर्य, माधुर्य, विचित्रता, भीषणता, क्रूरता इत्यादि की भावनाएँ बाहरी रूपों और भावों से ही निष्पन्न हुई हैं। हमारे प्रेम, भय, आश्चर्य, क्रोध, करुणा इत्यादि भावों की प्रतिष्ठा करने वाले मूल आलम्बन बाहर के ही हैं। जब हमारी आँखें बाहर देखने में ही प्रवृत्त रहती हैं, तब रूप हमारे बाहर प्रतीत होते हैं और और जब हमारी वृत्ति अन्तर्मुखी होती है, तब रूप हमारे भीतर दिखाई पड़ते हैं। अर्थात् मन की

बाह्य और आभ्यन्तर वृत्ति के अनुसार ही रूपविधान होता है। और फिर, प्रत्यक्षानुभूत बाह्य रूपविधान ही आभ्यन्तर रूप-प्रतीति का मूल कारण है। यह रूपविधान प्रत्यक्ष, स्मृत और सम्भावित या कल्पित तीन प्रकार का होता है। इस वैविध्यमूलक रूपविधान में भावों को इस प्रकार जागरित करने की शक्ति रहती है जिससे वे भाव रसकोटि में आ जाते हैं। इस प्रकार रूपविधान द्वारा जागरित मार्मिक अनुभूति ही काव्यानुभूति या रसानुभूति है। यही जीवत्व से ब्रह्मत्व की ओर या सत्य से शिव की ओर या फिर यथार्थ अथवा वास्तविक अनुभूति से रसानुभूति या काव्यानुभूति की ओर प्रस्थान है।

ब्रह्मसूत्र के अणुभाष्य में वल्लाचार्य का कथन है कि जीव में विद्यमान, किन्तु तिरोहित, आनन्द की अभिव्यक्ति होती है। सत्, चित् और आनन्द के प्रकट होने तथा व्यापकत्व आदि धर्मों के आविर्भूत होने पर जीव का ब्रह्मसाम्य होता है, यही जीव का ब्रह्मभाव है। ऐसी स्थिति में जब शरीर आदि पंचतत्त्व में विलीन न होकर मूल कारण में लीन हो जाता है, अर्थात् वह जीवत्व से मुक्त होकर अक्षरब्रह्म में लीन हो जाता है। इस प्रकार, जीव जब ज्ञान द्वारा ब्रह्म को प्राप्त करता है, तब वह 'विभु हो जाता है। (विशेष अध्ययन के लिए द्रष्टव्य : महा-महोपाध्याय पं० गोपीनाथ कविराज-कृत 'भारतीय साधना की धारा' तथा डॉ० राधारानी सुखवाल कृत 'वल्लभ-सम्प्रदाय और उसके सिद्धान्त')।

जीव की इस विभुता से आचार्य शुक्लजी के साधारणीकरण का साम्य स्पष्ट परिलक्षित होता है। इस सन्दर्भ में उनका मन्तव्य (दे० 'रसमीमांसा' का 'काव्य का लक्ष्य' प्रकरण) है कि रसात्मक अनुभूति काव्य के पाठक या श्रोता को प्रत्यक्ष विषयों की वास्तविक अनुभूति से पृथक् करती है। रसात्मक अनुभूति की यही विशेषता शुक्लजी का साधारणीकरण है। काव्य का श्रोता या पाठक विषयानुसार उद्भूत जिन भावों का अनुभव करता है, वे केवल उसके ही हृदय से सम्बन्ध रखने वाले नहीं होते, अपितु उनके व्यापकत्व धर्म से मनुष्य-मात्र की भावात्मक सत्ता पर प्रभाव डालने वाले होते हैं, इसीलिए काव्य पढ़ते या सुनते समय प्रत्येक मनुष्य में समान भावों की अनुभूति का व्यापक संचार होता है। इस प्रकार, समानुभूति की व्यापकता से उत्पन्न रसोद्बोध ही साधारणीकरण है। ब्रह्मसाम्य या विभुता की स्थिति में जिस प्रकार जीव का पंचतत्त्व में विलीनीकरण न होकर मूल कारण में होता है, उसी प्रकार साधारणीकरण प्रभाव या मूल कारण का होता है, न कि व्यक्ति या सत्ता का। अर्थात्, अनेक विशेषताओं और विचित्रताओं के बीच रहने वाली मनुष्य-जाति के सामान्य हृदय का लोकहृदय में विलीनीकरण होता है। लोकहृदय में हृदय के लीन होने की इसी दशा को शुक्लजी ने 'रसदशा' कहा है। शुद्धाद्वैतवादी वल्लभाचार्य के अनुसार यही जीवन्मुक्त की दशा है। इसी दशा में जीव का तिरोहित आनन्द प्रादुर्भूत होता है और वह ब्रह्मानन्द के भोग की स्थिति में जा पहुँचता है।

आचार्य शुक्लजी ने अपर प्रजापति-रूप कवि द्वारा निर्मित काव्य-जगत् तथा ब्रह्म द्वारा सृष्ट जीव-जगत् दोनों में स्थितिसाम्य स्वीकार किया है। वल्लभाचार्य जगत् की उत्पत्ति के सम्बन्ध में अविकृत परिणामवाद के सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं। परिणाम विकृत और अविकृत, दोनों प्रकार का होता है। विकृत परिणाम वह है जब कोई पदार्थ रूपान्तरित होने पर पुनः पूर्वरूप में नहीं आ सके। जैसे, दूध से दही बन जाने पर वह पुनः दूध नहीं बन सकता। इसलिए, मूल कारण दूध में विकार आने से ही यह विकृत परिणाम कहलाता है। अविकृत परिणाम ठीक इसके विपरीत है। इसमें पदार्थ के रूप-परिवर्तन के बाद भी मूल कारण में कोई

विकार नहीं आता। जैसे शुद्ध सुवर्ण के विभिन्न आभूषणों में परिवर्तित होने पर भी सुवर्ण में कोई विकार नहीं आता। वह आभूषण से पुनः अपने सुवर्ण के मूल रूप में आ सकता है। इसलिए, यह अविकृत परिणाम कहलाता है। इसी प्रकार, शुद्ध ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति होती है, परन्तु ब्रह्म में कोई विकार उत्पन्न नहीं होता। सम्पूर्ण दृश्यमान जगत् शुद्ध ब्रह्म का ही अविकृत परिणाम है। सृष्टि करने की इच्छा से ब्रह्म ही जगत् में विविध पदार्थों या नाम-रूपों से प्रकट होता है। यही ब्रह्म की अलौकिकत्व से लौकिकत्व और पुनः लौकिकत्व से अलौकिकत्व में अविकृत परिणति है। वस्तुतः, ब्रह्म और जीव-जगत् में कोई पार्थक्य नहीं है, वरन् दोनों में अद्वैतत्व है। इसीलिए अविकृत-परिणामी ब्रह्म के बारे में कहा गया है: 'पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।'

वल्लभाचार्य की इसी विशुद्धाद्वैत-भावना के परिप्रेक्ष्य में आचार्य शुक्लजी ने साधारणीकरण का विवेचन किया है। काव्य-जगत् में रस की स्थिति ब्रह्म के समान है। कविराज विश्वनाथ महापात्र ने 'साहित्यदर्पण' (परि० ३) में रस-विवेचन के प्रसंग में रसानुभूति को 'ब्रह्मास्वादसहोदर' तथा 'अखण्डस्वप्रकाशानन्दचिन्मय' कहा है। यही रस के विभावन-व्यापार का अलौकिकत्व है जो इसी लोक की विशेष दशा (अवस्था) या प्रत्यक्षानुभूति का उदात्त और अवदात स्वरूप है। इस प्रकार की रसदशा में द्वैतत्व या अपनी पृथक् सत्ता की भावना का परिहार हो जाता है, अर्थात् रसात्मक अनुभूति के क्षण में मानव-हृदय की ब्रह्मानन्द की व्यापकता के साथ अद्वैतता स्थापित हो जाती है। साधारणीकरण या अद्वैतता की इस स्थिति में ही तो हम काव्य में निहित विषय को केवल अपने व्यक्तित्व से सम्बन्ध रूप में नहीं देखते या अपनी योगक्षेम-वासना की उपाधि से ग्रस्त हृदय द्वारा नहीं, अपितु निर्विशेष, शुद्ध और मुक्त हृदय से ग्रहण करते हैं। इस प्रकार अहं का विसर्जन या निःसंगता उक्त प्रकार की अद्वैतता की स्थिति में ही संभव है। इसलिए, हृदय की मुक्तदशा या निःसंगता की स्थिति में अनुभूत दुःख, शोक आदि विपरीत भाव भी रसात्मक हो जाते हैं, जीवानन्द और ब्रह्मानन्द, दोनों एकमेव हो जाते हैं और अपनी अविकृत परिणामवादिता के कारण ही ब्रह्मानन्द जीवानन्द का विषय होकर भी अविकृत ही बना रहता है। इससे स्पष्ट है कि काव्य की रसभूमि जीवन और जगत् से पृथक् वस्तु नहीं, अपितु दोनों में नित्य तदात्मकता या अभिन्नता है। नर-समष्टि की रागात्मिका प्रकृति की एक ऐसी अन्तर्भूमि होती है जहाँ पहुँचने पर हमें भिन्नता में अभिन्नता या द्वैत में अद्वैत की उपलब्धि होती है जिसका सम्बन्ध हृदय के भीतरी मूलदेश या सामान्य वासनात्मक सत्ता से है।

वल्लभाचार्य के विशिष्टाद्वैत-मत के अनुसार, विषय-सम्बन्ध से रहित आत्मा का विशुद्ध भाव ही मुक्ति है। आचार्य शुक्लजी ने आत्मा की इसी विशुद्धावस्था या मुक्तदशा को ज्ञानदशा कहा है। 'रसमीमांसा' में काव्य की साधना के सिद्धान्त के सम्बन्ध में विवेचना का विस्तार करते हुए शुक्लजी ने कहा है कि कोई मनुष्य जब तक अपनी पृथक् सत्ता की भावना को जगत् के नाना रूपों और व्यापारों को अपने योग-क्षेम, हानि-लाभ, सुख-दुःख आदि से सम्बन्ध करके देखता है, तब तक उसका हृदय एक प्रकार से बद्ध रहता है और पृथक् सत्ता की यह धारणा जब विशुद्ध अनुभूति मात्र रह जाती है, तब वही मुक्तहृदय हो जाता है और आत्मा की यही मुक्तावस्था ज्ञानदशा कहलाती है।

इस प्रकार, वल्लभाचार्य के पुष्टिमार्गीय ब्रह्मजीवैक्यवादी विशुद्धाद्वैत दर्शन से अनुप्राणित अपने साहित्य-दर्शन में आचार्य शुक्लजी ने काव्य-साधना को भावयोग, कर्मयोग और ज्ञानयोग के समानान्तर मानते हुए व्यापक लोकानुभूति-योग का अभ्यास कहा है जिसमें अनेकरूपात्मक जगत् के साथ अनेकाभावात्मक हृदय का रागात्मक सम्बन्ध स्थापित होता है और मनुष्य की व्यक्तिगत सत्ता व्यापक लोकसत्ता में लीन हो जाती है। वल्लभाचार्य के मत से यही, शुद्ध आत्मा और मुक्तहृदय द्वारा अधिगत की जानेवाली ब्रह्मविभूति की अनुभूति है। इसीलिए, ब्रह्म की इच्छा-सृष्टि की भाँति काव्य की रचना-प्रक्रिया कवि की गहनतम साधना-प्रक्रिया से सम्बद्ध है।

●

सम्पादक : परिषद्-पत्रिका<br>
बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्<br>
आचार्य शिवपूजन सहाय मार्ग,<br>
पटना—८००००४

# साधारणीकरण और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : मूल्यांकन

कु० निशारानी अग्रवाल

साधारणीकरण का प्रश्न साहित्य-जगत् में सर्वप्रथम भट्टनायक द्वारा दृश्य काव्य के आस्वादन के संदर्भ में उठाया गया। उनके अनुसार "शब्द के अभिधा व्यापार द्वारा काव्य-वर्णित वाच्यार्थ का बोध होता है। तत्पश्चात् भावकत्व व्यापार के द्वारा काव्य में दोषरहित गुणालंकारयुक्त भाषा के प्रयोग तथा नाट्य में चतुर्विध अभिनय के कलात्मक प्रदर्शन के फलस्वरूप विभावादि के साधारणीकरण की एक विशेष क्षमता आ जाती है तथा निविड़ निजमोह-संकट का निवारण हो जाता है, अर्थात् ममत्व एवं भेदपरक बुद्धि का लोप हो जाता है। ऐसे भावकत्व व्यापार से काव्यमान रस का अनुभव स्मृति आदि से विलक्षण तथा रजोगुण एवं तमोगुण के मिश्रण के वैचित्र्य बल के कारण द्रुति, विकास तथा विस्तार स्वरूप सत्त्वगुण के प्राधान्य द्वारा प्रकाशमान, आनंदमय साक्षात्कार में विश्रान्त स्वरूप वाला एवं परब्रह्म के आस्वाद-सदृश्य होकर, भोजकत्व व्यापार द्वारा आस्वादित किया जाता है।"[१]

संक्षेप में भट्टनायक ने साधारणीकरण विभावादि का माना। काव्य में यह क्षमता भाषा के दोषरहित एवं गुणालंकारमय प्रयोग से आती है तथा नाटक में चतुर्विधा अभिनय के कलात्मक प्रदर्शन से। इस प्रकार भट्टनायक ने भाषा एवं कलात्मक प्रदर्शन को अतिरिक्त महत्त्व दिया है।

उनके मत से भावकत्व व्यापार के द्वारा विभावादि का साधारणीकरण तथा निविड़-निजमोह-संकट का निवारण होता, फलस्वरूप रज एवं तम पर सतोगुण के प्राधान्य से ब्रह्मवाद सहोदर-आनन्द की प्राप्ति होती जिसका भोग सामाजिक भोजकत्व शक्ति द्वारा करता है।

अभिनवगुप्त ने भट्टनायक द्वारा उद्भावित साधारणीकरण को तो स्वीकार किया, लेकिन कतिपय संशोधनों के साथ। उन्होंने भावकत्व एवं भोजकत्व शक्ति को अनावश्यक सिद्ध करते हुए भावकत्व का समावेश तो व्यंजना शक्ति में किया तथा इसको अस्वाद रूप मानते हुए भोजकत्व शक्ति को निरर्थक बताया। अभिनवगुप्त के अनुसार—

१. साधरणीकरण विभावादि का न होकर प्रमाता के चित्त का होता है।

२. विभावादि न रस के कारक हैं न ज्ञापक, वरन् वे सामान्य प्रतीत होते हैं।

३. रस वस्तुरूप में आस्वादित नहीं होता, वरन् वह आस्वाद रूप है।

वे कहते हैं 'अस्मन्मते तु संवेदनमेवानन्दघनमास्वद्यते', अर्थात् मेरे मन से तो ज्ञान एवं आनन्दघन (आत्मा) का हो आस्वादन होता है। मात्र उसी की विचित्रता का सम्पादन करने के लिए रति, शोक आदि वासनाओं का व्यापार होता है तथा उन वासनाओं (स्थायी भावों) के उद्बोधन के लिये अभिनयादि (रूप नट का) व्यापार।

अभिनवगुप्त का कहना है कि सीता, रामादि (विशेष) की प्रतीति नाटक में विशेष रूप में नहीं होती, क्योंकि विशेष पदार्थ वर्तमान रहने पर ही अपने कार्य को कर सकते हैं। अतः नाट्य में अभिनेता की प्रतीति विशेष से भिन्न है।

प्रेक्षकों को नाट्य देखते समय या पाठक को काव्य पढ़ते समय रामादि बुद्धि नहीं रहती।

प्रश्न यह है कि विशेष की सामान्य रूप से प्रतीति किस प्रकार होती है।

अभिनवगुप्त के अनुसार असाधारण या विशेष अनुकार्य, जैसे रामादि, नाट्य में कभी दृष्टिगोचर नहीं होते। उनका शब्द-प्रमाण द्वारा वर्णन किया जाता है। यद्यपि रामायण-सदृश महाकाव्य के द्वारा रामादि की व्यक्ति विशेष रूप में बुद्धि उत्पन्न होती है, लेकिन विशेष पदार्थ वर्तमान रूप में ही संभावित अर्थक्रिया की सामर्थ्य रूप 'स्वलक्षणता' को प्राप्त करते हैं और उन रामादि की इस समय वर्तमानता नहीं है। अतः उनमें विशेष बुद्धि समाप्त हो जाती है।[२]

इस प्रकार 'इत्यपगता तावद्विशेषबुद्धिः' रामादि वर्तमान नहीं हैं, इसलिए उनमें विशेष बुद्धि नहीं बनती।

शब्द द्वारा होने वाला ज्ञान सामान्यावधारण-प्रधान होता है।

अभिनवगुप्त स्पष्टतया कहते हैं कि नट राम के सदृश हर्ष, शोकादि को नहीं करता, बल्कि उनके सजातीय हर्ष, शोकादि को करता है—'सजातीय अनुभावानकरोति''[३]

'सजातीय' शब्द जाति से सम्बन्धित है। जाति को न्यायसिद्धान्त में नित्य और अनेक पदार्थों में समवेत धर्म माना गया है—'नित्यत्वे सति अनेकसमवेत्वं जातिः'।

वैशेषिक में इसी जाति के लिए सामान्य शब्द का प्रयोग मिलता है।

अभिनवगुप्त के अनुसार सहृदय के, काव्यानुशीलन के अभ्यासवश, निर्मल हुए मनोमुकुर में सामान्य प्रतीत होते हुए विभावादि से सहृदय-संवाद करने की क्षमता होती है। फलस्वरूप उसका हृदय काव्यार्थ से संवाद स्थापित कर उसमें तन्मय हो जाता है। यही समाधिदशा या रस-दशा है जब सहृदय की चेतना तन्मयीभवन योग्यता द्वारा विषय में लीन हो विश्रांत हो जाती है।

अभिनवगुप्त कहते हैं कि काव्य या नाट्य के अनुशीलन एवं प्रभाव से सहृदय का चित्त साधारणीकृत हो जाता है, अर्थात् संकुचित स्वार्थ से परे, देशकालातीत हो जाता है।

यह साधारणीकरण परिमित नहीं रहता, अपितु अनादि संस्कारों द्वारा चित्रित चित्त वाले सारे सामाजिकों की एक-जैसी वासना होने के कारण सबको एक-जैसी ही रस-प्रतीति होती है।

इसके अतिरिक्त केवल प्रबन्ध-काव्य एवं दृश्य काव्य के द्वारा ही काव्यार्थ का साक्षात्कार-कल्प नहीं होता, वरन् मुक्तक-काव्य के द्वारा भी जिसमें परिमित विभावादि का उन्मीलन होता है, साक्षात्कारात्मक प्रतीति होती है।[४]

लेकिन यह साक्षात्कार-कल्प उन्हीं को होता है जो सहृदय हैं, अर्थात् जो पूर्वजन्म के पुण्यों के प्रभाव से विशिष्ट संस्कार-प्राप्त तथा काव्याभ्यास एवं अनुशीलन से युक्त हैं।

अभिनवगुप्त ने रसास्वादन के लिये दो अनिवार्यताएँ उल्लिखित कीं—

१. सहृदयता—प्राक्तन संस्कार एवं काव्यानुशीलनाभ्यास से निर्मल हृदय दर्पण प्रकारान्तर से साधारणीकृत हृदय।

२. विभावादि का हृदय-संवादी होना।

वे स्पष्टतया कहते हैं—

> योऽर्थो हृदयसंवादी तस्य भावो रसोद्भवः
> शरीरं व्याप्यते तेन शुष्कं काष्ठमिवाग्निना।[५]

जो अर्थ (विभावादि वस्तु) हृदय के साथ संवाद करने वाला होता है, उसकी भावना रस की अभिव्यक्ति का कारण होती है। वह सहृदय के शरीर को इस प्रकार व्याप्त कर लेती है, जैसे शुष्क काष्ठ को अग्नि।

इस प्रकार अभिनवगुप्त ने रसास्वादन के प्रसंग में, यद्यपि प्रमाता के चित्त का साधारणीकरण माना, फिर भी इस तथ्य की उन्होंने उपेक्षा नहीं की कि विभावादि की प्रस्तुति या काव्य का कलापक्ष गौण होता है, क्योंकि वे उसके लिए हृदयसंवादी होना पहली अनिवार्यता मानते हैं। दृश्य-काव्य में संगीत एवं आकर्षक दृश्य-विधान की अवतारणा सामाजिक के रसास्वादन के मध्य आये हुए विघ्नों के परिहार के लिये ही होता है। बिम्ब रूप में उपस्थित नाट्य या काव्य सामग्री सामाजिक की चेतना में साधारणीकृत भाव का उदय करती है और वह देशकाल एवं संकुचित स्वार्थ से परे होकर उसका अनुभव करता है और यह अनुभव इतना गहन होता है कि एक विलक्षण भूमिका में आत्म-परामर्श होने पर उसकी चेतना विश्रांत हो जाती है।

आधुनिक युग में साधारणीकरण का प्रश्न शास्त्रीय परिप्रेक्ष्य में उठाने वाले हिन्दी साहित्य के मनीषियों में, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का स्थान अग्रगण्य है।

कतिपय विद्वानों की ऐसी मान्यता रही है कि शुक्ल जी भट्टनायक के साधारणीकरण से प्रभावित जान पड़ते हैं। संभवतः इसलिये क्योंकि भट्टनायक ने विभावादि का साधारणीकरण माना तथा शुक्लजी ने आलम्बनत्व धर्म का।

सिद्धान्ततः दोनों ने ही विभावादि का साधारणीकरण स्वीकार किया, लेकिन व्यवहार में दोनों में अन्तर लक्षित किया जा सकता है।

भट्टनायक द्वारा प्रतिपादित विभावादि के साधारणीकरण में भाषा के भावमय प्रयोग पर बल है तथा शुक्लजी द्वारा प्रतिपादित साधारणीकरण में आलम्बन रूप में प्रतिष्ठित व्यक्ति में सामान्य गुणों की प्रतिष्ठा पर बल है।

इस प्रकार विभावादि के साधारणीकरण की बात सिद्धान्ततः एक होते हुए भी व्यवहारतः भिन्न है।

अभिनवगुप्त के साधारणीकरण से शुक्लजी के साधारणीकरण का मूल अन्तर यही है कि एक प्रमाता के चित्त का साधारणीकरण मानते हैं, दूसरे आलम्बनत्व धर्म का।

वस्तुतः अभिनवगुप्त द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त का विश्लेषण करने पर हम पाते हैं कि शुक्लजी के विचार उनके विचारों से अधिक मेल खाते हैं। अन्तर केवल विवेचन-प्रणाली, काव्य-विधा एवं आधुनिक मानसिकता का है। अभिनवगुप्त का विवेचन मुख्यतया नाट्य और वह भी मंचित नाट्य पर अवलम्बित है। उनकी दृष्टि का केन्द्र है अनुकर्ता एवं अनुकार्य, जबकि रामचन्द्र शुक्ल का विवेचन पाठ्य काव्य पर आधारित है, अतः उनकी दृष्टि का केन्द्र है पात्र अथवा काव्यगत आश्रय एवं आलम्बन।

शुक्लजी कहते हैं—काव्य का विषय सदा 'विशेष' होता है, 'सामान्य' नहीं; वह 'व्यक्ति' सामने लाता है, 'जाति' नहीं।[६] इस सिद्धान्त की व्याख्या करते हुए वे कहते हैं, काव्य का काम है कल्पना में बिम्ब (इमेजेज़) या मूर्त भावना उपस्थित करना, बुद्धि के सामने कोई विचार (कॉन्सेप्ट) लाना नहीं। बिम्ब जब होगा, तब विशेष या व्यक्ति का ही होगा, सामान्य या जाति का नहीं।

अपने सिद्धान्त की तुलना प्राचीन आचार्यों द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त से करते हुए वे स्वयं कहते हैं, "अब यह देखना चाहिए कि हमारे यहाँ विभावन-व्यापार में जो साधारणीकरण कहा गया है, उसके विरुद्ध तो यह सिद्धान्त नहीं जाता। विचार करने पर यह स्पष्ट हो जायगा कि दोनों में कोई विरोध नहीं पड़ता। विभावादिक साधारणतया प्रतीत होते हैं। इस कथन का अभिप्राय यह नहीं है कि रसानुभूति के समय श्रोता या पाठक के मन में आलम्बन आदि विशेष

व्यक्ति वस्तु की मूर्त भावना के रूप में न आकर सामान्यतः व्यक्ति मात्र या वस्तु मात्र (जाति) के अर्थसंकेत के रूप में आते हैं। साधारणीकरण का अभिप्राय यह है कि पाठक या श्रोता के मन में जो व्यक्ति-विशेष या वस्तु-विशेष आती है, वह जैसे काव्य में वर्णित आश्रय के भाव का आलम्बन होती है; कल्पना की मूर्ति तो विशेष ही की होगी। पर वह मूर्ति ऐसी होगी जो प्रस्तुत भाव का आलम्बन हो सके जो उसी भाव को पाठक या श्रोता के मन में भी जगाये जिसकी व्यंजना आश्रय अथवा कवि करता है। इससे सिद्ध हुआ कि साधारणीकरण आलम्बनत्व धर्म का होता है। व्यक्ति तो विशेष रहता है, पर उसमें प्रतिष्ठा ऐसे सामान्य धर्म की रहती है जिसके साक्षात्कार से सब श्रोताओं या पाठकों के मन में एक ही भाव का उदय थोड़ा या बहुत होता है। तात्पर्य यह है कि आलम्बन रूप में प्रतिष्ठित व्यक्ति समान प्रभाववाले कुछ धर्मों की प्रतिष्ठा के कारण सबके भावों का आलम्बन हो जाता है। विभावादि सामान्य रूप में प्रतीत होते हैं—इसका तात्पर्य यही है कि रसमग्न पाठकों के मन में यह भेदभाव नहीं रहता कि यह आलम्बन मेरा है या दूसरे का। थोड़ी देर के लिये पाठक या श्रोता का हृदय लोक का सामान्य हृदय हो जाता है। उसका अपना अलग हृदय नहीं रहता।"[७]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि शुक्लजी अभिनवगुप्त के कथन—विभावादि सामान्य प्रतीत होते हैं—से अपने सिद्धान्त का अविरोध स्वयं ही प्रकट करते हैं। अभिनवगुप्त ने अपने इस कथन की व्याख्या दार्शनिक पृष्ठभूमि 'अर्थक्रियाकारित्व' पर की थी तथा स्पष्टतया इस तथ्य का उल्लेख किया था कि 'काव्य' शब्द व्यापार होने के कारण 'सामान्यावधारण-प्रधान' होता है, इसलिए रामादि विशेष की अवतारणा होते हुए भी सहृदय की उसमें विशेष बुद्धि नहीं रहती। फलस्वरूप विभावादि सामान्य प्रतीत होते हैं। इसके अतिरिक्त प्रमाता का साधारणीकृत चित्त भेदभाव से परे होकर विषय का ग्रहण करता है, इसलिये उसका हृदय निर्विशेष स्थिति में रहता है। शुक्लजी भी कहते हैं कि रसमग्न पाठक भेदभाव से परे होकर काव्यगत आलम्बन को अपना आलम्बन मानने लगते हैं। इस दृष्टि से शुक्लजी के विचार से भी 'विभावादि का सामान्य प्रतीत होना' पाठकों की साधारणीकृत चेतना का परिचायक सिद्ध होता है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का कहना है कि "बात यह है कि 'काव्य' शब्द व्यापार है। वह शब्द-संकेतों के द्वारा ही अन्तस् में वस्तुओं और व्यापारों का मूर्ति-विधान करने का प्रयत्न करता है। अतः जहाँ तक काव्य की प्रक्रिया का सम्बन्ध है, वहाँ तक रूप और व्यापार कल्पित ही होते हैं। कवि जिन वस्तुओं और व्यापारों का वर्णन करने बैठता है, वे उस समय उसके सामने नहीं होते, कल्पना में ही होते हैं। पाठक या श्रोता भी अपनी कल्पना द्वारा ही उनका मानस-साक्षात्कार करके उनके आलम्बन से अनेक प्रकार के रसानुभव करता है।"[८] इस प्रकार काव्य को शब्द-व्यापार एवं कल्पना-व्यापार मानकर शुक्लजी भी यही कहना चाहते हैं कि काव्य का सम्बन्ध विशेष से होने पर भी वह निर्विशेष ही प्रतीत होता है। इसके अतिरिक्त शुक्ल जी जहाँ यह कहते हैं कि साधारणीकरण आलम्बन धर्म का होता है, अर्थात् आलम्बनत्व में ऐसे सामान्य गुणों की प्रतिष्ठा जिसके साक्षात्कार से सभी श्रोताओं एवं पाठकों के हृदय में एक ही भाव का उदय थोड़ा या बहुत हो, वहाँ अभिनवगुप्त का कहना है कि अनुकर्ता अनुकार्य के सजातीय भावों का अनुभावन करता है, सदृश का नहीं। सजातीय का सम्बन्ध जाति से है। न्याय सिद्धान्त में जाति का अर्थ अनेक पदार्थों में समवेत धर्म माना गया है।

शुक्ल जी का विवेचन आलम्बनोन्मुखी है तथा अभिनवगुप्त का अभिनेतोन्मुखी। प्राचीन आचार्यों ने रसानुभूति की प्रक्रिया के अन्तर्गत आलम्बन का प्रथम रूप में विचार न कर अनुकर्ता एवं अनुकार्य का विचार किया।

शुक्लजी कहते हैं कि "रसमग्न पाठक या श्रोता का कवि या आश्रय के भावों के साथ तादात्म्य तथा आलम्बन का साधारणीकरण होता है, अर्थात् आश्रय के द्वारा व्यंजित भावों का आलम्बन श्रोता या पाठक के भावों का भी आलम्बन हो जाता है। इस प्रकार आश्रय के साथ पाठक तादात्म्य स्थापित कर उसी भाव का रसात्मक अनुभव करता है। तात्पर्य यह है कि रस-दशा में अपनी पृथक् सत्ता की भावना का परिहार हो जाता है। अर्थात् काव्य में प्रस्तुत विषय को हम अपने व्यक्तित्व से सम्बद्ध रूप में नहीं देखते, अपनी योगक्षेम वासना की उपाधि से ग्रस्त हृदय द्वारा ग्रहण नहीं करते, बल्कि निर्विशेष, शुद्ध और मुक्त हृदय द्वारा ग्रहण करते हैं। इसी को पाश्चात्य समीक्षा-पद्धति में अहं का विसर्जन और निःसंगता कहते हैं। इसी को चाहे रस का लोकोत्तरत्व या ब्रह्मानन्द-सहोदरत्व कहिये, चाहे विभावन, व्यापार का अलौकित्व। अलौकिकत्व का अभिप्राय इस लोक से सम्बन्ध न रखने वाली कोई स्वर्गीय विभूति नहीं।"[९]

उपर्युक्त कथन इस तथ्य की पुष्टि करता है कि अभिनवगुप्त की भाँति शुक्लजी भी मानते हैं कि श्रोता या पाठक निर्विशेष हृदय से काव्य का ग्रहण करता तथा रसदशा को प्राप्त होता है। प्रकारान्तर से यही प्रमाता के चित्त का साधारणीकरण है जिसे सिद्धान्तः 'साधारणी-करण' शब्द द्वारा न सूचित करते हुए भी शुक्लजी काव्य-ग्रहण में पाठक या श्रोता की स्थिति के विवेचन द्वारा स्वीकृत करते हैं।

जहाँ तक आलम्बनत्व धर्म के साधारणीकरण का प्रश्न है, वह कविकर्म से सम्बन्धित है क्योंकि शुक्ल जी स्पष्टतया कहते हैं, "जब तक किसी भाव का कोई विषय इस रूप में नहीं लाया जाता कि वह सामान्यतः सबके उसी भाव का आलम्बन हो सके, तब तक उसमें रसोद्बोधन की पूर्ण शक्ति नहीं आती। इसी रूप से लाया जाना हमारे यहाँ साधारणीकरण कहलाता है। यह सिद्धान्त यह घोषित करता है कि सच्चा कवि वही है जिसे लोकहृदय की पहचान हो, जो अनेक विशेषताओं और विचित्रताओं के बीच मनुष्य जाति के सामान्य हृदय को देख सके। इसी लोकहृदय में हृदय के लीन होने की दशा का नाम रसदशा है।"[१०]

तात्पर्य यह है कि विशेष में सामान्य की अनुभूति कर काव्य में उसकी प्रतिष्ठा करना कवि का कर्म है। अतः सर्वप्रथम कवि रसदशा को पहुँचता है और तब विषय रूप में उसके प्रतिपादन द्वारा पाठक को रसास्वादन कराता है। अभिनवगुप्त ने इसी तथ्य को इन शब्दों में प्रकट किया है—

"यो मूलबीजस्थानीयात् कविगतौ रसः। कविर्हि सामाजिक तुल्य एव। ततो वृक्षस्थानीय काव्यम्। ततो तत्र पुष्पादिस्थानीयोऽभिनयादि नटव्यापारः। तत्र फलस्थानीयः सामाजिक रसास्वादः। तेन रसमयमेव विश्वम्।[११]

(मूल बीजस्थानीय कविगत रस है। कवि भी सामाजिक के तुल्य है। काव्य वृक्ष की भाँति है जिसमें पुष्पादि के रूप में नट का अभिनय व्यापार होता है तथा फल ही प्राप्ति सामाजिक को रसास्वाद रूप में होती है।)

अभिनवगुप्त एवं रामचन्द्र शुक्ल के साधारणीकरण-सम्बन्धी विचारों का विवेचन करने पर पाते हैं कि दोनों में अद्भुत साम्य है। जो अन्तर लक्षित होता है, वह देश-काल के अन्तराल का है।

प्राचीन साहित्यशास्त्रियों की काव्य-सम्बन्धी अवधारणाओं का अवलोकन करने पर एक रोचक तथ्य यह सामने आता है कि कालचक्र के अनुसार कभी कविकर्म गौण और रहा काव्य प्रधान, कभी सामाजिक प्रधान रहा और काव्य गौण तथा कभी कविकर्म प्रधान हुआ और सामाजिक गौण।

अभिनवगुप्त के काल में कवि, काव्य और सामाजिक की सापेक्षिक महत्ता को स्वीकार करते हुए भी रस की स्थिति आत्मगत घोषित हुई जिसका आश्रय था—सामाजिक। इसी संदर्भ में काव्यग्रहण तथा रसानुभूति का प्रश्न उठा तथा साधारणीकरण की उद्भावना हुई। परम्परागत कलापक्ष की महत्ता का प्रभाव भट्टनायक पर शेष था, अतः उन्होंने विभावादि का, जिसमें भाषा के भावमय प्रयोग पर बल था, साधारणीकरण माना। लेकिन अभिनवगुप्त ने सामाजिक को प्रमुखता दी, अतः प्रमाता के चित्त का साधारणीकरण माना।

आधुनिक युग तक आते-आते मनोविज्ञान एवं पाश्चात्य प्रभाव से कवि को प्रधानता मिलने लगी। फलतः शुक्लजी ने आलम्बनत्व धर्म का साधारणीकरण मानकर इसे कविकर्म से सम्बद्ध कर दिया, जबकि विवेचन की दृष्टि से उनके विचार अभिनवगुप्त से अधिक साम्य रखते हैं।

विज्ञान, पाश्चात्य मत एवं तुलसी की लोकमांगलिक दृष्टि से प्रभावित होते हुए शुक्लजी ने रसास्वादन के सम्बन्ध में कतिपय मौलिक विचार भी प्रस्तुत किया है जिनका उल्लेख अप्रासंगिक न होगा।

प्राचीन आचार्यों ने रस को एक ही दशा माना और वह है पूर्ण तादात्मय की जिसमें श्रोता या पाठक आश्रय (भाव-व्यंजना करने वाला पात्र) के साथ तादात्म्य करता तथा उसी भाव का रसरूप में अनुभव करता है।

शुक्लजी कहते हैं कि रस की एक नीची अवस्था और है जिसका हमारे यहाँ साहित्य-ग्रन्थो में विवेचन नहीं हुआ है। इस दशा में पाठक आश्रय के भावों के साथ तादात्म्य करके उसके शीलद्रष्टा या प्रकृतिद्रष्टा के रूप में प्रभाव ग्रहण करेगा। जैसे परशुराम द्वारा लक्ष्मण के प्रति प्रदर्शित क्रोध में पाठक का तादात्म्य कवि के उस अव्यक्त भाव के साथ होगा जिसके अनुरूप वह पात्र का स्वरूप संगठित करता है तथा पात्र का आलम्बन पाठक के भावों का आलम्बन न बनकर स्वयं पात्र ही पाठक के किसी भाव का आलम्बन हो जाता है।

शुक्लजी कहते हैं इस सम्बन्ध में सबसे अधिक ध्यान देने की बात यह है कि शील-विशेष के परिज्ञान से उत्पन्न भाव की अनुभूति और आश्रय के साथ तादात्म्य दशा की अनुभूति (जिसे आचार्यों ने रस कहा है) दो भिन्न कोटि की रसानुभूतियाँ हैं। प्रथम में श्रोता या पाठक अपनी पृथक् सत्ता अलग सँभाले रहता है। द्वितीय में अपनी पृथक् सत्ता का कुछ क्षणों के लिये विसर्जन कर आश्रय की भावात्मक सत्ता में मिल जाता है।

शुक्लजी ने काव्यग्रहण की एक तीसरी स्थिति भी उल्लिखित की है जिसमें आश्रय की जिस भाव-व्यंजना को श्रोता या पाठक का हृदय कुछ भी अपना न सकेगा, उसका ग्रहण केवल शील-वैचित्र्य के रूप में होगा। इस स्थिति में कोई भाव उत्पन्न होकर अपरितुष्ट दशा में रह जायगा।

शुक्लजी का यह कहना कि उत्कृष्ट शीलवाले आश्रय के साथ पाठक तादात्म्य स्थापित कर लेता है, उनकी नैतिकतावादी दृष्टि का परिचय देती है। प्राचीन आचार्यों ने रसानुभूति की प्रक्रिया में शील का प्रश्न नहीं उठाया था।

उपर्युक्त समस्त विवेचनों से एक तथ्य तो स्पष्ट ही हो गया है कि साधारणीकरण का अर्थ है असाधारण को साधारण रूप में और विशिष्ट को सामान्य रूप में प्रस्तुत करना। प्रकारान्तर से देश-काल की परिच्छिन्नता तथा व्यक्ति-संसर्गों से मुक्ति दिलाना।

कवि विभावादि की प्रस्तुति इस प्रकार करता है कि वे विशिष्ट होने पर भी सामान्य प्रतीत होते हैं। कवि का समस्त प्रयास सामाजिक की चेतना को निजबद्धता की स्थिति से मुक्ति एवं स्वातन्त्र्य की ओर ले जाने के लिए होता है। भाषा का भावमय प्रयोग या अभिनय के कलात्मक प्रदर्शन में सजगता तथा गीत, वाद्य आदि की नाटकों में योजना केवल इसीलिए होती है कि सामाजिक को अपने देश-काल के बन्धन से मुक्त करके ऐसी मनःस्थिति में ले चलें जहाँ आनन्द ही आनन्द है। इसीलिए साधारणीकरण प्रमाता के चित्त का माना गया क्योंकि कवि तो निर्वैयक्तिकता की स्थिति में पहुँचने पर ही काव्य-सृजन करता है। लेकिन उसकी सफलता का निकष है—सामाजिक। यदि सामाजिक की हृदयगत वासना काव्यार्थ से उद्‌बुद्ध होकर उसके साथ हृदय-संवाद स्थापित कर लेती है तथा काव्यानुशीलन से निर्मल हुआ उसका हृदय थोड़ी देर के लिये ही भेदपरक बुद्धि का लोप कर काव्य विषय से अभेद स्थापित कर लेता है तो यह कवि की सफलता कही जायेगी। इसीलिए हमारे प्राचीन संस्कृत आचार्य साधारणीकरण का संदर्भ सामाजिक पक्ष से उठाते रहे।

सौंदर्यशास्त्र के ब्रिटिश जर्नल में कृष्णरायन 'रस और ऑब्जेक्टिव कोरिलेटिव' शीर्षक निबन्ध में लिखते हैं, "संस्कृत सिद्धान्त साधारणीकरण को कवि के अन्दर घटित होने वाली प्रक्रिया के रूप में नहीं, पाठक के मन में होने वाली प्रक्रिया के रूप में परिभाषित करता है। अभिनवगुप्त के अनुसार साधारणीकरण की स्थिति शैलीगत गुणों, आलंकारिक अभिव्यक्ति, लय, संगीत तथा नृत्य-गान आदि के द्वारा लायी जाती है। स्पष्टतया ये तत्त्व कवि की सामाग्री को नहीं प्रभावित करते, वरन् पाठक के मन को प्रभावित करते हैं जिसके कारण वह यथार्थ जगत् के परे सौन्दर्य-जगत् में पहुँच जाता है जहाँ व्यक्तिगत एवं विशेष का स्थान नहीं रहता।"[१२]

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने यद्यपि आलम्बनत्व धर्म का साधारणीकरण मानकर प्रकारान्तर से उसे कविकर्म से सम्बद्ध कर दिया, लेकिन अपने विवेचन-क्रम में उन्होंने अभिनवगुप्त द्वारा प्रतिपादित विचारधारा से अद्‌भुत साम्य का परिचय दिया है। कहीं-कहीं उनके कथन में आपसी विरोध भी लक्षित होता है, लेकिन वस्तुस्थिति की जटिलता का अनुभव करते हुए उसकी उपेक्षा करनी पड़ती है और मूल रूप से यह देखने की कोशिश करनी पड़ती है कि उनका तथ्य क्या है।

रसदशा की प्राप्ति के लिए उन्होंने भाव (सहृदयगत वासना) एवं काव्यगत विभाव के साथ सामंजस्य को अनिवार्य माना क्योंकि एक तरफ वे आश्रय के साथ तादात्म्य तथा आलम्बन धर्म में साधारणीकरण की बात करते हैं तो दूसरी ओर सहृदय के हृदय की मुक्तता की। अभिनवगुप्त ने भी 'योऽर्थो हृदयसंवादी' तथा सहृदय के 'सहृदय-संवाद-माजकता' के द्वारा इसी तथ्य को प्रतिपादित किया है।

इस दृष्टि से आचार्य रामचन्द्र शुक्ल को साधारणीकरण की साहित्यिक चर्चा के संदर्भ में आधुनिक युग का अभिनवगुप्त कहा जा सकता है।

## संदर्भ-संकेत

१. तस्मात् काव्ये दोषाभावगुणालङ्कारमयत्वलक्षणेन, नाट्ये चतुर्विधाभिनयरूपेण निविडनिजमोहसङ्कटनिवारणकारिणा विभावादिसाधारणीकरणात्मना, अभिधातो द्वितीयेन, भावकत्व व्यापारेण भाव्यमानो रसोऽनुभवस्मृत्यादिविलक्षणेन रजस्तमोऽनुवेधवैचित्र्यबलाद्‌वृद्धि विस्तार-विकास-लक्षणेन सत्त्वोद्रेकप्रकाशानन्दमयनिज-संविद्विश्रान्तिविलक्षणेन परब्रह्मास्वादसविधेन भोगेन परं भुज्यत इति। 'उद्धृत' 'अभिनवभारती' में। २. अभिनव भारती-कारिका १०७। ३.

अभिनव भारती। ४. अभिनव भारती-षष्ठ भाग। ५. ध्वन्यालोक लोचन। ६. 'साधारणीकरण और व्यक्ति-वैचित्र्यवाद', निबन्ध संकलित 'चिन्तामणि—भाग १। वैसे सब ही सहृदय पाठकों या श्रोताओं के भाव का आलम्बन हो जाता है। ७. 'साधारणीकरण और व्यक्ति-वैचित्र्यवाद', संकलित चिंतामणि—भाग १ पृष्ठ १५१। ८. 'रसात्मक बोध के विविध रूप'—चिंतामणि, भाग १। ९. 'रसात्मक बोध के विविध रूप' चिन्तामणि, भाग १, पृ० १६९। १०. साधारणीकरण और व्यक्ति-वैचित्र्यवाद। ११. अभिनवभारती। १२. 'ब्रिटिश जर्नल ऑफ एस्थेटिक्स', जुलाई, १९६५। कृष्णरायन का 'रस ऐंड द ऑब्जेक्टिव कोरिलेटिव' लेख।

●

शोधछात्रा
हिन्दी विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद

# आचार्य शुक्ल की सौंदर्य-दृष्टि

डॉ० प्रेमकान्त टण्डन

किसी विचारक-साहित्यकार की सौंदर्य-दृष्टि के विवेचन का तात्पर्य है उसके मतानुसार रचना और रचनाकर्म के सर्वोच्च मूल्य की मीमांसा करना। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार रचनाकर्म का सर्वोच्च मूल्य है "अनुभूतियोग" या "भावयोग" जिसको उन्होंने "ज्ञानयोग" और "कर्मयोग" के समकक्ष माना है और जिसकी बहुत विस्तृत विवेचना उन्होंने अपने साहित्यिक चिंतन में की है। उनकी इस संश्लिष्ट सौंदर्य-दृष्टि की व्याप्ति और उसका प्रतिफलन उनके समस्त लेखन में अन्तर्वर्ती आधार-सूत्र के रूप में बराबर लक्षित किया जा सकता है।

साहित्यकार की सौंदर्य-दृष्टि सहसा निर्मित नहीं हो जाती। सुदीर्घ साधना-काल और जीवनानुभव के बीच क्रमशः उसकी दृष्टि का विकास और निर्माण होता है। सम्भव है कि इस प्रक्रिया के विभिन्न चरणों में कहीं कुछ अंतर भी लक्षित हो। आचार्य शुक्ल का लेखन-काल लगभग चालीस वर्षों की विस्तृत अवधि में फैला हुआ है। उनकी सौंदर्य-दृष्टि के निर्धारण में उनके अपरिपक्व वय के लेखन को भी सम्मिलित किया जाता है। अतएव संभव है कि इसमें कहीं कुछ असंगति या अंतर्विरोध या उथलापन लक्षित हो। लेकिन उनकी परिणत काव्य-सौंदर्य-दृष्टि एक समग्र, संश्लिष्ट, तर्कपुष्ट एवं अभिजात मौलिक सौंदर्य-दृष्टि है जिसमें अनुभूति-योग और भावयोग के अतिरिक्त व्यक्त गोचर जगत्, लोकधर्म, कर्म और गत्यात्मक प्रयत्न-सौंदर्य, विरुद्धों का सामंजस्य, प्रेम और करुणा, रागात्मक जीवन का संस्कार और शेष सृष्टि के साथ हृदय-तादात्म्य, मनुष्यता की साधना, आनन्द, मंगल, रस आदि का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है।

आचार्य शुक्ल के अनुसार "अनुभूतियोग" सौंदर्यानुभूति की आनन्दपूर्ण स्थिति है। यह सहृदय श्रोता-पाठक की एक अत्यन्त उच्च मानसिक अवस्था है क्योंकि उसके सात्त्विक आत्म-त्याग भाव का संचार होता है। इस अवस्था की सिद्धि कविता के माध्यम से होती है। कविता को इस प्रकार सर्वोच्च मूल्य का साधनभूत मानकर आचार्य शुक्ल ने विशेषकर आधुनिक संशय-वादियों के समक्ष काव्य के अपरिहार्य महत्त्व की साग्रह प्रतिष्ठा की।

"विश्व प्रपंच" की विस्तृत भूमिका में उनके कुछ कथनांश ऐसे हैं जिनके आधार पर उनको वस्तुवादी या भौतिकवादी ठहराया गया है। परन्तु पता नहीं क्यों, यह तथ्य विद्वानों की दृष्टि से ओझल हो जाता है कि "विश्व प्रपंच" रूपान्तर-कार्य है और उसकी भूमिका आचार्य शुक्ल का एकमात्र प्रमुख कृतित्व नहीं है। आचार्य को हम मुख्यतः साहित्येतिहासकार और सहृदय समालोचक के रूप में जानते-समझते हैं और उनके इसी कृतित्व के आधार पर हमारी दृष्टि उनके अनुवाद-कार्यों और अनूदित रचनाओं की भूमिकाओं पर जाती है। अन्यथा न मालूम कितने ऐसे साधक हुए जिन्होंने अंग्रेज़ी और संस्कृत के बहुत से ग्रन्थों का हिन्दी में रूपान्तर किया और अनुवादों के साथ भूमिकाएँ भी लिखीं। लेकिन साहित्य-जगत् ने कभी उनकी ओर मुड़कर भी नहीं देखा। इस सन्दर्भ में अवधवासी लाला सीताराम का नाम लिया जा सकता है। वस्तुतः आचार्य शुक्ल की प्रमुख कृतियाँ हिन्दी साहित्य का इतिहास, रसमीमांसा, चिंतामणि

(३ भाग), सूरदास, तुलसीदास और जायसी-ग्रन्थावली की विस्तृत भूमिका हैं। इन सबको छोड़कर केवल 'विश्व प्रपंच' की भूमिका के आधार पर उनके समस्त चिंतन और साहित्यिक व्यक्तित्व का आकलन करना उचित नहीं है। इसके अतिरिक्त, जैसा कि प्रोफेसर रामस्वरूप चतुर्वेदी मानते हैं, आचार्य शुक्ल मूलतः साहित्येतिहासकार और समालोचक थे, दर्शनशास्त्री अथवा किसी दार्शनिक सिद्धान्त के प्रतिपादक नहीं। ऐसी स्थिति में उनके लेखन में किसी बहुत तर्कपुष्ट, सुव्यवस्थित दार्शनिक मतवाद का अनुसंधान निरर्थक होगा। लेकिन फिर भी उनके समग्र चिंतन-लेखन के आधार पर उनका जो दर्शन उद्भासित होता है, उसके अनुसार आचार्य शुक्ल को आत्मवादी मानना ही अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। आचार्य शुक्ल ने ब्रह्म और विश्वात्मा पर बार-बार विश्वास व्यक्त किया है। उनके मतानुसार यह नाना रूप-व्यापारात्मक जगत् अव्यक्त ब्रह्म की गोचर अभिव्यक्ति है और कविता इसी गोचर अभिव्यक्ति की अभिव्यक्ति है। चराचर के बीच मनुष्य की रागात्मिका वृत्ति का प्रसार, शेष सृष्टि के साथ तादात्म्य और इस प्रकार सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म की व्यक्त सत्ता में स्वयं को लीन कर आत्मसत्ता के विभुत्व का आभास प्राप्त करना समस्त रचना-कर्म और जीवन का चरम साध्य है। यहाँ उनकी सौंदर्य-दृष्टि का आत्मवाद से सीधा सम्बन्ध दिखाई देता है। परन्तु भावना के स्तर पर वे आत्मबोध और जगत्-बोध में अन्तर नहीं मानते। अपने को वे स्वयं "अभिव्यक्तिवादी" मानते हैं। जगत् अव्यक्त ब्रह्म की गोचर अभिव्यक्ति है और काव्य का सम्बन्ध इसी गोचर अभिव्यक्ति से है। काव्य और सौंदर्य विषयक अपने समस्त चिंतन में उन्होंने लोकजीवन, वस्तुतत्त्व, भौतिक जगत् एवं उसके मूर्तरूप-व्यापारों को महत्त्व दिया है। कविता गोचर रूप-व्यापारों के माध्यम से अनुभूतियोग अथवा सौंदर्यानुभूति की दशा तक पहुँचाती है। अतएव, उनके अनुसार सौंदर्य वस्तुनिष्ठ है जैसे वीरकर्म से पृथक् वीरत्व कोई पदार्थ नहीं है, वैसे ही सुन्दर वस्तु से पृथक् सौंदर्य कोई पदार्थ नहीं है।...... यही बाहर हँसता-खेलता, रोता-गाता, खिलता-मुर्झाता जगत् भीतर भी है जिसे हम मन कहते हैं। जिस प्रकार यह जगत् रूपमय और गतिमय है, उसी प्रकार मन भी। मन भी रूप-गति का संघात ही है। हमें अपने मन का और अपनी सत्ता का बोध रूपात्मक ही होता है।[1] इसी कारण से सौंदर्यबोध भी रूपात्मक है और सौंदर्य वस्तुनिष्ठ है। अतः ब्रह्म और विश्वात्मा में विश्वास के कारण तो आचार्य शुद्ध आत्मवादी ठहरते हैं, परन्तु काव्य का सम्बन्ध मात्र गोचर जगत् से मानकर, उसकी प्रकृतभूमि मनोमय कोश तक सीमित कर देने के कारण उनका "अभिव्यक्तिवाद" भौतिकवाद का पर्याय बन जाता है। उनकी सौंदर्य-दृष्टि परलोकोन्मुखी नहीं है, काव्य का सम्बन्ध इहलोक और केवल इहलोक से है, परलोक से बिल्कुल नहीं। उनकी सौंदर्य-दृष्टि धर्मनिरपेक्ष नहीं है, परन्तु उनका धर्म आध्यात्मिक जगत् से सम्बद्ध और "मोक्ष-दाता" धर्म नहीं है। उन्होंने धर्म की सर्वथा इहलौकिक मौलिक परिभाषा की है।

आचार्य शुक्ल के अनुसार सौंदर्यानुभूति अथवा अनुभूतियोग मानव-चेतना की एक दिव्य विभूति है, यह भावात्मक हृदय की अद्वैत भूमि है। कारण यह है कि सौंदर्यानुभूति-काल में हम अपने संकीर्ण स्वार्थ, योग-क्षेम, राग-द्वेष आदि की भावना से मुक्त होकर चेतना की प्रकृत भूमि अथवा मुक्त-हृदय की शुद्ध भावभूमि पर पहुँच जाते हैं जो मनुष्यता का अत्यन्त उच्च एवं मंगलकारी फलक है। इस काल में हमारी अपनी सत्ता की पृथक् प्रतीति का विसर्जन हो जाता है और हम शेष सृष्टि के साथ अपने तादात्म्य का अनुभव करते हैं—

"कुछ रूप-रंग की वस्तुएँ ऐसी होती हैं जो हमारे मन में आते ही थोड़ी देर के लिए हमारी सत्ता पर ऐसा अधिकार कर लेती हैं कि उनका ज्ञान ही हवा हो जाता है और हम उन वस्तुओं की भावना के रूप में ही परिणत हो जाते हैं। हमारी सत्ता की यही तदाकार परिणति सौंदर्य की अनुभूति है।"[२] आचार्य शुक्ल के अनुसार भिन्न-भिन्न गोचर-रूप व्यापारों में सौन्दर्य-भावना को उद्‌बुद्ध करने की शक्ति भिन्न-भिन्न होती है। जिन वस्तुओं की भावना से तदाकार परिणति जितनी अधिक होगी, उतनी ही वह वस्तु हमारे लिए सुन्दर कही जायगी।[३] आचार्य के अनुसार "भक्त लोग अपनी उपासना या ध्यान में उसी विभूति का अवलम्बन करते हैं। तुलसी और सूर ऐसे सगुणोपासक भक्त राम और कृष्ण की सौंदर्य-भावनाओं में मग्न होकर ऐसी मंगलदशा का अनुभव कर गए हैं जिसके सामने कैवल्य या मुक्ति का कहीं पता नहीं लगता।"[४]

अंतःसत्ता की यह तदाकार परिणति, समस्त चराचर के साथ भावात्मक हृदय की यह अद्वैत सिद्धि कवि-कर्म अथवा सौंदर्य-साधना का सर्वोच्च मूल्य है और सौंदर्यानुभूति का मूलभूत लक्षण है। आचार्य शुक्ल के अनुसार पश्चिमी जगत् का "व्यक्तिवाद" वस्तुतः "भेदवाद" है, वह मानव-मानव में, मानव और शेष सृष्टि में, भेद और पार्थक्य बुद्धि उत्पन्न करता है। इसीलिए वे मानव-चिंतन और कर्म के किसी भी स्तर पर "व्यक्तिवाद" को अग्राह्य मानते हैं और उसको सर्वथा अस्वीकार करते हैं। वे जगत् को भी काव्य-भूमि से देखने के पक्षधर हैं। उनके अनुसार संस्कृत आचार्य द्वारा निरूपित "साधारणीकरण पश्चिमी "व्यक्तिवाद" के विरुद्ध व्यापक-आत्मा का पक्ष" है और "अभेदवाद" है। इसीलिए वे इसको ग्राह्य मानकर इसका समर्थन करते हैं। उनके अनुसार आदि कवि का सन्देश है—"सब भूतों तक, सम्पूर्ण चराचर तक, अपने हृदय को फैलाकर जगत् में रम जाओ। हृदय की स्वाभावित प्रवृत्ति के द्वारा विश्व के साथ एकता का अनुभव करो।"[५]

शेष सृष्टि के साथ तादात्म्य की सिद्धि मानव-चेतना के सत्त्वगुण से होती है। सौंदर्यानुभूति-काल में हमारी त्रिगुणात्मिकता वृत्ति के "रज" और "तम" शमित हो जाते हैं तथा "सत्त्व" का उद्रेक होता है। सत्त्वोद्रेक की अवस्था में राग-द्वेषबद्ध हृदय मुक्त हो जाता है। आचार्य शुक्ल इसको "सत्त्व" रस[६] की अवस्था कहते हैं जिसके प्रभाव से मनुष्य की रागात्मिका वृत्ति का समस्त चराचर में पूर्ण प्रसार संभव होता है और फलस्वरूप मानव-कल्याण का मार्ग प्रशस्त होता है। यही "सामान्य काव्यभूमि" है जिसका आधार है रागात्मक जीवन का संस्कार और जिसकी सिद्धि में ही कवि-कर्म की सार्थकता है।

यह सत्त्व-रसोद्रेक अथवा आत्मा के विभुत्व की स्थिति आचार्य शुक्ल के अनुसार आनन्दस्वरूप है और आनन्द ही काव्य का परम साध्य है। भारतीय चिंतन आज भी आनन्द को ही काव्य का चरम मूल्य मानता है। प्रतिनिधि काव्यशास्त्रीय चिंतन के अनुसार भी रस अथवा आनन्द कवि-कर्म का प्रधान मूल्य है। इस दृष्टि से आचार्य शुक्ल का चिंतन प्रतिनिधि भारतीय परम्परा के मेल में है। परन्तु शुक्लजी की विशेषता यह है कि वे सौंदर्यानुभूतिजन्य आनन्द को कोई दिव्य, "रसोवैसः" अथवा "चिदेव रस" की कोटि का आनन्द नहीं मानते। इस सम्बन्ध में उनका दृष्टिकोण सर्वथा भौतिक और इहलौकिक है, जैसा कि पहले भी संकेत किया गया है। उनकी सौंदर्यानुभूति और आनन्दानुभूति का स्तर सर्वथा लौकिक है। उनके अनुसार काव्यानुभूति और जीवनानुभूति में कोई तात्त्विक अथवा मौलिक अंतर नहीं है। उनके अनुसार

काव्य, जिसके माध्यम से आनन्द की सिद्धि होती है, की प्रकृत भूमि मनोमयकोश है जिसका सम्बन्ध गोचर जगत् से ही है। लगता है कि आचार्य शुक्ल इस-संदर्भ में इहलौकि वैदिक धारा का अनुसरण कर रहे हैं। वैदिक चिंतन आनन्द और मंगल को काव्य का चरम मूल्य मानता है और उसका भी स्तर सर्वथा लौकिक है। बौद्ध धर्म की प्रतिष्ठा और उसके फलस्वरूप निवृत्ति मार्ग की प्रधानता हो जाने के कारण काव्य-संदर्भ में भी भारतीय मूल्य-दृष्टि परिवर्तित हुई : साहित्य की प्रयोजन-मीमांसा में परलोकोन्मुखता आई तथा अर्थ, धर्म, काम के अतिरिक्त 'मोक्ष' को भी काव्य का एक प्रधान प्रयोजन मान लिया गया। इस प्रकार काव्य-प्रयोजन-रूप में पुरुषार्थ-चतुष्ठय की स्थापना हुई। परन्तु आचार्य शुक्ल इस परवर्ती चिन्तनधारा का समर्थन नहीं करते। उन्होंने किसी भी स्तर पर मोक्ष या निर्वाण को काव्य-मूल्य नहीं माना। हृदय की मुक्ति को उन्होंने मूल्य माना अवश्य, परन्तु हृदय की मुक्ति के अनुभव को वे सर्वथा लौकिक अनुभव मानते हैं। मुक्त-हृदय का अनुभव ही आनन्दानुभव है, परन्तु मुक्तावस्था में अनुभूत होने के कारण वह सामान्य जीवनगत अनुभव से तत्त्वतः अभिन्न होते हुए भी अपेक्षाकृत अधिक उदात्त और अवदात होता है।

मनोमय कोश को ही काव्य की प्रकृत भूमि मानकर अन्तर्मन की अतल गहराइयों से निःसृत सहज अनुभूति-प्रवाह के लिए सीमा निर्धारित कर देने के सम्बन्ध में आचार्य शुक्ल की यह स्थापना विवादस्पद हो सकती है। काव्य की उच्चतर भूमियाँ भी हो सकती हैं। ज्ञान और विज्ञानमय कोश भी उसकी प्रकृत भूमि हो सकते हैं। देश-विदेश के रचनाकारों और सन्तों-विचारकों ने उच्चतर भूमियाँ स्वीकार की भी हैं। स्वयं आचार्य शुक्ल ने एक स्थान पर कहा, "त्रिगुणों में सत्त्वगुण सबसे ऊपर है। यहाँ तक कि उसकी ऊपरी सीमा नित्य पारमार्थिक सत्ता के पास तक, व्यक्त और अव्यक्त की सन्धि तक, जा पहुँचती है।"[७] इसका अर्थ यह हुआ कि सौंदर्यानुभूति, जो सत्त्व की प्रधानता की स्थिति है, अपनी ऊपरी सीमा में नित्य पारमार्थिक सत्ता के पास तक पहुँच सकती है। तब भी क्या उसकी भूमि मनोमय कोश तक ही सीमित रहेगी? जो भी हो, रहस्यानुभूति तथा अन्य आध्यात्मिक कोटि की अनुभूतियों को आचार्य शुक्ल शुद्ध काव्य के क्षेत्र की वस्तुएँ नहीं मानते।

उनके अनुसार सौंदर्य और आनन्द काव्य के चरम साध्य हैं। इस दृष्टि से उनका काव्य-चिंतन विशुद्ध सौंदर्यशास्त्रीय है। उन्होंने सौन्दर्य और मंगल को पर्याय माना अवश्य है[८], परन्तु उनका स्पष्ट मत है कि काव्य के क्षेत्र में दो ही पक्ष होते हैं—सुन्दर और कुरूप, भला-बुरा, शुभ-अशुभ, पाप-पुण्य, मंगल-अमंगल, उपयोगी-अनुपयोगी—ये सब शब्द काव्य-क्षेत्र के बाहर हैं। ये नीति, धर्म, व्यवहार, अर्थशास्त्र आदि के शब्द हैं।[९] परलोक के सुख, मोक्ष आदि पर दृष्टि धार्मिक की रहती है, कवि की नहीं। कवि मात्र सौंदर्यान्वेषी है। मंगल और कल्याण का सम्बन्ध धार्मिक से है, कवि से नहीं। स्पष्ट है कि वे काव्यानुभूति और सौंदर्यानुभूति पर नीति, आध्यात्मिकता अथवा किसी प्रकार के स्थूल उपयोगितावाद का अंकुश एवं हस्तक्षेप स्वीकार नहीं करते, सौंदर्य ही काव्य का चरम साध्य है। लेकिन यदि वे सौंदर्य और मंगल को पर्याय मानते हैं तो इसका कारण यह है कि काव्य के संदर्भ में जो कुछ सुन्दर है, वह स्वतः मांगलिक होता है। यदि कलात्मक सौंदर्य की सिद्धि हुई है तो शिवत्व अनायास सिद्ध हो जाता है। इसीलिए वे कहते हैं, जिसे धर्मज्ञ अपनी दृष्टि के अनुसार शुभ या मंगल समझता है, उसी को कवि अपनी दृष्टि के अनुसार सुन्दर कहता है।[१०] "कलात्मक सौंदर्य भाव की पवित्र भूमि है, यह वह भूमि है जहाँ विश्वात्मा का आभास मिलता है, जहाँ जगत् के साथ हृदय का पूर्ण सामंजस्य घटित हो जाता है और जहाँ प्रवृत्ति और निवृत्ति भी स्वतः मंगलोन्मुखी हो जाती हैं।"[११]

एक दृष्टि से आचार्य शुक्ल के अनुसार सौंदर्य और आनंद भी परस्पर पर्याय हैं। उन्होंने लिखा, "एक बहुत ही ऊँचे प्रकार का सुख देने वाली वस्तु का नाम सुन्दरता है।"[१२] ऊँचे प्रकार के सुख का अर्थ है अपेक्षाकृत अधिक उदात्त और अवदात आनन्द जो मुक्त हृदय का विषय होता है। कविता उसी सौंदर्य को सिद्ध कर आनन्द-मंगल का मार्ग प्रशस्त करती है—"कविता मनुष्य के हृदय को व्यक्तिगत सम्बन्ध के संकुचित मण्डल से ऊपर उठाकर लोक-सामान्य भावभूमि पर ले जाती है जहाँ जगत् के नाना रूपों और व्यापारों के साथ उसके प्रकृत सम्बन्ध का सौंदर्य दिखाई पड़ता है। इस सौंदर्य के अभ्यास से हमारे मनोविकारों का परिष्कार और जगत् के साथ हमारे रागात्मक सम्बन्ध की रक्षा और निर्वाह होता है।"[१३]

आचार्य शुक्ल के "कविता क्या है" शीर्षक निबन्ध को उनके समस्त सौन्दर्य-चिंतन का आधारभूत दस्तावेज माना जा सकता है। इस निबन्ध का सर्वप्रथम प्रकाशन अप्रैल, सन् १६०७ की सरस्वती में हुआ था जबकि उनकी अवस्था पचीस वर्ष की थी। डॉ० नामवर सिंह के सम्पादकत्व में सद्यः-प्रकाशित "चिंतामणि ३" में उनके इस निबन्ध का उक्त संस्करण यथावत् प्रस्तुत है। इसमें आचार्य शुक्ल ने लिखा था, "कविता से मनुष्य-भाव की रक्षा होती है।"[१४] डॉ० नामवर सिंह का मत है कि "अत्यन्त सामान्य प्रतीत होने वाला यह छोटा-सा वाक्य वस्तुतः हिन्दी साहित्य में नये मानववाद का बीजमन्त्र है।"[१५] इसी निबन्ध में आचार्य शुक्ल आगे लिखते हैं—"कविता हमारे मनोभावों को उच्छ्वसित करके हमारे जीवन में एक नया जीव डाल देती है। हम सृष्टि के सौन्दर्य को देखकर मोहित होने लगते हैं। कोई अनुचित या निष्ठुर काम हमें असह्य होने लगता है।"[१६] इसका अर्थ यह है कि कविता सौन्दर्य-बोध तो जागृत करती ही है, अनौचित्य और निष्ठुरता का बोध भी जागृत करती है। वे एक बार पुनः कविता के महत्त्व और उसकी आवश्यकता का साग्रह प्रतिपादन करते हुए कहते हैं, "...... संसार के अनेक कृत्रिम व्यापारों में फँसे रहने से मनुष्य की मनुष्यता जाती रहने का डर रहता है। अतएव मानुषी प्रकृति को जागृत रखने के लिए ईश्वर ने कविता-रूपी ओषधि बनाई है।"[१७] तात्पर्य यह है कि कविता मनुष्य को मनुष्य बनाए रखती है। सौंदर्यानुभूति अमानुषिकता का निवारण कर मनुष्य-भाव की प्रतिष्ठा करती है। लेकिन यहाँ प्रश्न किया जा सकता है कि दैवी शक्ति द्वारा निर्मित होने पर भी क्या कविता की प्रकृत भूमि मनोमय कोश तक ही सीमित रह जाती है?

आचार्य शुक्ल ने उक्त निबन्ध में अनेक बार परिवर्तन, परिशोधन और परिवर्द्धन किया और प्रत्येक बार अधिकाधिक परिपक्व चिंतन से उनका यह निबन्ध समृद्धतर होता गया। कविता से मनुष्य-भाव की रक्षा के स्थान पर सन् १६२२ के संशोधन में "मनुष्य के रागात्मक सम्बन्ध की रक्षा और निर्वाह" तथा सन् १६२६ के परिवर्द्धन में "कविता मनुष्य के हृदय को व्यक्तिगत सम्बन्ध के संकुचित मण्डल से ऊपर उठाकर लोक-सामान्य भावभूमि पर ले जाती है"[१८] पाठ हुआ। १६३० में "विचारवीथी" नामक संग्रह में संकलित इसी निबन्ध के अंतिम बार परिवर्द्धित संस्करण में उन्होंने कविता को हृदय की मुक्तावस्था और "मुक्ति साधना के लिए शब्द-विधान करने वाली वाणी को भावयोग"[१६] कहा। तात्पर्य यह है कि आचार्य की दृष्टि क्रमशः अधिकाधिक सूक्ष्म, व्यापक और उच्चतर फलक पर प्रतिष्ठित होती गई। इन संशोधनों में 'रागात्मक सम्बन्ध की रक्षा और निर्वाह' अत्यन्त महत्वपूर्ण है, जैसा कि इसी निबन्ध में आगे देखा जा सकेगा और "भावयोग" तो उनकी दृष्टि में सर्वोच्च मूल्य है ही, यह पहले ही बताया जा चुका है।

इसी सौन्दर्य-भावना का अनुभव कराने वाला काव्य आचार्य शुक्ल के अनुसार "रस-काव्य" कहलाता है और रस-काव्य की रचना में समर्थ कवि "पूर्ण कवि" कहलाते हैं। उनके, अनुसार "रस-विधायक कवि का काम श्रोता-पाठक में भाव-संचार करना नहीं, उसके समक्ष भाव का रूप प्रदर्शित करना है जिसके दर्शन से श्रोता के हृदय में भी उक्त भाव की अनुभूति होती है और जो प्रत्येक दशा में आनन्दस्वरूप ही रहता है।"[२०]

आचार्य के अनुसार वे सभी वस्तुएँ और व्यापार जो अनुभूतियोग की आनन्द-दशा तक पहुँचाते हैं, सुन्दर कहलाते हैं। इस दृष्टि से सौंदर्य केवल काव्य और काव्यात्मक अनुभव में ही नहीं है, अपितु अनेक अवसरों पर प्रत्यक्ष जीवनगत अनुभव भी सौंदर्य-दशा तक पहुँचा देते हैं। यह उनकी मौलिक स्थापना है और संस्कृत काव्यशास्त्रीय चिंतन के एकदम प्रतिकूल है। इसी सन्दर्भ में उन्होंने प्रकृति-प्रेम का अत्यन्त भाव-तरल हृदय से निरूपण किया है। उनकी दृष्टि में प्रकृति हमारे भावों का स्वतन्त्र आलम्बन है और काव्य-कृतियों में उसका आलबन रूप में स्वतन्त्र चित्रण भी होना चाहिए, मात्र उद्दीपन रूप में ही नहीं। इस सन्दर्भ में वाल्मीकि उनके आदर्श हैं। प्रकृति का काव्यगत वर्णन तो आलम्बन बन ही जाता है, प्रकृति के प्रत्यक्ष-दर्शन से भी हम रस-दशा को पहुँच जाते हैं। भावुक हृदय को प्रकृति का उन्मुक्त सौंदर्य अनुभूतियोग की स्थिति में पहुँचा देता है जहाँ अपने आनन्द को व्यापक बनाने के लिए उसे विस्तृत क्षेत्र मिलता है। वे मात्र आलम्बन में रसानुभूति कराने की पूर्ण शक्ति मानते हैं।[२१] अतः प्रकृति के बीच जहाँ अन्य अपेक्षित रसांग-संभार उपस्थित नहीं रहता, वहाँ भी प्रकृति हमें आनन्दानुभूति करा देती है। प्रकृति के प्रति मनुष्य का प्रेम अत्यन्त स्वाभाविक और "हेतु-ज्ञान-शून्य" होता है। वे स्वयं प्रकृति के बहुत बड़े और सच्चे प्रेमी थे। उनके सगे भतीजे पं० चन्द्रशेखर शुक्ल द्वारा लिखित 'रामचन्द्र शुक्ल" शीर्षक उनकी जीवनी से उनके बहुत गहरे प्रकृति-प्रेम का परिचय मिलता है। प्रकृति-प्रेम साहचर्यजन्य भी होता है। उन्होंने लिखा, "जिन प्राकृतिक दृश्यों के बीच हमारे आदिम पूर्वज रहे और अब भी मनुष्य जीवन का अधिकांश अपनी आयु व्यतीत करता है, उसके प्रति प्रेम भावपूर्ण साहचर्य के प्रभाव से संस्कार अथवा वासना के रूप में हमारे अंतःकरण में निहित है।"[२२] प्राकृतिक दृश्यों के प्रति यही वासनात्मक रति-भाव "साहचर्य सम्भूत रस"[२३] में परिणत हो जाता है। यद्यपि शुक्ल जी ने "प्रकृति-रस" शब्द का प्रयोग नहीं किया है, तथापि उनके कथनों से यह स्पष्ट व्यंजित है कि उनके मन में प्रकृति-रस की कल्पना साकार थी, "प्राकृतिक दृश्य हमारे राग या रति-भाव के स्वतन्त्र आलम्बन हैं, उनमें सहृदयों के लिए सहज आकर्षण विद्यमान है······जबकि प्राकृतिक दृश्य हमारे भावों के आलम्बन हैं, तब इस शंका के लिए कोई स्थान ही नहीं रहा कि प्राकृतिक दृश्यों के वर्णन में कौन-सा रस है।"[२४]

लगता है कि आचार्य शुक्ल को प्राकृतिक दृश्यों के बीच मनुष्य की रागात्मिका वृत्ति के प्रसार का स्वयं भी व्यावहारिक अनुभव था। जिस तन्मयता के साथ उन्होंने प्रकृति-प्रेम का बार-बार वर्णन किया है, उससे प्रतीत होता है कि प्रकृति-प्रेम को भी वे एक मूल्य मानते थे। प्रकृति-प्रेम भी उनकी दृष्टि में "मनुष्यता की साधना" है। मूल दृष्टि तो यहाँ भी आनन्द की सिद्धि और उसको व्यापक बनाने की ही है, लेकिन उसकी पृष्ठभूमि में आचार्य शुक्ल की 'शुद्ध मनुष्यत्व' और चर सृष्टि के अतिरिक्त अचर सृष्टि के साथ भी मनुष्य के रागात्मक तादात्म्य की परिकल्पना है जिसको वे काव्य के अतिरिक्त प्राकृतिक दृश्यों के प्रत्यक्ष दर्शन के माध्यम

से भी साकार होते देखना चाहते थे। उनका मत है, "जिन वस्तुओं और व्यापारों के प्रति हमारे प्राचीन पूर्वज अपने भाव अंकित कर गए हैं, उनके सामने अपने को पाकर हम उन पूर्वपुरुषों के निकट जा पहुँचते हैं और उनके हृदय से अपना हृदय मिलाते हुए उनके सगे बन जाते हैं... प्रकृति के विस्तृत क्षेत्र में हमारा उनका भेदभाव मिट जाता है, हम सामान्य परिस्थिति के साक्षात्कार द्वारा 'चिरकाल-व्यापी शुद्ध मनुष्यत्व" का अनुभव करते हैं।[२५] यह "शुद्ध मनुष्यत्व" ही वास्तव में पूर्ण मनुष्यत्व है जिसकी सिद्धि अनुभूतियोग की साधना से होती है जो विशाल विश्वविग्रह के भीतर "परमहृदय" की झलक पाता है और जिस पुनीत भाव-भूमि में मनुष्य की रागात्मिका वृत्ति का पूर्ण परिस्कार और मनुष्यत्व के कल्याण-मार्ग का अबाध प्रसार सम्भव होता है।[२६] यही वास्तविक सौंदर्य-भूमि है।

सौंदर्यानुभूति को काव्य का साध्य मानते हुए भी आचार्य शुक्ल काव्य के स्वरूप-लक्षण की विवृति में "सुन्दर शब्द को उतने काम का" नहीं समझते।[२७] उनके अनुसार इसके लिए "रमणीय" शब्द अधिक उपयुक्त है, इसीलिए पंडितराज जगन्नाथ ने काव्य के स्वरूप-लक्षण-निरूपण में "सुन्दर" के स्थान पर "रमणीय" शब्द का प्रयोग किया है। आचार्य के अनुसार "सुन्दर" शब्द काव्यानुभूति के स्वरूप को संकुचित कर देता है[२८] जिस प्रकार "कला" शब्द काव्य को "मेले तमाशे" की वस्तु बना देता है। "सुन्दर" शब्द काव्य के बाह्यार्थ की ओर संकेत करता है, उसमें हृदय को रमाने की उतनी शक्ति नहीं होती। इसके विपरीत, "रमणीय" शब्द हृदय की ओर संकेत करता है। रमणीय का अभिप्राय है—जिसमें मन रमे। इसके अतिरिक्त, प्रत्येक कविता का ग्रहण सौंदर्यानुभूति के रूप में नहीं होता। बहुत-सी उक्तियों से केवल एक प्रकार का चमत्कारपूर्ण प्रसादन होता है।[२९] लेकिन उन्हें आचार्य शुक्ल श्रेष्ठ काव्य नहीं मानते। श्रेष्ठ काव्य तो वही है जो रागात्मक तादात्म्य द्वारा आनन्द का प्रसार करे।

आनन्द को काव्य (और जीवन के भी) सर्वोच्च मूल्य के रूप में प्रतिष्ठापित करने के साथ आचार्य शुक्ल की मूल चिंता यह है कि काव्य और लोक में इसका कौन-सा स्वरूप अधिक काम्य है और उसकी सिद्धि किस प्रक्रिया से की जा सकती है। कौन-कौन से ऐसे साधन-मूल्य हो सकते हैं जो आनन्द-रूप साध्य मूल्य की सिद्धि में ग्राह्य हो सकते हैं। इसी सन्दर्भ में आचार्य शुक्ल का बहुचर्चित समाजदर्शन और लोकधर्म सिद्धान्त निरूपित हुआ है, हालाँकि उसका प्रतिपादन सौंदर्यदृष्टि के अंग के रूप में ही किया गया है। इसी सन्दर्भ में उन्होंने "धर्म" की भी नई व्याख्या की है। धर्म उनके अनुसार "अभ्युदय की सिद्धि है; जिस वृत्ति से लोक में मंगल का विधान होता है, वह धर्म है।[३०] पहले संकेत किया गया है कि आचार्य की दृष्टि सर्वथा इहलौकिक है, परलोकोन्मुखी अथवा मोक्षोन्मुखी नहीं। वह अभ्युदय की सिद्धि पर केन्द्रित है। उनकी मूल चिंता यह है कि नाना विषमताओं और संघर्षों से पूर्ण लोक में, जहाँ मनुष्य अपनी समस्त शक्ति और सीमाओं के साथ रहता है, जिसके बीच से उसे अपनी जीवन-यात्रा तय करनी है, मंगल का विधान और आनन्द-मार्ग की प्रशस्ति कैसे की जाय। कुछ ऐसा होना चाहिए कि मनुष्य की प्रत्येक गतिविधि, उसके सारे क्रियाकलाप और उसकी समस्त सर्जना मांगलिक और आनन्दपर्यवसायी हो। काव्य की सार्थकता भी इसी में है। भावयोग तो परम साध्य है, परन्तु 'रागात्मक सम्बन्ध की रक्षा और निर्वाह" भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं। बल्कि व्यावहारिक लोक-जीवन में यही महत्त्वपूर्ण है। सभ्यता के आवरणों ने हमारे प्रकृत सम्बन्धों को आच्छादित कर दिया है, या उनके समीकरण बदल दिए हैं। तो, कविता हमारे रागात्मक जीवन का संस्कार करके उनकी

रक्षा करती है और उनके निर्वाह में भी सहायक होती है। आचार्य शुक्ल की यह दृष्टि संस्कृत आचार्यों से उनको पृथक् कर देती है। आचार्यों ने साहित्य का जीवन और समाज से सीधा सम्बन्ध स्थापित नहीं किया था। आनन्द उनके यहाँ भी चरम मूल्य है और प्रवृत्ति-निवृत्ति की व्यंजना का सैद्धान्तिक विधान भी उनके यहाँ है, परन्तु लोक और प्रत्यक्ष जीवन के बीच से गुजर कर आनन्द-मंगल की ओर ले जाने वाले आदर्श-मार्ग का व्यावहारिक विधान संस्कृत आचार्यों ने किया था। आचार्य शुक्ल ने काव्य और जीवन में, काव्य-मूल्यों और जीवन-मूल्यों में अभेद स्थापित किया। इससे उनकी आभिजात्य, सामाजिक मूल्यवादी, प्रगतिशील एवं मानववादी दृष्टि का भरपूर स्पष्टीकरण हुआ।

उनका मत है कि सत्, चित् और आनन्द—ब्रह्म के इन तीन स्वरूपों में से काव्य और भक्तिमार्ग आनन्द-स्वरूप को लेकर चले। अर्थात्, अध्यात्म के स्तर पर जिस आनन्द की सिद्धि भक्ति के माध्यम से होती है, लोक के स्तर पर उसी आनन्द की सिद्धि काव्य के माध्यम से होती है। लोक में इस आनन्द की अभिव्यक्ति की दो अवस्थाएँ हैं—सिद्धावस्था और साधनावस्था।[३१] आनन्दावस्थाओं की अपनी इस सर्वथा मौलिक परिकल्पना में ही आचार्य शुक्ल की सौंदर्य-दृष्टि की महत्ता और उसका वैशिष्ट्य निहित है।

आचार्य के अनुसार कुछ कवि आनंद-मंगल के सिद्ध या आविर्भूत स्वरूप को लेकर सुख-सौंदर्यमय माधुर्य, सुषमा, विभूति, उल्लास, प्रेम-व्यापार आदि के चित्रण-वर्णन में प्रवृत्त होते हैं।[३२] यह लोक में शांति-सुख की अवस्था है, काव्य की प्रशांत, निर्विघ्न और अबाध भूमि है। इसे वे आनंद का उपभोग पक्ष कहते हैं और आनन्द के इस पक्ष को लेकर चलने वाले काव्यों को वे "ब्राह्मण काव्य"[३३] कहते हैं। सिद्धावस्था के कवि मानते हैं कि लोक में ब्रह्म की आनन्द-कला का प्रचुर प्रसार स्वतःसिद्ध है, प्रयत्न करके उसे सिद्ध करना नहीं है। सिद्ध आनन्द का केवल उपभोग करना है और इसी में जीवन तथा काव्य की सार्थकता है। इसमें सब प्रकार के प्रयत्नों की अशांति तिरोहित रहती है और उपभोग की कला जगी रहती है। उपभोग की तुष्टि ही इस प्रकार के काव्यों का एकान्त लक्ष्य है। आचार्य की मान्यता और स्थापना है कि इस प्रकार की काव्यभूमि का बीज भाव या प्रवर्तक भाव "प्रेम" है जो संस्कृत काव्यशास्त्र-वर्णित स्थायी भाव से भिन्न है। नेत्र और श्रवणेन्द्रियों से इस आनन्द के व्यापारों का विशेष सम्बन्ध है। इन इन्द्रियों के विषय हैं रूपसौंदर्य और नादसौंदर्य अथवा शब्द-माधुर्य। आचार्य के अनुसार हमारी दर्शन-वृत्ति की दो दशाएँ होती हैं—बोध-दशा और रागात्मिका दशा। नई वस्तुएँ बुद्धि और हमारे ज्ञान का विषय भी बनती हैं और हमारे हृदय एवं राग का विषय भी। मन की दर्शन-वृत्ति की रागात्मिका दशा ही सौंदर्य की अनुभूति कहलाती है। जो सुदर्शन हो, जिसकी आकृति रुचिकर हो, वही सुन्दर होता है; जिसमें मन को रमाने की शक्ति हो, वही रमणीय है। इसी प्रकार श्रवण-वृत्ति की रागात्मिका दशा भी सौंदर्य-दशा होती है। संगीत में हमें शब्द-माधुर्य की अनुभूति होती है। दर्शन-वृत्ति को तुष्ट करने वाले विषय हैं—रूप और गति। नृत्य में गति की रुचिरता है, जो हमारी दर्शन-वृत्ति को तुष्ट करती है। चित्र, मूर्ति तथा नृत्य कला—ये सभी हमारी दर्शन-वृत्ति को तुष्ट करती हैं।[३४] श्रवणवृत्ति की तुष्टि के लिए संगीत कला का प्रादुर्भाव हुआ है। काव्य में इन सभी कलाओं का थोड़ा-बहुत योग रहता है, इसलिए उससे दोनों प्रकार की वृत्तियों का परितोष होता है।

सिद्ध आनन्द का चित्रण करने वाली रचनाओं के प्रवर्तक भाव प्रेम की गति "रंजन" की ओर रहती है।[३५] इस काव्यभूमि में पालन और रंजन का ही पूर्ण प्रसार दिखाई देता है।

आचार्य के अनुसार वात्सल्य से पालन और दाम्पत्य से रंजन का विधान होता है। यह विधान श्रोता-पाठक को भावयोग की अवस्था में पहुँचा देता है। इस प्रकार के सफल काव्यों में आर्या-सप्तशती, सूरसागर, बिहारी सतसई आदि ग्रन्थ रखे जा सकते हैं। तात्पर्य यह है कि इसका सम्बन्ध मुख्यत: मुक्तक काव्य से होता है।

लेकिन तथ्य यह है कि लोक में सदा और सर्वत्र सुख-शान्ति, समृद्धि, हास-विलास, आनन्द और उल्लास ही नहीं रहता। वहाँ पीड़ा, बाधा, अन्याय, अत्याचार, दमन, संघर्ष, युद्ध आदि भी बराबर रहते हैं जो आनन्द-ज्योति को आच्छादित किये रहते हैं। अत: लोक को इनसे मुक्त करने की आवश्यकता भी बराबर बनी रहती है और अनिवार्यत: बनी रहती है। आचार्य शुक्ल इस पीड़ा, बाधा, अन्याय, अत्याचार आदि के दमन में तत्पर शक्ति के संचरण में—उत्साह, क्रोध, भय, घृणा आदि की गति में ही वास्तविक सौन्दर्य का साक्षात्कार करते हैं। सत् की रक्षा और असत् का दमन इन्हीं से सौन्दर्य का वास्तविक विधान होता है। अंधकार को हटाना और आनन्द-ज्योति को प्रकाशित करना—यही चरम साध्य है। इसके लिए प्रयत्न करना होता है, साधना द्वारा आनन्द को सिद्ध करना होता है। अतएव जो कवि और काव्य इस दिशा में प्रयत्न पक्ष को लेकर अग्रसर होते हैं, वे आचार्य शुक्ल के अनुसार आनन्द की साधनावस्था के कवि और काव्य कहलाते हैं। इन्हीं को वे पूर्ण कवि मानते हैं,[३६] क्योंकि ये जीवन की अनेक परिस्थितियों के भीतर सौंदर्य का साक्षात्कार करते हैं। जीवन प्रयत्न-रूप है और इस प्रकार के काव्यों में प्रयत्न सौन्दर्य की पूर्ण अभिव्यक्ति होती है। दु:ख-द्वन्द्व की असित घटा के निवारण में ब्रह्म की आनन्द कला जो शक्तिमय रूप धारण करती है, उसकी भीषणता में भी अद्भुत मनोहरता, प्रचण्डता में भी बाहरी आर्द्रता रहती है।[३७] इस शक्तिमय रूप का निदर्शन प्राय: श्रेष्ठ प्रबन्ध-काव्यों में होता है और इस काव्यभूमि का प्रेरक या बीज भाव आचार्य शुक्ल के अनुसार "करुणा" होती है। करुणा की गति पालन और रंजन से भिन्न रक्षण की ओर होती है। रक्षा आपदग्रस्त की होती है, पालन रक्षित का होता है।[३८] प्रबन्ध-काव्यों के प्रधान पात्र अथवा नायक में उक्त दोनों बीज भावों—प्रेम और करुणा में से किसी एक का सद्भाव अनिवार्य है। परन्तु 'करुणा' भाव अधिक महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि उससे असत् का दलन होता है। नायक पीड़ा, अन्याय, अत्याचार के दमन में तत्पर होकर गत्यात्मक रूपसौंदर्य का साक्षात्कार करता है। इसके अतिरिक्त करुणा का क्षेत्र असीम होता है, वह जीव-मात्र के प्रति प्रवृत्त होती है। इस मूल प्रेरक भाव करुणा से परिचालित उसके क्रिया-कलाप और व्यापारों में कोमलता-कठोरता, भीषणता-सरसता, प्रचण्डता-आर्द्रता का सामंजस्य मिलता है और ये परस्पर विपरीत प्रतीत होने वाले भाव वास्तव में मंगल के विधान की ओर ही अग्रसर होते हैं। आचार्य के अनुसार विरुद्धों का यही सामंजस्य कर्मक्षेत्र का सौंदर्य है—भीषणता-सरसता, कठोरता-कोमलता, कटुता-मधुरता का सामंजस्य ही लोकधर्म का सौंदर्य है और यह पश्चिमी लोकादर्शवाद से भिन्न है।[३९] इसी संदर्भ में आचार्य शुक्ल अपने को सामंजस्यवादी भी कहते हैं।[४०] लोकधर्म है अपादग्रस्त की रक्षा, इसके प्रति सक्रिय प्रवृत्ति है लोकधर्म का सौंदर्य। आचार्य के अनुसार, "आदि कवि वाल्मीकि की वाणी इसी सौंदर्य के उद्घाटन-महोत्सव का दिव्य संगीत हैं।"[४१] यहाँ धर्म और मंगल की ज्योति अधर्म, असौंदर्य और अमंगल की घटा को फाड़ती हुई प्रकट होती है। इसी को आचार्य 'क्षात्र धर्म' का सौंदर्य कहते हैं और इस प्रकार प्रयत्न पक्ष को लेकर चलने वाले काव्य को वे 'क्षत्रिय काव्य' मानते हैं। उदाहरण के लिए, वाल्मीकि रामायण और तुलसी-

कृत रामचरित-मानस क्षत्रिय काव्यों के श्रेष्ठ उदाहरण हैं। ये कवि दोनों पक्षों का चित्रण करते हैं। असत्-दलन का उपक्रम, उसमें सक्रिय प्रवृत्ति मात्र सुन्दर है, उसकी सफलता में तो सौंदर्य है ही। आदर्शवादी भारतीय चिंताधारा में करुणा से प्रेरित नायक प्रायः अपने प्रयत्न में सफलता प्राप्त करता ही चित्रित हुआ है। इस बीज भाव की प्रकृति ही मंगल-विधायिनी होती है। प्रयत्न-सौंदर्य की पूर्ण अभिव्यक्ति के लिए नायक में शील, शक्ति और सौंदर्य की पराकाष्ठा अपेक्षित है। भारत के प्रबन्ध-काव्यों में प्रायः इसका निर्वाह मिलता है। धीरोदात्त नायक में भीतरी और बाहरी सौंदर्य-कर्म, मनोवृत्ति और रूप-सौंदर्य के मेल का सद्भाव चित्रित होता है। वैसे तो प्रेम और करुणा दोनों बीज भाव सत्त्व गुण प्रधान हैं, सौंदर्यानुभूति कराने की शक्ति दोनों में है, परन्तु आनन्द कला का सर्वाधिक पूर्ण और तीव्र उन्मेष करुणा में होता है, क्योंकि जहाँ प्रेम का क्षेत्र विशिष्ट और सीमित होता है, वहाँ करुणा का क्षेत्र असीम होता है।

मूल प्रेरक भाव से ही प्रवृत्ति-निवृत्ति, विधि-निषेध और हमारी रागात्मिकता वृत्ति के अतिरिक्त धर्म का स्वरूप भी निर्धारित होता है। सत् की रक्षा और असत् का दलन लोक-धर्म और प्रवृत्ति पक्ष है। जो वृत्ति इसमें प्रवृत्त करती है और असत् से विमुख करती है, वही रागात्मिका वृत्ति है। मंगल का विधान और अभ्युदय की सिद्धि इसी लोकधर्म से होती है। आचार्य नंददुलारे वाजपेयी के अनुसार शुक्लजी का यह लोकधर्म कर्तव्य-निष्ठा पर आधारित पूर्ण त्यागमय धर्म है जो गीता के अनासक्त कर्मयोग के समकक्ष है। आचार्य शुक्ल इसी में पूर्ण सौंदर्य का साक्षात्कार करते हैं।[४२]

अतएव लोकधर्म की स्थापना काव्य का सत्य है, इसकी स्थापना का प्रयत्न 'सुन्दर' है जिससे शिवत्व की सिद्धि अनायास ही हो जाती है। कविता इसी सौंदर्य की सिद्धि का एक सफल, सार्थक माध्यम है। वह रूप-सौंदर्य के अतिरिक्त कर्म और मनोवृत्तियों के सौंदर्य का भी साक्षात्कार कराती है और यदि इस रूप, कर्म और मनोवृत्तियों के सौंदर्य—आंतरिक और बाह्य सौंदर्य के साथ प्राकृतिक दृश्यों के सौंदर्य का भी समन्वित चित्रण हो तो कहना ही क्या ? वहाँ पूर्ण सौंदर्य की चरम अभिव्यक्ति होती है और आनन्द का परम प्रकाश उद्भासित होता है। आचार्य को 'वनवासी राम' में ये सभी तत्त्व उपलब्ध हो जाते हैं। राम में शक्तिशाली सौंदर्य की पराकाष्ठा तो है ही, वे जब असद् के दलन में प्रवृत्त होकर वन में संचरण करते हैं तो उनको देखकर आचार्य का मन-मयूर नाच उठता है—"हमारे राम हमें मंदाकिनी या गोदावरी के किनारे बैठे जितने अच्छे लगते हैं, उतने अयोध्या की राजसभा में नहीं।"

आचार्य शुक्ल की सौंदर्य-दृष्टि संक्षेप में यही है। इसके अनेक पक्षों पर विद्वानों को आपत्ति हो सकती है। वह सीमित, पूर्वाग्रहग्रस्त, नैतिकता के कठोर अनुशासन में बद्ध मानी जा सकती है। कुछ विद्वान् उस 'रामचरितमानस' के राम की करुणा पर ही प्रश्नचिह्न लगा सकते हैं जिसके आधार पर आचार्य ने अपनी सौंदर्य-दृष्टि निर्मित की। 'ईश्वर ने कविता-रूपी ओषधि बनाई' वक्तव्य पर भी आपत्ति की जा सकती है। वास्तव में, आचार्य शुक्ल का सौंदर्य-चिंतन नैतिकता और स्थूल आदर्शवादिता से इतना अधिक नियंत्रित और मर्यादित है कि उसमें जीवन की सहजता-स्वच्छंदता और उसके स्वाभाविक विकास के लिए बहुत कम गुंजाइश रह गई है।

## संदर्भ-संकेत

१. रसमीमांसा, पृ० २४। २. रसमीमांसा, पृ० २४। ३. रस मीमांसा, पृ०, २४-२५।

४. रसमीमांसा, पृ० २५। ५. चितामणि भाग २, पृ० ५७। ६. रसमीमांसा, पृ० ११। ७. रसमीमांसा, पृ० ५५। ८. रसमीमांसा, पृ० ५५। ९. रसमीमांसा, पृ० २६। १०. रसमीमांसा पृ० २६। ११. रसमीमांसा, पृ० ११, चिंतामणि, भाग २, पृ० ४७। १२. रसमीमांसा, पृ० ५६। १३. चिंतामणि, भाग २, पृ० ४६। १४. चिंतामणि-३, पृ० ९१। १५. चिंतामणि-३, भूमिका, पृ० १६। १६. चिंतामणि-३, पृ० ९१। १७. चिन्तामणि-३, पृ० ९४। १८. चिंतामणि, भाग ३, पृ० ४६। १९. चिंतामणि, भाग १, पृ० १४१। २०. रसमीमांसा, पृ० ५६। २१. चिंतामणि, द्वितीय भाग, पृ० ३४। २२. चिन्तामणि, द्वितीय भाग, पृ० ५। २३. रसमीमांसा, पृ० ११। २४. चिंतामणि, द्वितीय भाग, पृ० ३३-३४। २५. रसमीमांसा पृ०, १२०। २६. चिंतामणि, द्वितीय भाग, पृ० ५८। २७-२८. चिन्तामणि, द्वितीय भाग, पृ० १७८। २९. चिंतामणि, द्वितीय भाग, पृ० १७८। ३०. रसमीमांसा, पृ० ४७। ३१. रसमीमांसा, पृ० ४४। ३२. रसमीमांसा, पृ० ४५। ३३. चिन्तामणि, द्वितीय भाग, पृ० ४८। ३४. रसमीमांसा, पृ० ५६-६०। ३५. रसमीमांसा, पृ० ५८-६३। ३६. चितामणि, द्वितीय भाग, पृ० ४५। ३७. रसमीमांसा, पृ० ४७। ३८. रसमीमांसा, पृ० ६३। ३९. चिंतामणि, द्वितीय भाग, पृ० ४७, ५३, ५४। ४०. चिन्तामणि, द्वितीय भाग, पृ० ४९। ४१. रसमीमांसा, पृ० ४७। ४२. हिन्दी साहित्य-बीसवीं शताब्दी, पृ० ७७।

●

हिन्दी विभाग,
इलाहाबाद विश्वविद्यालय

# परम्परा :
# आचार्य शुक्ल और भक्ति-साहित्य

●

डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी

दर्शन, लोकधर्म, शब्दशक्ति, रसपद्धति—आदि की भाँति 'भक्ति' के सम्बन्ध में भी शुक्लजी की अवधारणा परम्परा से हटकर है। उनकी दृष्टि में ब्रह्म के संदेश की व्यक्त प्रवृत्ति का नाम धर्म है और उसी की रसात्मक अनुभूति 'भक्ति'। भक्ति धर्म का हृदय है। अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार शुक्लजी 'भक्ति' की विकासवादी दृष्टि से क्रमिक निष्पत्ति निरूपित करते हैं और भारतीय वाङ्मय का साक्ष्य देते हैं। उनकी दृढ़ धारणा है कि धर्म' की प्रतिष्ठा 'लोक' में उनकी स्थिति और रक्षा के निमित्त होती है। यह 'धर्म' जब-जब तिरोहित होता है—विश्वधारिणी शक्ति तब-तब क्षत्रशक्ति के रूप में अवतीर्ण होकर उसे पुन: प्रतिष्ठित करती है।

धर्म की अद्यावधिक धारणा की उपस्थापना विकासवादी दृष्टि से 'विश्व-प्रपंच' की 'भूमिका' में और 'भक्ति' की 'सूरदास' नामक पुस्तक में शुक्लजी ने विस्तार से की है। जातीय, ऐतिहासिक और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि पर आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने भी अपनी 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' में 'भक्ति' की स्वरूप-परिणति पर विचार किया है—पर दोनों की 'दृष्टि' ही भिन्न है। आचार्य शुक्ल ने 'भक्ति' का मध्यदेशीय मध्यकालीन परिवेश में सहसा समुच्छलन पश्चिमी चिन्तकों की तरह नहीं माना। उन्होंने कहा है—"कालदर्शी भक्त कवि जनता के हृदय को सम्हालने और लीन रखने के लिए **दबी** हुई भक्ति को जगाने लगे। भक्ति का जो सोता दक्षिण की ओर से धीरे-धीरे उत्तर भारत की ओर पहले से ही आ रहा था—उसे राजनीतिक परिवर्तन के कारण शून्य पड़ते हुए जनता के हृदय-क्षेत्र में फैलने के लिए पूरा स्थान मिला। इसके विकास-स्तरों का शुक्लजी को पता है। सभ्य आर्य जाति के बीच आरम्भ में भय, लोभ तथा कृतज्ञता की भूमियों पर चढ़ती हुई लोकचेतना 'कृत' से 'कर्ता' (लोक की स्थिति, रक्षा तथा रंजनकर्ता) की ओर उन्मुख होती गई और द्रव्ययज्ञात्मक 'पूजा' से 'ज्ञानयज्ञात्मक' उपासना की ओर बढ़ती गई। धीरे-धीरे आंगिरस से दीक्षित देवकीपुत्र कृष्ण के हाथ में वह नेतृत्व आया और फिर महाभारत के कृष्ण द्वारा निष्काम कर्म-गर्भ ज्ञान और भक्ति की गीता में प्रतिष्ठा की गई। उन्हें ज्ञात है कि किस प्रकार **नारद** और शांडिल्य के निर्देशन से भक्ति द्विशाख हो गई—एक ज्ञान कर्म सम्मिलित भक्ति की गीता-गत स्थिति और दूसरी कृष्णिवंशियों के बीच पल्लवित भागवत-भक्ति—जो धीरे-धीरे एकांतिक माधुर्य-भाव की ओर मुड़ती गई। एक की स्थिति मर्यादामार्गी रामधारा में हुई और दूसरे की कृष्णधारा में। उनकी दृष्टि में भक्तिमार्ग अपने विशुद्ध रूप में धर्मभावना का भावात्मक या रसात्मक विकास है। शुक्लजी ने यह कहाँ लिखा है कि मुसलमानों के आने पर ही 'भक्ति' की भावना प्रतिक्रिया के रूप में मध्यदेश के आकाश में सहसा विस्फुटित हुई? उन्होंने यही तो कहा है कि उत्तर भारतीय राजनैतिक परिस्थितियों ने **दबी हुई** भक्ति-भावना को और धार दे दी। वल्लभाचार्य का उद्घोष 'कृष्ण एव गतिर्मम' मध्यदेश की किस मानसिक स्थिति का पता देता है? गोस्वामीजी का 'कलियुग'-वर्णन तात्कालिक राजनीतिक परिवेश के विषय में क्या कहता है? मध्यकाल के इतिहासविद् किस हिन्दू समाज की अत्याचारग्रस्त स्थिति का संकेत देते हैं? यह सब मिलकर क्या तत्कालीन जनता की सोत्साह और उन्नतदर्प मानसिकता का पता देते हैं? आखिर इतना तो विचारणीय

है कि इसी युग में भक्ति (का उद्‌भव नहीं, वह तो पूर्वप्रतिष्ठ है) का इतना चतुरस्र प्रकाश क्यों हुआ—अकारण था? शुक्लजी ने दबी हुई भक्ति-भावना को तात्कालिक परिस्थितियों से दीप्त माना है—निश्चय यह भावना भारतीय मानसिकता का स्वाभाविक विकास थी—पर तात्कालिक परिस्थितियों को उद्दीपक मानने के पीछे किन पाश्चात्य साम्राज्यवादी चिन्तकों का समर्थन निहित है? यह मान लिया गया कि शुक्लजी ने मुसलमानों के आक्रमण से ही भक्ति का अंकुरण माना है और फिर उनसे पूछा गया कि यदि ऐसा ही था—तो आक्रमण उत्तर भारत में हुआ और भक्ति सुदूर दक्षिण तमिल प्रदेश में आलवारों के बीच कैसे उदित हुई?

एक प्रश्न और उठाया जाता है कि हिन्दी साहित्य के विकास की केन्द्रीय शक्ति **'प्रभाव'** है या **'स्व-भाव'**—मुसलमानी प्रभाव या शास्त्रीय जड़ता के विरुद्ध उठी हुई लोकचेतना का 'स्व-भाव'? शुक्लजी और द्विवेदीजी दोनों ही 'प्रभाव' और 'स्व-भाव' को आत्यंतिक विरोधी विकल्प नहीं मानते – प्रश्न प्राधान्य का है। बीज तो 'स्वभाव' ही है—जिसका इतिहास शुक्लजी ने भी प्रस्तुत किया है—प्रभाव प्रभाव ही है। विधेयवादी पद्धति—जो ग्रियर्सन द्वारा उत्थापित की गई थी—शुक्लजी द्वारा अवश्य स्वीकृत हुई—पर भक्ति साहित्य के पल्लवन-प्रस्थापना में निहित ग्रियर्सनी चेतना का समग्र अनुधावन नहीं है। शुक्लजी जागरूक हैं—और भारतीय भक्तिमार्ग के इतिहास से अवगत हैं। परिस्थितियों और साहित्य में प्रतिफलित चित्तवृत्तियों का कार्यकारण भाव दिखाने के सन्दर्भ में इस्लाम-भिन्न सभी धर्म के अनुयायियों को काफिर घोषित करने वाली आक्रामक जाति का 'प्रभाव' कैसे अनदेखा कर दिया जाये? इतिहास इस बात का साक्षी अवश्य है कि शास्त्रीय जड़ता लोकचेतना में निहित सहज ऊर्ध्वगामी वृत्ति के झंझावत में टूट रही थी और वैदिक मार्ग की अपेक्षा रागमार्गी आगम मार्ग से जुड़ रही थी—शुष्क ज्ञानमार्ग से हटकर रागमार्ग की ऊर्ध्वगामिनी संभावनाओं से जुड़ रही थी—स्मरणीय है कि यह प्रक्रिया भी सुदूर अतीत से चली आ रही थी। इसमें कोई सन्देह नहीं कि अध्यात्म की धारा भारत के स्वभाव में है। जब अर्जित बोध और 'स्व-भाव' में संघर्ष होता है तो 'स्व-भाव' अपने विकास के लिए रास्ता बना लेता है। शुक्लजी साम्राज्यवादी पाश्चात्य चिन्तकों की भाँति यह नहीं मानते कि मध्यकाल में भक्ति' किसी अज्ञात स्रोत से सहसा फूट पड़ी—अपितु भारतीय वाङ्मय के साक्ष्य[8] पर वे 'सूरदास' की भूमिका में यह अच्छी तरह बता चुके हैं कि 'भक्ति' किस तरह उद्‌भूत और विकसित होती हुई मध्यकाल में दीप्त-दीप्ततर हो उठी। इस प्रकार 'प्रभाव' प्रभाव ही है—'स्व-भाव' नहीं। स्व-भाव में निहित सम्भावना पर ही प्रभाव असरकारी होता है। इसका द्वन्द्व खड़ाकर पक्षधरता की खाईं क्यों खोदी जाय? हाँ, यह अवश्य है कि शुक्लजी का लोकधर्म आर्यशास्त्रानुमोदित है—वर्णाश्रयी है—वे शास्त्र पक्ष के पक्षधर हैं और द्विवेदीजी का लोकधर्म शास्त्रीय जड़ता के विरुद्ध क्रान्ति की ओर अग्रसर जड़ता-प्रताड़ित-लोकसामान्य का धर्म—अनुभववादी विवेकसम्मत धर्म। शुक्लजी इसे इसीलिए आत्म-प्रेरणा से परिचालित होने के कारण व्यक्ति-साधना कहना पसन्द करते हैं—क्योंकि इन्होंने अज्ञ समाज को कोई स्थायी व्यवस्था नहीं दी—जिससे वे संतुलित लोकयात्रा का निर्वाह करते। निष्कर्ष यह कि प्रक्रान्त 'भक्ति-चेतना' भारतीय स्वभाव में निहित सम्भावना का परिस्थितिजन्य 'प्रभाव' से दीप्त रूप है। क्रमागत 'भक्ति'-धारा का विकास दिखाते हुए उसे **'उद्दिष्ट'** कर 'प्रभाव' की दीप्ति में 'विधान' करते हैं—**विधेय** बनाते हैं। द्विवेदीजी शुक्लजी द्वारा **प्रस्तावित** विधेयात्मक प्रभाव को 'उद्देश्य' बनाकर 'स्व-भाव' का विधान करते हैं। एक के यहाँ विधेय 'प्रभाव' है जबकि दूसरे के यहाँ 'स्व-भाव'। जब भारतीय चिन्तनधारा यह कहती है—

कृते श्रुत्युक्त आचारः स्त्रेतायां स्मृति सम्भवः ।
द्वापरे च पुराणोक्तः कलावागमसम्भवः ।।

तब अपनी गिरती हुई क्षमता के अनुरूप मार्गभेद की ही बात करती है—'श्रुति' से 'आगम' की ओर त्रैवर्णिक से सार्ववर्णिक मार्ग की ओर बढ़ने का ही अनुमोदन करती है—इससे भारत की स्वाभाविक चिन्ताधारा के विकास का स्पष्ट संकेत है। क्या उस इस्लामी परिवेश में श्रुतिसम्मत वादव आचारों का निर्विघ्न निर्वाह हो सकता था? क्या अन्तर्मुखी साधना की ओर मुड़ने की विवशता में उसका कोई प्रभावात्मक योगदान नहीं था? खैर, 'प्रभाव' की बात को इन्कार तो कोई नहीं करता—विवाद 'प्रभाव' और 'स्व-भाव' के बलाबल पर है। निश्चय ही दोनों का अपनी जगह महत्त्व है—परिवेश का भी, आनुवंशिक रिक्थ का भी। हिन्दी साहित्य की मूल प्राणधारा भक्ति है—वीरगाथा नहीं—इसीलिए द्विवेदीजी भक्ति-साहित्य को ही हिन्दी का सच्चा साहित्य कहते हैं—विद्यापति को उसी धारा से जोड़ते हैं। वस्तुतः दोनों आचार्यों की मूल मानसिक बनावट ही भिन्न है—अतः एक 'लोकधर्म' को लेकर चलता है और दूसरा व्यक्ति-साधना को महत्त्व देता है। एक अध्यात्म को बोधगम्य व्याख्या से दूर रखता है और दूसरा उसे लेकर ही चलता है—एक की समाजमुखी वृत्ति उसे सर्वथा अविकृत रहने के लिए 'कर्म-ज्ञान-उपासना'परक सामंजस्यवादी मार्ग की वकालत करती है, दूसरे की जर्जर होती हुई आर्य-शास्त्रानुमोदित धारा के विरुद्ध लोकचेतना की सहज विच्छुरित सप्राण धारा का पक्ष ग्रहण कराती है। शुक्लजी व्यवहारमुखी चिन्तक हैं, अतः भेद सर्वदा उनके ध्यान में है; दूसरा व्यवहार से व्यवहारातीत की ओर भी दृष्टि रखता है—अतः व्यक्ति-साधना को अन्ततः महत्त्व देता ही है। इस मूल दृष्टि के कारण अनिवार्यतः फूटने वाले विपरीत अंकुरों को आगन्तुक विरोध समझना चाहिए—स्वाभाविक नहीं। अध्यात्म की दृष्टि से लोकधर्म और व्यक्ति-साधना विरोधी नहीं हैं—पर जिस स्थिति में व्यवहार की भूमि पर शुक्लजी ने विरोध देखा है—वह संगत है। विरोध अंतःप्रेरणा से परिचालित व्यक्ति-साधना का नहीं है—विरोध ऐसे सिद्ध के अंधानुयायी जन-सामान्य में होने वाली अराजकता से है। यही बात कर्म, ज्ञान, उपासना के सम्बन्ध में भी समझनी चाहिए। अध्यात्म की अन्तःप्रेरणा से परिचालित केवल 'ज्ञान' मार्ग भी संगत है और केवल 'राग' मार्ग भी—पर व्यवहार के धरातल पर सामान्य जनता में यदि तीनों का सामंजस्य-रूप भावमार्गी साधना न हो—तो कर्ता की निम्नवृत्तिवश ऐकान्तिक मार्ग विकृत होकर ही रहेंगे—अतः वाजपेयीजी जब-जब शुक्लजी के परस्पर-विरोधी शिविरों—ज्ञानमार्गी, भक्तिमार्गी—आदि का उल्लेख करते हैं और कहते हैं कि हर साधना में तीनों की स्थिति है—किसी एक का प्राधान्य है—तब कोई अन्तर्विरोध नहीं खड़ा होता—महज अध्यात्म की सच्ची अन्तःप्रेरणा के संस्पर्श और असंस्पर्श का सवाल रहता है। अध्यात्म—जो व्यक्ति-साधना की भूमि पर पहुँच जाता है—कभी-कभी ज्ञान और कर्म का समुच्चय अस्वीकार कर देता है—राग का दमन और कर्म का संन्यास ले लेता है। कभी-कभी दोनों का तीनों का समुच्चय भी कहता है—कभी-कभी 'राग' को ही 'ज्ञानात्मक' मान लेता है और 'प्रेम' के आगे 'नेम' को गौण कर देता है। शुक्ल-जी लोकधर्म के रूप में ज्ञान-कर्म-उपासनामयी जिस भक्ति का 'तुलसी-मानस' के साक्ष्य पर पक्ष लेते हैं—वह शुद्ध व्यवहारमय 'लोक' को दृष्टिगत कर। विकासवाद उनकी सीमा है जो उन्हें 'भक्ति' की परिकल्पना को व्यवहारातीत धरातल पर नहीं ले जाने देती और 'लोक-धर्म' के 'हृदय' रूप में प्रतिष्ठा पाती है।

इस सीमा के कारण उनकी भक्ति-सम्बन्धी धारणा निश्चय ही परम्परा से हटकर है। मध्यकालीन जिस 'भक्ति' और 'भक्तिरस' की वे व्याख्या करते हैं—निश्चय ही वह न मनो-विज्ञान-सम्मत है और परम्परागत अध्यात्म-सम्मत—पर इसमें कोई सन्देह नहीं कि वह उनके

लोकधर्म-सम्बन्धी अवधारणा की ही परिणति है—इसीलिए उनका 'धर्म' लोक को धारण करने वाला शासन (आप्तशब्द) या विवेकसम्मत तो है ही—उससे सर्वथा समुन्नत हृदयानुमोदित। यही हृदयानुमोदित लोकधर्म ही तो उनकी भक्ति है—जो कर्म-ज्ञान-उपासना के संतुलन से विकृत नहीं होती। इसी 'प्रकृति' और 'प्राकृत' स्तर पर ही उसका विवेचन होने के कारण वह प्राकृत-व्यापार है—अंतःकरण का बोधानुमोदित 'राग' है—जो कर्म या सत्कर्म या लोकमंगल में पर्यवसित होती है—संवाद पाकर उस उपास्य की ओर मुड़ती है जो लोकमंगलकारी है। उसकी ओर झुककर केवल बाह्य द्रव्यों से उसका पूजा-द्रव्ययज्ञ ही नहीं करती, द्रव्ययज्ञ से आगे बढ़कर ज्ञानयज्ञ करती है। उसके प्रति बाह्य द्रव्य की अपेक्षा अपने जीवन का कुछ अंश ही समर्पित करती है या करवा देती है—इसीलिए 'माग' के अर्थ में 'भक्ति' का प्रयोग होता है। विकास के सन्दर्भ में जिजीविषा को चरितार्थ करने के सन्दर्भ में प्रकृति के बीच जीवन-यापन करने वाले जनसमाज के अंतस् में क्रमशः भय-लोभ-कृतज्ञता-श्रद्धा-भक्ति का उदय हुआ होगा।

शुक्लजी मानते हैं कि भारतीय धर्मसाधना में सच्चिदानन्दमय परमसत्ता अव्यक्त भी है और व्यक्त भी—निर्गुण भी और सगुण भी—दोनों ही नित्य और सत्य हैं—असीम और अनन्त हैं—दोनों में पारमार्थिक अभेद ही है—पर व्यवहार या प्राकृत जगत् की सीमा में 'भक्ति' का स्वरूप निर्धारित करने वाला आचार्य मानता है कि वह लोकधर्म की रसात्मक दशा है—अवदात रागमयी मनोवृत्ति है—जो पर-उपकार-निरत रहने में ही तृप्त होती है—फलतः उसका पूरा लगाव लोकमंगलकारी उपास्य की ओर हो जाता है—जो अपने सदंश की अभिव्यक्ति रक्षण में और आनन्दांश की अभिव्यक्ति रंजन में करता रहता है। शुक्लजी अपनी सीमा या लक्ष्मण रेखा का ध्यान रखते हुए कहते हैं कि प्राकृत अंतःकरण की यह रागात्मिका वृत्ति ज्ञान की परिधि में ही संचारित होती है—वे किसी अतिप्राकृत शक्ति की बात में विश्वास नहीं रखते—जिससे अनायास-प्राकृत बोध के व्यवस्थित प्रयास से निरपेक्ष—ज्ञान झरता हो। वे 'ज्ञान' को एकमात्र प्राकृत बोधवृत्ति की उपलब्धि मानते हैं और विशेषकर भारत में। भारत में शुक्लजी के मन में अद्वैत का बोध प्राकृत बोधवृत्ति की परिणति है, किसी इलहामी या अज्ञान-प्रक्रिया से प्राप्त नहीं। निष्कर्ष यह कि भारत में उनकी दृष्टि से परमसत्ता का 'व्यक्त' पक्ष भक्ति का और 'अव्यक्त' रूप योग का क्षेत्र है। योग अवश्य उनकी दृष्टि में अतिप्राकृत जटिल मार्ग है और वह रहस्यमय है—परन्तु भक्ति और ज्ञान विशुद्ध प्राकृत अन्तःकरण की रागात्मक और बोधात्मक वृत्तियाँ हैं। आचार्यगण बुद्धि से अद्वैत तक पहुँचते हैं और 'योग' से 'अव्यक्त' का साक्षात्कार कर सकते हैं—पर मनन या बुद्धि से उस अव्यक्त के अनेक विघटन क्षण-स्वरूप तथा तटस्थ—निर्द्धारित करते हैं। आचार्यों द्वारा व्यक्त जिन लक्षणों से लक्षित कर दिया जाता है—भक्त उसी सीमा में अपने राग का आलम्बन बनाते हैं और उपासना करते हैं—उपासना से जो 'सन्त-रहनि' मिलती है—वह पर-उपकार-निरत रहने की है। श्रौतधर्म का स्तर यही है—'पर उपकार सार श्रुति को'। शुक्लजी इसी श्रौतधर्म को लोकधर्म कहते हैं। शुक्लजी की दृष्टि में न तो यहाँ का ज्ञानमार्ग किसी रहस्य के चक्र में है और न ही भक्तिमार्ग। हाँ, योगमार्ग की साधना अवश्य रहस्यमय है।

भारतीय धर्म में अध्यात्म के विषयों में अक्ल का दखल वर्जित नहीं है, सामी धर्मों में वर्जित है—फलतः भारत में अव्यक्त सत्ता को जिन लक्षणों से लक्षित कर या अद्वैत रूप तय कर राग का आलम्बन बनाया जाता है—वे बुद्धि की स्वाभाविक प्रक्रिया से उपलब्ध नहीं होते, अपितु रहस्यमयी इलहामी प्रक्रिया से उपलब्ध होते हैं—उसके लिए किसी अतिप्राकृत माध्यम की कल्पना ऐसे लोगों के लिए आवश्यक हो जाती है और सामान्य प्राकृत जन के लिए रहस्यमय हो जाती है। भारत चिंतन के माध्यम से चलकर 'अद्वैत' तक पहुँचा था—चिंतन को वर्जित मानने वाले 'भाव'

के माध्यम से उसे 'जानना' चाहेंगे तो अस्वाभाविक है—'भाव' से 'जानना' वैसे नहीं होता, जैसे नाक से खाना। वैराग्यमार्गी क्रिश्चियनिटी में रहस्यवाद रागमार्गी साधकों में ही आया। गृहस्थधर्मी नियंत्रित रागी इस्लाम में उन्मुक्त रागमर्गी सूफी ही रहस्यवादी हुए—जहाँ रागात्मक सम्बन्ध दाम्पत्य-भावात्मक माधुर्य-उपासना की ओर झुका। निष्कर्ष यह कि शुक्लजी की दृष्टि में भारत में बोध और राग के क्षेत्र में प्रक्रिया और आलम्बन के सुस्पष्ट होने से कोई 'रहस्यमयता' थी ही नहीं—रहस्यमयता थी तो केवल योगमार्ग में। यद्यपि सूफी भी राग की साधना का आरम्भ अपने स्तर पर 'व्यक्त' से करते हैं और भारतीय का तो 'व्यक्त' है ही—तथापि दोनों में एक सूक्ष्म अन्तर है। सूफी परम सुन्दर की छाया जगत् में देखते हैं और उधर उन्मुख होते हैं जबकि भारतीय साधक 'अव्यक्त' की अभिव्यक्ति जगत् को मानते हैं—दोनों में भेद ही नहीं मानते—इसीलिए भक्त की दृष्टि में वह मिथ्या या असत्य नहीं है। 'भक्ति' क्षेत्र में भारत में रहस्य-वादिता नहीं थी—पर माधुर्यभाव के कारण जो प्रायवेसी आई—उसके कारण कुछ रहस्यमयता इसी अर्थ में आ सकती है। जहाँ भक्ति माधुर्य-भावात्मिकता नहीं है—मर्यादामार्गी है—वहाँ तो 'रहस्य' की बात ही नहीं है। भारतीय प्रकृति की 'भक्ति' और 'काव्य' उभयक रहस्यवादिता नहीं है और यदि है तो सभी मतों के सम्पर्क से। मध्यकालीन भक्तिधारा में सूफियों के सम्पर्क से आधुनिक साहित्य में क्रिश्चियन मिस्टिसिज्म के अनुकरण पर—जहाँ पारमार्थिक या मध्यकालिक अनुभूतियों का छायाभास दाम्पत्य-सम्बन्ध के रूपकों में प्रस्तुत किया जाता है।

यद्यपि गीता में कहा गया है कि—

'मनाद्या मामभिजानाति यावान पश्चमस्मि तत्त्वतः।'

अर्थात्, भक्तिभाव से युक्त अव्यक्त को तत्त्वतः जाना जा सकता है—पर शुक्लजी इसका आशय भिन्न ही लगाते हैं। उनका कहना है कि भक्ति से जानने का आशय है भक्ति द्वारा 'जानने' में सौन्दर्य का आ जाना। 'जानना' तो बोध से ही होता है, पर 'भक्ति' से यह जानना अपेक्षाकृत 'सुकर' हो जाता है।

इस प्रकार ज्ञान और भक्ति क्षेत्रों में अतिक्रमण का विचार पश्चिम में ही उठा। ये रहस्यवादी भक्तों और कवियों की दृष्टि में भक्ति ज्ञानात्मक ही है। शुद्धभाव-प्रेरित भावना के उमंग में भक्त या साधक को ईश्वर के स्वरूप का बोध होता है, अतः भक्त, भावुक तथा कवि को वे एक प्रकार का पैगम्बर या रहस्य-द्रष्टा मानते हैं।

एक बात इस सम्बन्ध में शुक्लजी और कहते हैं, वह यह कि भक्तिरस और काव्यरस के आस्वाद की एक ही प्रक्रिया है। जिस प्रकार काव्य में अविधा से ज्ञात अर्थ का कल्पना-सहकृत बिम्ब रूप में ग्रहण होता है और फिर अंकुरित भाव का आस्वाद होता है—वैसे ही आचार्यों के द्वारा चिंतित और निर्धारित लक्षणों से लक्षित और 'ज्ञात' (व्यक्त) ब्रह्म भक्त की भावना-शक्ति से बिम्ब का विषय बनता है, तदनन्तर आस्वाद। वे स्पष्ट कहते हैं—'विज्ञात' और 'साक्षात्कृत' में अन्तर होता है। साक्षात्कार होने पर ही कल्पना में पूर्ण बिम्ब न होने पर ही रसानुभूति हो सकती है। भक्त की अनुभूति यही है जिसे काव्य की लीनता या रसप्रतीति कहते हैं। प्रक्रिया भी वही स्वाभाविक और सीधी-सादी है। कल्पना या भावना जिससे विज्ञात का भीतरी साक्षात्कार होता है और भाव या रागात्मिका वृत्ति, जिससे आनन्दानुभूति होती है—दोनों मनुष्य की स्वाभाविक वृत्तियाँ हैं। बस इन्हीं दो स्वाभाविक वृत्तियों के सहारे भक्तिरस की निष्पत्ति हो जाती है।

शुक्लजी द्वारा भारतीय भक्ति और काव्य में जो रहस्यवादिता संक्रान्त हुई है—वह आगन्तुक है—कम से कम भाव और ज्ञान के क्षेत्र में। उनके अनुसार आचार्य के क्षेत्रबोध की

व्यवस्थित प्रक्रिया से अव्यक्त के लक्षणों का निर्धारण है और भक्त उस लक्षणा-निर्धारित व्यक्त सीमा में भाव का संचार उसके माध्यम से उपासक का उपास्य में इस तरह लीन हो जाना कि वह अनुभूति मात्र रह जाय। यह भी अभेद की ही भूमि है—ज्ञान से हम जहाँ पहुँचते हैं, भक्ति से भी पहुँच सकते हैं—पर एक 'बोध' है और दुसरा 'अनुभव'। 'भक्ति' के साथ-साथ संक्रान्त 'रहस्यवादिता' की बात करते-करते उन्होंने उसका स्रोत तो विदेशी बताया ही है—उसे त्रिविध भी निरूपित किया है—(१) भावोपलब्धि के साधन के रूप में, (२) ज्ञानोपलब्धि के साधन के रूप में (३) और अर्थोपलब्धि के साधन के रूप में। 'रहस्य' का धावा 'भाव' के क्षेत्र पर कभी-कभी अत्यन्त रमणीय होता है, पर ज्ञान और कर्म के क्षेत्र में रहस्य की वृत्ति अराजकता पैदा करती है। अन्तिम को तो पाश्चात्य भी गर्हित बताते हैं—पर शुक्लजी दूसरे को भी मिथ्या रहस्यवाद मानते हैं। पहले को स्वाभाविक और रमणीय मानते हैं—'व्यक्त' की ओर लगा हुआ भक्त उसके 'अव्यक्त' पक्ष के प्रति माहात्म्य-बोध से विह्वल हो जाता है।

संक्षेप में 'भक्ति' के प्रति शुक्लजी की यही धारणा और उसमें संक्रान्त होने वाली 'रहस्यवादिता' की वृत्ति क्या है? उसका स्रोत कहाँ है? कहाँ तक किस रूप में वह ग्राह्य और त्याज्य है—आदि-आदि बातों का निरूपण किया जा चुका है।

सम्प्रति आचार्य शुक्ल की 'भक्ति' सम्बन्धी यह अवधारणा परम्परा से कितना विच्छिन्न है और इसीलिए पारस्परिक भक्ति-चेतना से प्रेरित हिन्दी का भक्ति-साहित्य अपनी उपधाराओं में कहाँ तक और किस रूप में उनसे मूल्यांकित हुआ है—यह विचारणीय है। परम्परा से वे अपने विवेचन में कितनी दूर हैं, साथ ही यह भी कि उनकी बौद्धिक विरासत को परवर्ती पीढ़ी ने कैसा सहेजा है—दोनों पक्ष देखने हैं।

इसके पूर्व कि भक्तिकालीन भावान्तर धाराओं के उन्नायक पुरस्कर्ताओं और उनसे रचित साहित्य के प्रति उनकी प्रतिक्रिया क्या है—सामान्य रूप से पहले यह देख लिया जाय कि 'भक्ति सामान्य' की उनकी और पारम्परिक अवधारणा में कितना अन्तर है?

हिन्दी के जिस मध्यकालीन भक्ति साहित्य की समीक्षा शुक्ल ने जिस 'लोकधर्म' के मानदण्ड पर की है—उससे न तो उस साहित्य की अध्यात्म की भूमि पर प्रतिष्ठित ऊँचाई ही मानी जा सकती है और न ही तदनुरूप साहित्य में वर्णित व्यापार। वाजपेयीजी ने इसी त्रुटि को पकड़ लिया है और शुक्लजी को हिला दिया है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि शुक्लजी ने शब्द सभी प्रायः भारतीय परम्परा से लिये हैं—ऐसे शब्द जिन्हें उनकी समीक्षा का 'की-वर्ड्स' कहा जा सकता है—पर अर्थ सबको अपना दिया है—इससे उनकी 'मौलिकता' स्थापित होती है—पर 'परम्परानुगति' भंग हो जाती है। 'परम्परानुगतिकता' से मेरा आशय क्रमागत मान्यताओं के यथास्थितिवादी व्याख्यान से नहीं है—पर आध्यात्म-चेतना से विच्छिन्न विज्ञानसम्मत नितान्त बुद्धिवादी व्याख्यान से भी नहीं है। जब मैं 'परम्परा' से हटकर भारतीय भक्ति साहित्य के व्याख्यान की बात शुक्लजी के सन्दर्भ में उठाता हूँ—तब एकमात्र मेरा ध्यान उस 'अध्यात्म' की ओर जाता है—जिसे शुक्लजी साहित्य के क्षेत्र से बर्खास्त करने की बात करते हैं।

कहने को वे सरस्वती और दृषद्वती के बीच प्रतिष्ठित आर्यशास्त्रानुमोदित धर्म को ही 'लोकधर्म' या 'धर्म' कहते हैं—पर विज्ञान-सम्मत विकासवादी व्याख्या उनकी रुचि से निर्धारित है और उनकी रुचि 'मानवता' (मानव-स्तर तक विकसित चेतना में उदित लोकमंगलोपयोगी वृत्ति) केन्द्रित है। इस 'मानवता' की चरितार्थता ही उनके चैन्तनिक प्रस्थान का मूल बिन्दु है। इसी को केन्द्र में रखकर वे शास्त्र, काव्य और व्यवहार—सब तरफ सोचते हैं—उनका चिन्तन इससे

ऊपर किसी लोकातीत लक्ष्य की ओर नहीं जाता। हाँ, वे किसी ऐसी शक्ति की कल्पना परमसत् —विश्वधारक सत्य के रूप में अवश्य करते हैं जिससे मानवता में संभावित विशेषता परिपूर्णता को पहुँचती है। यही परिपूर्णता ईश्वर-सत्य है और वह परिपूर्णता जगत् के रक्षण और रंजन में है—उसका सदंश रक्षण में और आनंदांश रंजन में व्यक्त होता है। यह सम्भावना मानव-स्तर पर विकसित चेतना में है—उसी की चरितार्थता ईश्वरत्व की उपलब्धि है। उसका रास्ता है व्यक्ति सत्ता का विस्तार—बोधशक्ति का भी और रागशक्ति का भी। यदि व्यक्ति-सत्ता रक्षण और रंजन के जिस आर्यशास्त्रानुमोदित माध्यम से लोकसत्ता से एकरस हो जाती है तो वह चरितार्थ हो गई—ईश्वरत्व या पूर्णता को पहुँच गई। शुक्लजी व्यक्त जगत् को इसीलिए अव्यक्त की अभिव्यक्ति मानते हैं। चिन्तन या बोधवृत्ति से हम उसके लोकरक्षक और लोक-रंजक रूप (यह रूप उपासना के लिए आरोपित नहीं है—वास्तविक है) को 'जान' लेते हैं—पर वह सरस तब होता है जब हमारा व्यक्ति-हृदय सर्वात्मना उसके इस रूप पर रीझकर समर्पित हो जाता है। समर्पित होने का मतलब है उसके गुणों को अपने में उभारना और इस प्रकार हृदयानुमोदित पद्धति पर उस उपास्य से एकात्म हो जाना। विवेकगृहीत 'लोकधर्म' का हृदय-गृहीत रूप ही 'भक्ति' है। शुक्लजी इसे ही अपना पूर्ण समर्थन देते हैं।

स्पष्ट है कि शुक्लजी का चैन्तनिक प्रस्थान-बिन्दु 'मानवता' की चरितार्थता है—इसी व्यक्त जगत् के बीच-आराध्य है सगुण रूप में 'अव्यक्त' का अभिव्यक्त रूप 'व्यक्त' लोक। यही लोक शुक्लजी की सीमा है, इसलिए उनका 'धर्म' इसी से जुड़ा हुआ है। मानवता की इसी चरितार्थता में काव्य-स्तर पर 'रसदशा' है, व्यवहार के स्तर लोकमंगलोपयोगी आचरण 'उपासना' है और आचार्य-लक्षण-लक्षित 'व्यक्त' का भावना द्वारा बिम्बन करते हुए भावमग्न होना 'भक्तिरस' का आस्वाद है और यह सब प्राकृत वृत्तियों—बोध तथा राग—से ही सम्भव है।

परम्परा भी 'मानवता' की चरितार्थता मानती है और उसे महाभारतकार 'गुह्यं ब्रह्म' कहता है—

'गुह्यं ब्रह्म तदिदं ब्रवीमि न मानुषाच्छ्रेष्ठतरं हि किंचित्।'

मनुष्य पूर्णता की सम्भावना है और 'पूर्णता' निरपेक्षता अबुद्धिबोध्य है। गोस्वामीजी उसका बोध उसी के अधीन है—ऐसा मानते हैं—

सो जानै जेहि देउ जनाई। जानत तुम्हहिं तुमहिं होइ जाई॥

उपनिषदों की यह प्रतिध्वनि है—यह कालक्रम से कोई विकसित मत नहीं है। उपनिषद् है—

यमेवैष वृणुतेतेनैव लभ्यः।

निष्कर्ष यह कि 'मानवता' विषयक शुक्ल-सम्मत-धारणा से 'परम्परा'-सम्मत धारणा भिन्न है। शुक्लजी उसे 'स्पष्ट' कहते हैं और परम्परा उसे 'गुह्य' (रहस्य) कहती है। तुलसी कहते हैं—

बड़े भाग्य मानुष तन पावा। सुर दुर्लभ सद्ग्रंथन गावा।

यदि तुलसी-सम्मत सद्ग्रंथ में 'महाभारत' का भी शुमार है—तो 'मनुष्य' का पारमार्थिक रूप गुह्य अर्थात् रहस्मय है—अबुद्धिबोध्य है—रहस्मय है। यहाँ 'रहस्य' शब्द 'पर्सनल' या 'प्राइवेसी' के अर्थ में नहीं है—क्योंकि वह वस्तु सत्य है। वह किसी का व्यक्तिगत सत्य नहीं है—व्यक्तिगत सत्य सापेक्ष होता है जबकि वह पूर्ण तथा निरपेक्ष सत्य है। अपने इस रूप में सत्य 'अव्यक्त' है—उसका 'व्यक्त' रूप वह है जो 'ज्ञानेन्द्रिय' मन तथा बुद्धि की पकड़ में आ

सके। इसीलिए शुक्लजी उसे 'ज्ञान' कहकर भाव की सीमा वहाँ तक निर्धारित करते हैं। भक्त 'भक्ति' द्वारा उसके व्यक्त रूप से एकरस होकर अनुभव करता जाता है और 'अव्यक्त' रूप से अभिन्न सत्ता की ओर बढ़ता जाता है। शुक्लजी 'ज्ञान' को प्राकृत अन्तःकरण की वृत्ति ही मानते हैं—वे ज्ञान को अतिप्राकृत स्तर पर नहीं लेते। 'सूरदास' में स्पष्ट ऐसी किसी शक्ति का निषेध किया है। इसलिए उनका 'ज्ञान' चिन्तन-प्रसूत 'अद्वैतवाद' की उपलब्धि कर उस लक्षण से परमसत् को लक्षित कर सकता है—पर शुक्ल-सम्मत 'ज्ञान' इससे आगे नहीं जा सकता। यह केवल योग है जो अतिप्राकृत और जटिल व्यापारों के माध्यम से 'अव्यक्त' का साक्षात्कार करा सकता है। शुक्लजी उसे लोकसामान्य के लिए सुलभ नहीं मानते। इसीलिए उस क्षेत्र को योगियों के लिए, व्यक्तिगत साधना वालों के लिए छोड़ देते हैं। वे तो केवल उस 'लोकधर्म' या 'सोशल डिसिप्लीन' के प्रति प्रतिबद्ध हैं जिससे 'व्यक्त' जगत् में ध्वंसक तत्त्व रचनात्मक तत्त्वों पर हावी न हो सके। आर्यशास्त्रानुमोदित समाज-व्यवस्था ही उनका 'लोकधर्म' है, यह वर्णाश्रम धर्म है। अविकल परम्परासम्मत अर्थ में यह 'धर्म' शब्द भी नहीं है। शुक्लजी के 'धर्म' में जिस कर्म, ज्ञान और भक्ति—तीनों का सामंजस्य है—उनकी सीमा 'व्यक्त' ही है—वे सब प्राकृत भूमि के ही हैं—उनमें अन्तःकरण की वृत्ति और तत्प्रेरित कर्म से आगे कोई नहीं जानता। अपने 'लोकधर्म' को स्पष्ट करते हुए कर्म, ज्ञान और भक्ति की त्रयी से 'योग' को बाहर रखा और 'अव्यक्त' से उसे सम्बद्ध किया। उसे व्यक्तिगत स्तर पर साधन करने वाले योगियों के लिए छोड़ दिया।

'मानस' के साक्ष्य पर ही देखना चाहिए कि **'धर्म', 'भक्ति', 'मुक्ति', 'ईश्वर', 'ज्ञान'** को जो अर्थ शुक्लजी ने दिए हैं—वे 'परम्परा' के उपासक तुलसी को कहाँ तक स्वीकार्य हैं? शुक्लजी का गंतव्य है—व्यवहार, भक्ति, काव्य तथा कर्म—सभी क्षेत्रों में 'व्यक्त' लोक की सत्ता में व्यक्ति-सत्ता का लय—कर्म सम्पाद्य है तो इसी भूमिका पर। हृदय की इसी अवदान-दशा से प्रेरित कर्म द्वारा मानवता-जगत् की स्थिति—रक्षा द्वारा चरितार्थ होती है—यही शुक्लजी का प्राप्य है—यही युक्ति है, इसी के लिए मुक्ति है जो ज्ञान के प्रति होती है।

'मानस' और 'विनय'—के साक्ष्य पर क्या तुलसी का भी यही चरम गंतव्य सिद्ध होता है—क्या परम्परागत शास्त्र शुक्लजी का पक्ष समर्थित करते हैं? तुलसी के मानस का परम्परा-सम्मत दृष्टि से चरम लक्ष्य है—भक्ति। यह साध्य भक्ति है। शुक्लजी ने इस 'साध्य' का नाम अवश्य लिया, पर उसका विवेचन नहीं किया। यह साध्य भक्ति भगवद्रूप ही है—इससे भिन्न नहीं। इसीलिए 'भक्ति' सुतंत्र अवलम्बन आना—ज्ञान और कर्म स्वतंत्र नहीं हैं—भक्ति स्वतंत्र है—ज्ञान-विज्ञान सब उसके अधीन हैं। आर्यशास्त्रानुमोदित 'कर्म' (या धर्म) में अधिकार, द्रव्य-विधान, सामर्थ्य, देश, काल आदि की अपेक्षा है। 'ज्ञान' में भी स्वातंत्र्य नहीं है—ज्ञानदीप के प्रज्वलन में कितनी कठिनाई और किन-किन साधनों की अपेक्षा है—यह उत्तरकाण्ड में विस्तार से निरूपित है। इस अन्य सापेक्ष 'कर्म' और 'ज्ञान' का सम्पादन हो भी गया तो भी 'भक्ति' हीन कर्म 'रक्तबीज इव बाढ़त जाई' और निरुपास्ति ज्ञान—भक्तिशून्य ज्ञान—उपद्रवग्रस्त होता है—ज्ञानी साधक का भक्तिशून्य होने पर पतन सम्भव है।

जे ज्ञान मान विमत्त तव भव हरनि भगति न आदरी।
ते पाइ सुर दुर्लभ पदादपि परत हम देखत हरी॥

तुलसी की साध्य भक्ति कर्म और ज्ञान की मुखापेक्षी नहीं है। तुलसी कहते हैं—

"कौन सोमयाजी अजामिल रह्यौ कौन गजराज रह्यौ बाजपेयी?"

तुलसी कह रहे हैं कि किरातों को कौन-सा 'ज्ञान' था—जिनके लिए कहा गया है—

वेद बचन मुनि मन अगम ते प्रभु करुना ऐन।
बचन किरातन्ह के सुनत जिमि पितु बालक बैन ॥

तुलसी के मन से 'ज्ञान-दीप' में स्वात्मानुभव प्रकाश आगन्तुक है, पर भक्ति-मार्ग में स्वाभाविक—**'राम भगति चिंतामनि सुन्दर'**। शुक्लजी भी तुलसी की भाँति 'भक्ति' को सर्वोपरि महत्त्व देते हैं—पर उसे कर्म और ज्ञान-समन्वित ही मानते हैं—क्योंकि उनकी दृष्टि से 'भक्ति' अन्तःकरण की वृत्ति-विशेष है—और—वह अन्तःकरण उस त्रिगुणात्मिका प्रवृत्ति की परिणति है जो जड़ है—जीव का मूल 'स्वभाव' उससे सर्वथा परे है—जड़ वृत्ति चिदानन्दमय **'स्वभाव'** का प्रकाश किस प्रकार कर सकती है ? तुलसी की साध्य भक्ति आराध्य की शक्ति—

लसत मंजु मुनि मंडली मध्य सीय रघुचन्दु।
ज्ञान सभा जनु तनु धरे भगति सच्चिदानन्द ॥ २।२३९ रा०च०मा०

सीता का ही नामान्तर है। वह शक्ति जो चाँद से चाँदनी की तरह अविच्छेद्य है, प्रभा से भानु की तरह एक है—

प्रभा जाइ किमि भानु बिहाई ?

सीता ही आदि शक्ति है—राम से "कहियत भिन्न न भिन्न"। उसी ने "सब जग उपजाया"। तत्त्वतः साध्य भक्ति नित्य, विभु आत्मशक्ति ही है—अन्तःकरण की वृत्ति तो प्रकाशक वल्ब की भाँति है—प्रकाशक होने से उपचारतः उसे भक्ति कहते हैं—तत्त्वतः नहीं। वह **साध्य भक्ति** साधक के पौरुष से नहीं—राम की कृपा से मिलती है—

सो मणि जदपि प्रगट जग अहई। राम कृपा बिनु कोउ न लहई ॥

राम की कृपा से वह मिलती है और उससे राम मिलते हैं—और अनन्तः

भक्ति-भक्त भगवंत गुरु चतुरनाम वपु एक।

सबका कल्पित भेद निरस्त हो जाता है—अद्वैत तत्त्व अनुभूति मात्र रहता है। 'मानस'-साक्षिक 'भक्ति' का यही रूप शुक्लजी बताते हैं, तुलसी के यहाँ 'अविरल प्रेम भगति' प्राप्त सुतीक्ष्ण बीच रास्ते हृदय के भीतर जिस द्विभुज राम का साक्षात्कार करता हुआ 'भक्तिरस-मग्न' है—वह काव्य की ही भावन वाली शुक्ल-सम्मत प्रक्रिया है। क्या गुरु-प्रसादवश 'सूर' के हृदय में जो 'लीला' स्फुटित हुई—वह काव्योपयोगी बिम्बनात्मक प्रक्रिया से सम्भव है ? क्या हृदय के मध्य 'साक्षात्कार' व्यक्तिमात्र सम्बन्ध होने से 'रहस्य' नहीं है—रहसि भवः—रहस्यम् नहीं है ? क्या यह साक्षात्कार अन्तःकरण की जड़ वृत्ति से सम्भव है ? क्या जड़ वृत्तिमयी शुक्ल-सम्मत 'भक्ति' ही तुलसी का साध्य है ? क्या मानस के साक्ष्य पर 'भक्ति' का यही स्वरूप बनता है ? नहीं। साध्य भक्ति के अधीन **ज्ञान** अर्थात् वाक्यवान् तर्कलब्ध ज्ञान और **विज्ञान** अर्थात् अपरोक्षानुभूति—दोनों हैं। यद्यपि उन्होंने एक जगह 'भगति का साधन कहऊँ बखानी' कहा है—जिससे 'भक्ति' की पराधीनता, साधन की मुखोपेक्षिता प्रतीत होती है—इससे 'स्वतन्त्र' और 'साधनाधीन'—कहने से एक अन्तर्विरोध भी आता है—तथापि उसकी संगति यह है कि साध्य भक्ति सच्चिदानन्द की स्वातन्त्र्य-शक्ति है—और साधन या असाधारण भक्ति—परमात्मा या उसके व्यक्त रूप के प्रति अन्तःकरण की वृत्ति के झुकाव के लिए साधन आवश्यक है। अन्तःकरण की वृत्ति-रूपी प्रकाशक वल्ब को निर्मल करना आवश्यक है और तदर्थ साधन भी आवश्यक है। प्रकाशक जितना ही निर्मल होगा—विद्युत्प्रवाह की भाँति चिन्मयी शक्तिरूप भक्ति का उतना ही प्रकाश होगा। निष्कर्ष यह कि साध्य भक्ति स्वतन्त्र है और साधन भक्ति साधना-

धीन । इसी 'साध्य' भक्ति के लिए 'विनय' में तुलसी ने कहा है—'रघुपति भगति करत कठिनाई।' वह करने से नहीं, 'स्व-भाव' से 'हो जाती' है। मत्त गजराज की भाँति अत्यन्त पुरुषार्थी भी निम्नगामी भवजल के तीव्र प्रवाह में ऊर्ध्वयात्रा—उल्टी यात्रा नहीं कर सकता—पर 'मछली' 'स्व-भाव' के कारण अनायास कर लेती है। साध्य भक्ति की यात्रा पुरुषार्थ और साधन से नहीं—'स्व-भाव' से होती है। जब तक साधक 'वि-भाव' में स्थित है, तब तक वह 'साध्य भक्ति' नहीं होगी—वह करने से हो गई, तब तो क्रियाधीन हो गई—'स्वतन्त्र' काहे की? तुलसी कहते हैं कि वह तो—'जेहि पै बनि आई'—स्वयं वह जिसके अनुकूल हो गई—हो गई। 'वि-भाव'-स्थित व्यक्ति उसे नहीं पा सकता—'स्व-भाव'-स्थित ही पा सकता है। यह 'स्व-भाव' भी स्वतन्त्र है—'भक्ति' उसी की शक्ति है—उसी का प्रकाश है—दोनों में चाँद और चाँदनी का सम्बन्ध है। इस 'स्व-भाव' की अपरोक्षानुभूति कैसे हो? वस्तुतः 'शक्ति या भक्ति' इसी 'स्व-भाव' का स्वातन्त्र्य-प्रकाश है—इसी 'शक्ति' से वह 'आत्मानुभव' करता है। शक्ति प्रकाशमय स्वभाव का विमर्श या परामर्श है—फलतः दोनों स्वतन्त्र हैं और कहने के लिए तत्त्वतः चाँद और चाँदनी की तरह एक हैं—वास्तव में 'मानस' के साक्ष्य पर 'भक्ति' के तीन स्तर हैं—(१) साधनभक्ति[१], (२) भावभक्ति[२], (३) प्रेमभक्ति[३]। पहली 'की जाती' है और परवर्ती 'हो जाती' है। इसको वैधी भक्ति भी कहते हैं—इस स्तर पर निष्काम भाव से आर्यशास्त्रानुमोदित 'धर्म' का आचरण होता है—शुक्ल-सम्मत भक्ति इसी स्तर की कदाचित् हो सकती है—उनका भक्ति-प्रभावान्वित लोकधर्म—यहीं तक है—क्योंकि इसका कार्यान्वयन व्यक्त जगत् में होता है और राग-द्वेष के धागे के टूटने से उसका व्यक्तिबद्ध रूप लोकमय हो जाता है। शुक्लजी की दृष्टि लोकबद्ध है—अतः लोकातीत भक्ति के स्तरों की ओर वे वर्जित क्षेत्र मानते हैं उधर व्यक्तिगत साधक या योगी लोग जा सकते हैं—वह जनसामान्य के लिए 'प्राहिबिटेड एरिया' है। तुलसी स्वयम् कहते हैं—

> प्रीति राम सों नीति पथ चलिय राग रिस जीति।
> तुलसी सन्तन के मते इहै भगति कै रीति॥ (दोहावली)

शुक्लजी का 'लोकधर्म' या 'भक्ति'—'रागरिसजीति नीतिपथ चलिय' तक ही है—'व्यक्ति-हृदय' में राम-विषयक 'भाव' भगति या 'प्रेम-भगति'—तक नहीं। शुक्लजी की दृष्टि में—

> सगुण उपासक परहित निरत नीति दृढ़ नेम।
> ते नर प्रान समान मम जिन्ह के द्विज पद प्रेम॥ (मानस—५।४८)

सगुण है—व्यक्त लोकसमष्टि अथवा स्थिति-रक्षाविधायी अवतार। तुलसी सगुण-निर्गुण—दोनों को समेटते हैं—

> हिय निर्गुण नयनन्हि सगुन रसना राम सुनाम।
> मनहुँ पुरट संपुट लसन तुलसी ललित ललाम॥

अस्तु, मुझे यहाँ अप्रासंगिक विस्तार नहीं करना है—केवल यह दिखाना है कि शुक्लजी ने '**मानस**-साक्षिक भक्ति' का उतना ही रूप अपनी युगचेतना-निर्दिष्ट रुचि से लिया है जितना 'व्यक्त लोक' के बीच जनसामान्य के लिए स्थिर व्यवस्था का कार्य कर सकता है।

शुक्लजी की एक यह भी मान्यता है कि अन्तःकरण की वृत्ति ही राग है और वह दो ही कारणों से सम्भव है—साहचर्य तथा रूपदर्शन। तुलसी—जो आध्यात्मिक उपलब्धि से सबको जोड़कर चलते हैं—का यह भी पक्ष है—

सुमिरिय नाम रूप बिनु देखे। आवत हृदय सनेह विशेषे ।।

बिना रूपदर्शन और भौतिक साहचर्य के भी नाम-स्मरण मात्र से स्नेह उत्पन्न होता है।

यदि घट के भीतर तत्त्वदर्शन ही रहस्यवाद का आधार है तो वह सुतीक्ष्ण मुनि और हृदय में स्फुटित लीला का साक्षात्कार करने वाले सूर पर भी लागू होता है और भारतीय परम्परा-सम्मत है।

प्राकृत अन्तःकरण के परे जिस विमर्शमयी स्वरूप-शक्ति से प्रकाश-स्वभाव निज रूप की पहचान सम्भव है—वह ज्ञानात्मिका भक्ति है। वहाँ प्राकृत जगत् की व्यवस्था लागू नहीं होगी। वहाँ एक ही शक्ति से सब तरह का ज्ञान होता है—वहाँ देखने के लिए आँख या सुनने के लिये कान जैसी इन्द्रिय-नियत व्यवस्था नहीं है कि भाव-भक्ति से 'जानने' का काम लेना नाक से खाने की तरह अस्वाभाविक काम लेना है। वहाँ 'स्वभाव' शक्ति से 'स्वभाव' का प्रकाश होता है। शुक्लजी 'सूरदास' में लिखते हैं—"भक्त्या मामभिजानाति…" को लेकर 'शाण्डिल्यसूत्र में यह कहा गया है कि भक्ति ही के द्वारा भगवान् तत्त्वतः जैसे हैं—वैसे जाने जा सकते हैं। अतः भक्ति साधन नहीं, साध्य है। पर यह बात यहाँ तक नहीं पहुँचाई गई कि जानने का काम प्रेम या भक्ति से लिया जा सकता है—और आगे अपनी धारणा के अनुसार इस श्लोक की अन्यथा व्याख्या की और कहा—"हमारे यहाँ भक्ति-मार्गियों की ओर से ज्ञानक्षेत्र की ऐसी अवहेलना नहीं हुई—भक्ति ने ज्ञान का काम अपने ऊपर नहीं लिया।" उनके अनुसार "गीता का उपदेश तो यही रहा कि जानते चलो, भक्ति करते चलो और कर्म करते चलो।" वे पाश्चात्य आधुनिक चिन्तकों की भाँति किसी अतिप्राकृत 'स्वानुभूति' (Intuition) को नहीं मानते। इस ओर शुक्लजी की रुचि है, 'परम्परा' या 'दार्शनिक' युक्ति नहीं। जब शुक्लजी यह स्वीकार करते हैं कि 'व्यक्त' 'अव्यक्त' की अभिव्यक्ति है—तो 'शक्ति'—अतिप्राकृत शक्ति का स्वीकार अनायास हो जाता है—और ऐसा संकेत भी उनमें है—यह बात अलग है कि वे 'शक्ति' और 'भक्ति' को एक नहीं मानते—साध्य या भक्ति को भी नहीं।

एक बात और। 'साध्य भक्ति'—भाव और प्रेम-भगति—भारतीय परम्परानुसार ज्ञानोत्तरा भक्ति है—'स्वरूप-बोध' के अनन्तर प्रकाशित होती है। दर्शन-भेद से 'स्वरूप' भिन्न-भिन्न रूप है—जीव का। निर्धारित प्रक्रिया से 'तात्त्विक ज्ञान' 'अज्ञान' का निवर्तक होता है—जिस अज्ञान या अविद्या से 'अहंकारविमूढ़ात्मा' जीव अपने को 'कर्ता' होने का अभिमान करता है। अनादिकाल से चली आती हुई अविद्या, अविद्या से स्वरूप-विस्मृति, से स्वरूप का अन्यथा बोध और अन्यथा बोध से दुःखानुभव को शृंखला चलती रहती है—अविद्यामूलक कर्तृत्व बोधपूर्वक सम्पादित कर्म और तज्जनित वासना आत्मा के बंधन बन जाते हैं। इस बंधन से जो मुक्ति काम्य है—वह 'ज्ञान' से ही सम्भव है। तुलसी 'ज्ञान' से 'मल' का सर्वथा प्रहार नहीं मानते—तदर्थ 'भक्ति' की अपेक्षा मानते हैं—

धर्म ते बिरति जोग ते ज्ञाना। ज्ञान मोच्छप्रद बेद बखाना।।
जातें बेगि द्रवहुँ मैं भाई। सो मम भगति भगत सुखदाई।। (मानस—३।१६।१)

अहंकार रूप मृषाग्रंथि ही बंधन है और उसका निराकरण तुलसी ज्ञान-दीप के प्रकाश में मानते हैं। यह 'ज्ञान'—स्वरूपबोध—स्वरूप-स्मृति—आत्मप्रत्यभिज्ञा—निजरूप की पहचान—आपन पहचान—स्वरूप विस्मृति-रूप अज्ञान विरोधी है। श्रवण, मनन, निदिध्यासन रूप

वेदान्त-सम्मत प्रक्रिया से अधिकारी साधक 'सोहमस्मि'—इत्याकारक अखंडाकार वृत्ति से विरोधी वृत्ति का नाश करती हुई 'कतकर जो न्यायेन'—स्वयं भी शान्त हो जाती है। तदनन्तर आवरण के नष्ट होने से तात्त्विक स्वरूपबोधात्मक ज्ञान अनावृत्त हो जाता है। यह 'ज्ञान' अन्तःकरण की वृत्ति नहीं है। शुक्लजी 'ज्ञान' या 'बोध' को भी अन्तःकरण की वृत्ति तक ही मानते हैं और कहते हैं कि इसी वृत्ति से 'अद्वैतवाद' की उपलब्धि हुई है—निश्चय ही यह सही है, पर 'अद्वैवाद' और 'अद्वैततत्त्व' में अन्तर है। शुक्लजी 'अद्वैतवाद' की वृत्त्यात्मक ज्ञान से उपलब्धि की बात तो करते हैं, पर 'अद्वैततत्त्व' की अतिप्राकृत स्वरूपात्मक चिन्मय ज्ञान रूप में अनावृत्त होने की बात ही नहीं करते। इस प्रकार शुक्लजी ने न केवल 'भक्ति' का, प्रत्युत 'ज्ञान' का भी परम्परासम्मत आख्यान नहीं दिया—कदाचित् अपने दुर्ग के भीतर उन्हें इन रूपों में 'भक्ति' और 'ज्ञान' की चर्चा अनावश्यक प्रतीत हुई। जैसे भारतीय दर्शन अपनी सीमा का ध्यान रखकर ही किसी की चर्चा करते हैं और किसी को छोड़ देते हैं। इस वृत्ति से शुक्लजी को जोड़ दें—तो वह उनका पक्ष कहा जा सकता है। जिस प्रकार 'साध्य' भक्ति का नाम लेकर भी उसे अचर्चित ही छोड़ दिया, उसी प्रकार 'जोग ते ज्ञाना' के अनुसार 'अव्यक्त' पक्ष को योग-लभ्य 'ज्ञान' प्राप्य कहकर भी अचर्चित ही छोड़ दिया। इससे निष्कर्ष यही निकलता है कि उनका एक वैचारिक दुर्ग है—वे उसी दर्शन के संस्थापक हैं—एक युगानुरूप दार्शनिक प्रस्थान के प्रस्थापक आचार्य हैं।

शुक्लजी 'मानस' को साक्ष्य बनाकर वैसे ही अपना प्रस्थान बनाते हैं—जैसे वैदिक वाङ्मय का साक्ष्य देकर आचार्यों ने अपने-अपने प्रस्थान निकाले। शुक्लजी तुलसी का साक्ष्य देकर 'मुक्ति' के तीन साधनों—भक्ति, ज्ञान और कर्म की बात कही है और तीनों के समंजस रूप से लोकप्रस्थान का संतुलन बनाया है—तुलसी का वक्तव्य है—

राम भगति जहँ सुरसरि धारा। सरसइ ब्रह्म बिचार प्रचारा॥
विधि निषेधमय कलिमल हरनी। करमकथा रबिनंदिनि बरनी॥

संतसमाज-रूपी तीर्थराज में भक्ति (गंगा), ज्ञान (सरस्वती) तथा कर्म (यमुना) का संकेत स्पष्ट है। व्यवहार में व्यक्त सौन्दर्य की निष्पत्ति के लिए तीनों का सामंजस्य अनिवार्य है।

परम्परा अभक्ति और अज्ञान को बंध का कारण मानती है—अतः भक्ति और ज्ञान को मुक्ति (स्वरूप की पहचान) का मार्ग बनाती है। परम्परा 'मुक्ति' को 'विश्रान्ति' मानती है—शुक्लजी उससे हटकर सोचते हैं।

शुक्लजी का लक्ष्य व्यवहार का व्यक्त सौन्दर्य—जगत् की स्थिति और रक्षा है और तदर्थ 'कर्म' आवश्यक है, 'ज्ञान' (विधिनिषेधमय आर्यशास्त्रानुमोदित लोकधर्म का ज्ञान) उसमें सहायक है और लोकसत्ता में लीन व्यक्ति सत्ता की सामान्य इंसानियत वाली भावभूमि प्रेरक। शुक्लजी इसी 'भाव-योग' को महत्त्व देते हैं—'ज्ञानयोग और 'कर्मयोग' को चरितार्थ करने में केन्द्रीय तत्त्व मानते हैं।

'भक्ति', 'ज्ञान' के साथ 'मुक्ति'-विषयक धारणा भी परम्परा-सम्मत मानससाक्षिक धारणा से भिन्न है। परम्परा मुक्ति या मोक्ष के विभिन्न रूप प्रस्थान-भेद से मानती है। उसका अभावात्मक रूप त्रिविध ताप की आत्यतिक निवृत्ति और भावात्मक रूप निरतिशय, शास्वत आनन्द 'स्वभाव' की पहचान है और यह स्थिति 'विश्रान्ति' धाम है। शुक्लजी की 'मुक्ति' व्यवहार-सौन्दर्य में राग-द्वेष-सूत्र-मुक्त हृदय द्वारा ज्ञानपूर्वक कर्तव्य-परायणता है—इसीलिए वे विश्रान्तिमय काव्यास्वाद को साध्य नहीं—साधन मानते हैं।

उनका 'ईश्वर' जगत् स्थिति-रक्षा-रंजन-कारी परमसत् सच्चिदानन्दमय है—जिसकी अवधारणा मनुष्य ने अपनी ऊर्ध्वगामी लोकमंगलोपयोगी सम्भावनाओं की परिपूर्णता में की है। उसका मंगलकारी सुन्दर रूप धारक शक्तियों की सहायता और विध्वंसक के मर्दन में करुणा और क्रोध के समन्वय में दिखाई पड़ता है। तुलसी की तरह शुक्लजी का 'मनुष्य' उसी में लीन होना चाहता है—अन्तर्यामी से यह बहिर्यामी बड़ा है। परम्परानुसार तुलसी 'अव्यक्त' (निर्गुण) और 'व्यक्त' (सगुण) में सर्वथा अभेद मानते हैं और इसी की सिद्धि में उनका समस्त 'मानस' संलग्न है—

एहि महँ आदि मध्य अवसाना। प्रभु प्रतिपाद्य राम भगवाना ॥

शुक्लजी का झुकाव 'अव्यक्त' की अपेक्षा 'व्यक्त' लोक की ओर ही है। इसीलिए परम्परा-सम्मत न तो द्वैतवादियों के अतिप्राकृत लोकान्तरों की बात करते हैं और न ही सालोच्य, सायुज्य, सारूप्य, सामीप्य और सार्ष्टिरूप मुक्ति की बात करते हैं और न ही अद्वैतियों की भाँति ब्रह्म-जीवैक्यरूप स्वरूप साक्षात्कारात्मक विश्रान्ति की ही बात। ज्ञान और ज्ञानोत्तरा भक्ति की सिद्धावस्था या विश्रान्ति से हटकर लोकमंगलोपयोगी लोकसत्ता में व्यक्ति-सत्ता के विसर्जित होने में ही मुक्ति मानते हैं। 'व्यक्त समष्टि' ही उनका आराध्य है—जगत्-स्थिति—रक्षा-परायण परात्पर शक्ति की साकार प्रतिमूर्ति राम की ही उपासना उनका काम्य है। उपासनावश उपासक की भावना में घटित मूर्ति —जो लोकमंगलोपयोगी अनुरूप-विरूप-व्यापारों के प्रभाव से मण्डित है—प्रेरणादायक है। व्यवहार-सौन्दर्य के निमित्त उनकी उपासना और उनकी लीनता की ये ही सीमाएँ हैं—परम्परागत अन्य प्रस्थानों से हटकर।

सम्प्रति, 'मानस-साक्षिक' धर्म या 'लोकधर्म' की परम्परा से हटकर शुक्लजी की अपनी धारणा क्या है—यह देखकर इस प्रसंग को सम्पन्न करूँगा।

विद्वानों की धारणा है कि भक्तिकाल की उपधाराओं में रामधारा के प्रतिनिधि चार संत कवियों के, जहाँ तक तुलसी का सम्बन्ध है, उनका दर्शन धर्मनिष्ठ दर्शन है—विशेषतः 'मानस-साक्षिक दर्शन'। हमारे यहाँ परम्परा 'धर्म' का स्रोत 'शास्त्र' को माना गया है—वह 'शास्त्रैक-समाधिगम्य' है। गोस्वामीजी की दृढ़ धारणा है कि वह 'शास्त्र' जो श्रुतिसम्मत हो—'धर्म' का स्रोत है। उससे अभ्युदय और निःश्रेयस्—दोनों की सिद्धि होती है—लोक और परलोक दोनों की सिद्धि होती है। शुक्लजी के चैन्तनिक दुर्ग के अनुरूप जो नहीं पड़ता, उसका नाम लेकर भी छोड़ देते हैं। भक्ति के 'साध्य' रूप को छोड़ दिया, ज्ञान की चर्चा करके भी उसके सिद्धान्तों को ढूँढ़ने में रुचि नहीं ली और उसी प्रकार 'धर्म' के सन्दर्भ में परलोक की बात उठाकर भी उसकी अवहेलना कर दी। 'धर्म' का स्वरूप स्पष्ट करते हुए कह दिया—'व्यक्तिगत' सफलता के लिए जिसे 'नीति' कहते हैं, सामाजिक आदर्श की सफलता का साधक होकर वही 'धर्म' हो जाता है। शुक्लजी मानते हैं कि शेष तीन भक्तिकालीन धाराएँ 'लोकधर्म' से विमुख थीं। ये तुलसीदास ही थे जिन्होंने साधारण जनता (गृहस्थ जनता) के आरूढ़ होने की सम्भावना वाले लोकधर्म की चर्चा करते थे।

याज्ञवल्क्य स्मृति पर विज्ञानेश्वर की मिताक्षरा टीका है—उसमें श्रुति-सम्मत सनातन धर्म की छह विधाएँ बताई हैं—जिसे हम स्मार्त धर्म कहते हैं। गोस्वामीजी की धर्मभावना यही सनातन धर्मभावना है। छह हैं—साधारण धर्म, वर्ण धर्म, आश्रम धर्म, वर्णाश्रम धर्म, गुण धर्म और निमित्त धर्म। शुक्लजी ने भी यह सन्दर्भ देकर 'गोस्वामी तुलसीदास' में लोकधर्म का निरूपण करते हुए कहा कि संसार के सभी देशों में जो मत प्रचलित हुए, उनमें 'साधारण धर्म'

का ही पूर्ण समावेश हो सका—विशेष धर्मों की बहुत कम व्यवस्था हुई, पर सरस्वती और दृषद्वती के तटों पर पल्लवित आर्य-सभ्यता के अन्तर्गत जिस धर्म का प्रकाश हुआ, विशेष धर्मों की विस्तृत व्यवस्था उसका लक्षण हुआ और वह वर्णाश्रम धर्म कहलाया। उसमें कर्म, वचन और भाव की सम्यक् व्यवस्था हुई। शुक्लजी ने वर्ण-व्यवस्था का 'कर्मणा' वाला रूप ही माना है, 'जन्मना' वाला नहीं। गोस्वामीजी ने भक्ति और अध्यात्म के प्रेम वाले क्षेत्र में इसका प्रतिबन्ध उपेक्षित कर दिया है—क्योंकि वहाँ तो 'प्रेम' ही 'नेम' की दायित्व-भावना को आत्मसात् किए रहता है - पर जहाँ स्वभावगत 'भक्ति' या 'प्रेम' प्रतिष्ठित नहीं है—वहाँ बाबा के 'सोशल डिसिप्लीन' रूप 'धर्म' की लौह शृंखला निर्मम है। जनता या तो निर्मल अंतस् की प्रेरणा से व्यवहार कर सकती है अथवा आर्यशास्त्रानुमोदित धर्मानुशास्त्र से। साधारण जनता में पहली स्थिति कम सम्भव है—होगी भी—तो कहीं—क्वचित्—अन्यथा फिर वह जनता साधारण ही क्यों कही जायगी? तुलसी का धर्मचक्र-निरूपण इस दिशा में आलोक विकीर्ण करता है। उनके 'धर्म' में लोकधर्म, राजधर्म, स्त्रीधर्म—सबका सन्निवेश है।

धर्म के साधन दो प्रकार के हैं—आध्यात्मिक और आर्थिक। पहले के भी दो पक्ष—शारीरिक और मानसिक। बाबा के अनुसार सुर-दुर्लभ मानव-शरीर-साधन-धाम है। मानसिक के भी दो रूप हैं—विधि एवं निषेध। विधि रूप साधन श्रद्धा है। बाबा कहते हैं—

श्रद्धा बिना धर्म नहीं होई।

निश्चय ही धर्म के साधारण और विशेष रूपों में साधारण मानव-धर्म पर उनका अधिक झुकाव है।

पर उपकार सार स्रुति को। (विनयपत्रिका)

धर्म के इस रूप के मन में प्रतिष्ठित हो जाने पर समाज-हित के और रूप स्वयं आचरित होने लगते हैं। 'पर उपकार' रूप धर्म की मात्रा व्यक्ति-सत्ता के लोकसत्ता में विलयन की मात्रा पर ही निर्भर है। इस प्रकार परम्परा जहाँ 'धर्म' को 'परलोक' तथा व्यक्तिगत आध्यात्मिक उपलब्धि से चित्तशुद्धि द्वारा जोड़ती है—वहाँ शुक्लजी उसका समाजोपयोगी रूप ही ग्रहण करते हैं और विकासवादी पद्धति पर उसका उत्तरोत्तर विकास भी बताते हैं।

निष्कर्ष यह कि भक्तिकालीन चारों शाखाओं में मर्यादामार्गी तुलसी का साहित्य उनकी रुचि के अनुरूप जितना प्रशस्त प्रतीत होता है—उतना दूसरा नहीं। इसलिए रामचन्द्र के प्रति जैसे तुलसी समर्पित हुए, वैसे ही तुलसी के प्रति रामचन्द्र। 'मानस' के साक्ष्य पर 'रुचि-सम्मत' लोक-काव्योपयोगी जो मानदण्ड शुक्लजी ने निर्धारित किए—उसका प्रशस्त तथा चतुष्पाद संचार भी उन्होंने वहाँ किया। यह बात सही है कि 'तुलसी-साहित्य' की समीक्षा मानदण्ड-निर्धारण के सन्दर्भ में उतनी नहीं उभर पाई जितनी उभर सकती थी। 'पद्मावत' की आलोचना के स्तर पर गोस्वामीजी का स्तर साहित्यिक आलोचन की दृष्टि से नहीं पहुँच सका।

रामधारा की ही 'रसिक धारा' वाला साहित्य उनकी न केवल सहानुभूति नहीं पा सका—प्रत्युत भर्त्सना का भी विषय बना। इसका कारण था 'गुह्य' भावना का अलोकोपयोगी संक्रमण। यद्यपि 'गुह्यता' भारतीय परम्परा में समाहृत है—पर शुक्लजी उसमें विकृति की संभावना देखकर भारतीय मानने से ही मना कर देते हैं—उसे विदेशी वृत्ति मानते हैं और अत्यन्त अभिनिवेश के साथ 'काव्य में रहस्यवाद' शीर्षक निबन्ध में प्रतिपादित करते हैं।

शुक्लजी न तो भारतीय काव्य-परम्परा में 'गुह्य' भावना स्वीकार करते हैं और न ही 'ज्ञान' तथा 'भक्ति' के क्षेत्र में ही। कर्म के क्षेत्र में गुह्यता का बहिष्कार तो सभी करते हैं।

'अव्यक्त' विषयक योगमार्ग में ही उनकी दृष्टि में 'रहस्य' भावना सम्भव है। विपरीत इसके परम्परागत प्रस्थान 'ज्ञान' और 'भक्ति' दोनों की साध्यावस्था में गुह्यता स्वीकार करते हैं। स्वयं गोस्वामीजी कहते हैं—जिन्ह जाना तिन्ह जाना नाहीं—अर्थात्, जानतामविज्ञानम्, विज्ञानम् विजानताम्—जिन्होंने प्राकृत अन्तःकरण की वृत्ति रूप ज्ञान से 'स्वरूप' या 'चरमतत्त्व' को जानने की बात की—उसने गलत की। वह बुद्धिबोध्य नहीं है। वृत्त्यात्मक ज्ञान से परे शुक्लजी की दृष्टि में 'रहस्य' है—होना भी चाहिए। 'अद्वैतवाद' और वस्तु है, 'अद्वैततत्त्व' और वस्तु है। 'अद्वैतवाद' तक वृत्त्यात्मक ज्ञान के माध्यम से स्पष्ट पहुँचा जा सकता है—पहुँच गया है, पर 'अद्वैतवाद' तक अतिप्राकृत शक्तिस्वानुभूति के माध्यम से जाया जा सकता है। यही स्थिति 'भक्ति' की भी परम्परा में है। साध्य भक्ति भी प्राकृत अन्तःकरण की वृत्ति नहीं है। अतिप्राकृत 'स्वरूप शक्ति' है—अतः उसके बल से लीला का आस्वाद व्यक्तिगत होने से रहस्यमय है। वह घर के भीतर ही स्फुटित होता है।

इस प्रकार परम्परागत प्रस्थानों की धारणा से हटकर शुक्लजी ने कालोचित चेतना के सन्दर्भ में अपना एक स्वतंत्र प्रस्थान निर्धारित किया है और तदनुरूप चैन्तनिक व्यूह रचा है। फलतः नंद दुलारेजी वाजपेयी ने जो उनके 'लोकधर्म' की दार्शनिक भूमि को प्रतिष्ठित प्रस्थानों के सन्दर्भ में चुनौती दी है—वह सम्यक् विचारित पक्ष नहीं है—यद्यपि यह सही है कि शुक्ल-सम्मत मानदण्ड साहित्य की हर विधा के साथ आलोचनोचित तटस्थता का सम्यक् और प्रत्याशित निर्वाह नहीं कर सका है।

## (ख) कृष्णाश्रयी धारा और आचार्य शुक्ल

आचार्य शुक्ल के चैन्तनिक व्यूह के अनुसार 'सगुणभक्ति' का ही पक्ष भारतीय पद्धति से बैठता है। पाश्चात्य चिन्तन ने उन्हें कहीं दिग्भ्रान्त अवश्य किया है—इसका स्पष्ट प्रमाण 'सूरदास' की पादटिप्पणियाँ हैं—जिनसे इस धारणा का प्रकाश होता है कि भारतीय आचार्य प्राकृत बोधवृत्ति से उपासना के लिए अपेक्षित लक्षणों का निर्धारण किया करते थे और भक्त उसी परिधि में लक्षण-लक्षित अर्थात् व्यक्त के प्रति भक्ति की भावना करते थे। पश्चिम में तर्क-पद्धति का समावेश न होने से उन्हीं तर्कप्राप्त लक्षणों को रहस्यात्मक ढंग से प्राप्त किया जाता था और भक्ति में उसका उपयोग किया जाता था—इसीलिए विदेशी भक्ति से स्वदेशी भक्ति का वर्तक लक्षण ही उन्होंने 'रहस्यवाद' मान लिया और भारतीय परम्परा से हटकर उसे सिद्ध किया। उन्होंने 'भक्ति' में 'रहस्य' का प्रवेश माना भी तो महज उसके 'महत्त्व' और 'असीम' की भावना करने के लिए—न कि उपासना या मानसिक लगाव के लिए। भक्त इस 'अव्यक्त' या 'निर्गुण' पक्ष से जो जुड़ते हैं—वह 'अचिन्त्य ऐश्वर्य' की भावना के लिए—ताकि 'महत्त्व' बुद्धि दृढ़ हो। भक्ति से रहस्य' का सम्बन्ध होता भी है तो महज इतने के लिए - न कि इलहामी या रहस्यवादी ढंग से प्राप्त ज्ञात लक्षण-लक्षित की उपासना के लिए। ज्ञान के क्षेत्र में चिन्तनमात्र होता है और यह काम समुन्नत मनस्क आचार्य करते हैं—भक्तों को सुचिन्तित मार्ग से यह लक्षण प्राप्त होता है। यहाँ आलम्बन भी 'स्पष्ट' और वृत्ति भी प्राकृत। अतिप्राकृत कुछ नहीं। वास्तव में शुक्लजी के हिसाब से भक्तिमार्ग अपने विशुद्ध रूप में धर्म-भावना का भावात्मक या रसात्मक विकास है और यह विकास उपास्य ईश्वर के स्वरूप की प्रतिष्ठा के उपरांत ही होता है। स्वरूप की प्रतिष्ठा तत्त्व-चिन्तन की प्राकृत पद्धति से ही हो सकती है और यह काम समुन्नत मनस्क आचार्य ही करता है। भक्ति के अधिकारी सभी हैं और ज्ञान के इने-गिने। भक्त को भी

ज्ञानी माना जाने लगे—तो अव्यवस्था ही उत्पन्न होगी। शुक्लजी अपनी विकासवादी पद्धति को प्रामाणिक बताते हुए कहते हैं—कर्म, ज्ञान तथा उपासना का क्रम ही प्रमाण है कि उपासना या भक्ति 'ज्ञानयज्ञ' के बाद भी होती है और ज्ञानयज्ञ पूजा समनियत द्रव्ययज्ञ के बाद। उनकी दृष्टि में तुलसी और सूर, कबीरदास आदि की अपेक्षा ज्यादा पढ़े-लिखे तो थे ही—फिर भी 'भक्ति' की सहज-**सरल पद्धति** पकड़ने के कारण 'ज्ञान' की बातें कम करते थे—उत्तरवासी की **वक्र वृत्ति** उनमें नहीं थी—हो कैसे सकती है ?

तर्कसंगत कार्यकारण कार्यभाव की परिणति से हटकर होने वाली परिणति 'रहस्यवादी' ही होगी। शुक्लजी की दृष्टि से भारतीय ज्ञान, भक्ति और कर्म—सर्वत्र असंगत फलतः रहस्यमयता अस्वीकार्य है। 'भक्ति' में अगर है भी तो वह केवल 'माहात्म्य' या 'असीम' बोध के लिए। भक्त लोग 'सगुण' के साथ 'निर्गुण' को भी मानते हैं। शुक्लजी स्पष्ट मानते हैं कि पहले बुद्धि से तात्त्विक ज्ञान और फिर ज्ञान का भावना से योग—अर्थात् मनुष्य की बुद्धि और मनुष्य का हृदय—इन्हीं दोनों अन्तर्वृत्तियों का ठीक और स्वाभाविक ढंग से संचालन उपनिषदों के **ज्ञानकाण्ड** और **उपासनाकाण्ड**—दोनों का विधान है। उपनिषदों में पति-पत्नी—समागमजन्य आनन्द से जो समाधिसुख की वर्णना की गई है—वह 'विज्ञान' का 'साक्षात्कार' है—वह कोई इलहामी अनुभूति नहीं है। यह सूफियों और कैथोलिक ईसाइयों का 'माधुर्यभाव' नहीं है। पश्चिमी जगत् में धर्म का भक्तिपक्ष रहस्यवाद है और उसका आधारभूत तत्त्व-बोध भी रहस्यवाद है। पश्चिमी दृष्टि से रंजित लोग ही यहाँ के ज्ञान और भक्ति में रहस्यवाद देखते हैं। उनकी दृष्टि में रहस्यवाद का मूलमंत्र है—अज्ञात की उपासना और उपनिषदों में है—ज्ञात की उपासना। शुक्लजी की दृष्टि में 'पूजा' जिस द्रव्ययज्ञ रूप में—कर्मकाण्ड के रूप में होती थी—वह पूज्य के स्वरूपबोध के बिना होती थी—फलतः वह 'अविद्या' की उपासना थी—इसीलिए ईशोपनिषद् में कहा गया—

'अन्धनुत्तमः प्रविशन्ति ये विद्यामुपासते।'

पर शुक्लजी अगली पंक्ति को अपने अनुरूप न पाकर छोड़ गए (ततो पि भूयः ये विद्यामुपास्ते)। इसका अर्थ है—जो केवल विद्या की उपासना करते हैं—वे केवल अविद्या की उपासना करने वाले से भी गहरे अन्धतमस् में जाते हैं—इसलिए दोनों की उपासना की जानी चाहिए। अविद्या से मृत्यु का संतरण होता है और विद्या से अमृत की प्राप्ति। शुक्लजी अपने चैन्तनिक व्यूह के निर्माण में औपनिषदिक् वाङ्मय की अन्यथा योजना करते हैं—या कभी-कभी छोड़ देना बेहतर समझते हैं। अस्तु, पहले हम 'भक्ति' के विषय में उनके चैन्तनिक व्यूह को समझ लें। उनकी दृष्टि में 'अज्ञात' की उपासना ही रहस्यवाद है और उसका उक्त पंक्ति के आलोक में आरम्भ से ही निषेध है। भक्त 'अज्ञात' को मानता अवश्य है—पर हृदय का आलम्बन नहीं बनाता—वह तो 'ज्ञात' ही होता है।

शुक्लजी भक्ति का विकास बताते हुए कहते हैं—पहले भय या लोभवश अज्ञात शक्ति की पूजा—द्रव्ययज्ञ, तदनन्तर चिन्तन—ज्ञातयज्ञ, तदनन्तर ज्ञात के प्रति हृदय की योग-उपासना। इसी उपासना से प्रेम-प्रधान भक्ति का विकास। गीता में वह कर्म-ज्ञान समन्वित और शाण्डिल्य आदि भागवत परम्परा में प्रस्थान-भेद—लोकधर्म से वह संपृक्ति नहीं रहती। शुक्लजी के अनुसार रहस्यवादी भक्ति में उपास्य का स्वरूप आरोपित होता है और भारतीय पद्धति में चिन्तन-प्रतिष्ठित। उपास्य का रक्षक और रंजक रूप तर्कसिद्ध है—आरोपित नहीं। शतपथ ब्राह्मण में ब्रह्म की नारायण रूप में कल्पना नर प्रकृति के अनुरंजनकारी रूप की कल्पना है—

इसके पीछे (चतुर्भुज रूप की कल्पना के पीछे) जातीय रुचि है। उनका स्वरूप और लोक भी माना गया। उन्हीं की निकटस्थ प्रतीति के लिए नारायण की नर रूप में—कृष्ण-राम—रूप में भी प्रतिष्ठा की गई। यह वह पद्धति है जिससे श्रीकृष्ण भक्ति के निर्दिष्ट आलम्बन हुए। शुक्लजी को इसका समाधान देना है कि वासुदेवोपासना को जो महाभारत आदि में 'रहस्य' या 'राजगुह्य' कहा गया—वह किस दृष्टि से ? आप भारतीय भक्ति में 'रहस्यवादिता' तो मानते नहीं—अतः इसका आशय या व्याख्या यह कहकर कि यहाँ 'रहस्य' का अर्थ है—किसी का निजी या प्राइवेट। नारायण या वासुदेव के स्वरूप की कल्पना चूँकि जाति-विशेष या व्यक्ति के भीतर जातीय रुचिवश स्फुटित है—बस इतने ही अर्थ में वह 'रहस्य' है—न कि 'अज्ञात की उपासना' के पश्चिमी अर्थ में। शुक्लजी कहते हैं कि कुरुक्षेत्र के युद्ध के बाद वह 'रहस्य' भी नहीं रह गया। पहले उनमें कुछ लोगों ने 'ईश्वरत्व' देखा पर बाद में वह 'लोक' मात्र ग्राह्य हो गया—सो, इस तरह वह रहा-सहा 'रहस्य' भी गया। 'अज्ञात' प्रेम 'कंटक' है और ज्ञात के प्रति सीधा। सूर कहते हैं—

काहे को रोकत मारग सूधो।
सुनि ऊधो, निर्गुन कंटक ते राजपंथ क्यों रूँधो ॥

कहीं कोई दुराव-छिपाव उपास्य या उपासक की ओर से है ही नहीं। अपनी स्थापना को और अधिक स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं कि गीता के कृष्ण ने कहा कि—ब्रह्म से अभिन्न लोक में जो भी 'श्रीमत्' और 'ऊर्जित' है—उसमें वे ही प्रतिष्ठित हैं। जिससे पालन, रक्षण हो—उसमें उन्हीं की व्यक्त कला है। इन्द्र को छोड़कर गोवर्द्धन की पूजा का अनुरोध स्पष्ट इसी तथ्य का द्योतक है कि उक्त 'अंजसपूजा' (प्रत्यक्ष रक्षक-पालक की प्रजा) **हमारी भक्ति-भावना का प्रधान लक्षण है।** बिना इसके हृदय का परिष्कार हो नहीं सकता। जड़-चेतन किसी भी उपकारी के प्रति भक्ति भगवान् के प्रति ही भक्ति है। हमारी 'भक्ति' का सामी मतों की भक्ति से यही अन्तर है कि हम किसी भी प्रत्यक्ष उपकारक में भगवद्बुद्धि रखकर उसकी उपासना का विधान करते हैं—सामी मतों में यह प्रत्यक्ष या 'अंजसपूजा' वर्जित है। अवतार-पूजा इसी वृत्ति का बढ़ाव है—पूजा परोक्ष का अविद्यामार्ग है और उपासना प्रत्यक्ष का विद्यामार्ग—इस प्रकार अज्ञात से ज्ञात की ओर हमारी भक्ति बढ़ी। प्रत्यक्षों के प्रति पूज्य बुद्धि हमारे धर्म की हृदय-वृत्ति है।

शुक्लजी की स्थापना में—भक्ति में रहस्य नहीं—एक अड़चन और है। वह यह कि प्राकृत कार्यकारण-परम्परा से विच्छिन्न यदि कुछ घटित हो जाय तो वह 'रहस्य' है। राम और कृष्ण की लीला में यशोदा और कौशल्या को ऐसा 'रहस्य' दिखता है। यशोदा को कृष्ण के मुँह में ब्रह्माण्ड और कौशल्या को राम का चतुर्भुज रूप—अब उसका क्या हो ? शुक्लजी कहते हैं—यह हो भी तो भी हमारी भक्ति की स्थायी वृत्ति नहीं। उनकी प्राकृत हृदय-वृत्ति स्थायी रूप से नर-लीला में ही रमती है—कभी-कभी वे लोग रहस्योन्मुख हो उठते हैं और तब या तो उस माधुर्य-लीला (नर-लीला) से हटकर 'ऐश्वर्य-लीला' की बात करते हैं अथवा प्रतिपाद्य राम अचिन्त्यैश्वर्य अव्यक्त ब्रह्म ही हैं—अतः वहाँ सब सम्भव है—संगत है—मान लो।

शुक्लजी ने गोलोक, साकेत आदि लीलाओं की कल्पना के पीछे उपासक की उपास्य से नित्य जुड़े रहने का नित्य अभिलाष माना है। स्वरूप की नित्य लीला के अवस्थान के लिए ऐसे नित्य लोकों की वह भावना करता है। विश्व में विद्यमान वही ब्रज-विभूतियाँ वहाँ नित्य विद्यमान हैं। शुक्लजी की दृष्टि में नित्यता की यह रहस्यभावना भी भावप्रेरित ही है। भक्त का चाहे ऐहिक

जीवन हो या पारलौकिक—सर्वत्र वह उपास्य के स्वरूप में अपनी हृदय-वृत्ति को लीन रखना चाहता है—इस प्रकार नित्य लीला सृष्टि में प्रवेश ही उसका चरम लक्ष्य है—जीवन मात्र के साथ ऐहिक तथा पारलौकिक—सम्बन्ध भक्त का चरम काम्य है—किसी अज्ञात निर्विशेष दशा का नहीं ।

एक बात और भी । यह जो थोड़ी-बहुत रहस्य भावना है भी—वह भी भारतीय भक्ति की निजी है—उससे पश्चिमी भक्ति की रहस्य भावना सर्वथा भिन्न है—दोनों में कोई साम्य नहीं । "पश्चिमी 'रहस्यवाद' की सबसे बड़ी विशेषता है—**अज्ञात निर्विशेष परमसत्ता के साथ समागम और संलाप, सीधे जिसके द्वारा भक्त या साधक को लोकोत्तर या पारमार्थिक ज्ञान की प्राप्ति होती है ।**" पर शुक्लजी के साथ पाश्चात्य चिन्तक भी मानते हैं कि उन रहस्यदर्शियों की अटपटी उक्तियों में छानबीन करने पर ऐसा कोई नया तथ्य नहीं मिलता जो ज्ञान के स्वाभाविक विकास-क्रम में उपलब्ध न हो चुका हो । पश्चिमी रहस्यवादिता की **दूसरी विशेषता** उक्तिगत वैलक्षण्य या अनूठा रूपक-जाल । इसका साम्प्रदायिक कारण है । ७वीं शती के सन्त ग्रेगरी की धारणा है कि ईश्वर का साक्षात्कार हमारे कलमल के कारण धुंधला होता है और १२वीं शती के सन्त बरनार्ड की धारणा है कि जब साधक के हृदय-देश में क्षणभर के लिए ईश्वर-प्रेषित ज्योति आती है, तब उस चकाचौंध को कम करने के लिए अथवा उपलब्ध ज्ञान को दूसरों तक संप्रेषित करने के लिए पार्थिव जगत् का कुछ अनूठा रूप-विधान सामने आ जाता है । छलावा की तरह आए हुए इस रूपक को 'छायादृश्य' या फैंटाज्माटा कहते हैं । शुक्लजी सूफियों और कबीर की बानियों में इसी रूढ़ि का निर्वाह समझते हैं । उनके अनुसार इस ईसाई भक्तिमार्ग के फैंटाज्माटा का प्रभाव यूरोपीय काव्य पर भी पड़ा और माना गया कि कल्पना ईश्वर का दिव्य साक्षात्कार है (ब्लेक) । १९वीं शताब्दी के प्रतीकवादियों पर इसी का प्रभाव था—जो बंगाल के ब्राह्मसमाजी भजनों में भी लक्षित होता है । उन रचनाओं में जो साध्यवसान रूपकों की प्रचुरता है—वह इसी छायादृश्य की झलक देने के लिए । शुक्लजी की दृष्टि में यही रूढ़ि हिन्दी की छायावादी कविता में भी खिसक आई ।

विलियम जेम्स ने रहस्यानुभूति के जो चार लक्षण बताए हैं—वे भी भारतीय भक्ति पद्धति में नहीं हैं—अनिर्वचनीयता, (२) ज्ञानोदय, (३) क्षणिकता और (४) निश्चेष्टता । भारतीय भक्ति-मार्ग में भक्ति के आनन्द को भक्तिरस कहते हैं—यह बिल्कुल काव्य में रसदशा की-सी प्राकृत अन्तः की प्रक्रिया है—इसमें व्यक्ति का हृदय भजनीय में लीन रहता है—यह भूत-प्रेत की-सी आविष्ट दशा नहीं है—न यहाँ राम-कृष्ण किसी के सिर आते हैं । फलतः उक्त चारों विशेषताएँ या तो होती नहीं या अपने ढंग की होती हैं । कुरु-जांगल प्रदेश में घूमते हुए शुकदेव की दशा का व्यतिरेक लक्षित करते हुए शुक्लजी कहते हैं कि यह उनकी उन्माद दशा नहीं थी—प्रत्युत रसलीनता थी ।

> कथमा लक्षितः पौरैः सम्प्राप्तः कुरु जांगलान् ।
> उन्मत्त मूक जड़वत् विचरत् गजसाह्वयम् ॥ (भाग०—१।४।६)

पण्डित विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने भी इस अंश को लक्षित कर एक आलोचक का हवाला दिया । आलोचक का यह कहना है कि शुकदेवजी की भक्ति के आवेश को रसदशा कहना केवल अपने पक्ष के समर्थन करने का आग्रह ही है, वस्तुतः रहस्यदर्शी के 'दर्शन' और भक्ति की तल्लीनता में कोई अन्तर नहीं है । पं० मिश्रजी के अनुसार 'रहस्य-दशा' और 'रस-दशा' में अन्तर यह कि पहली व्यक्ति-भूमि की अनुभूति है और दुसरी लोकभूमि की, पहली परोक्ष सत्ता को परोक्ष रखकर होती है और दूसरी उसे प्रत्यक्ष करके ।" चैतन्य सम्प्रदाय में जो मूर्च्छा की

बात आती है—वह दो कारणों से—एक तो बंगाल का भावावेश और दूसरे पठानों के शासन में सूफ़ियों के प्रचार (हाल दशा) से निर्मित वातावरण।

भारतीय भक्तिमार्ग की सामान्य धारणा के स्पष्टीकरण के अनन्तर कृष्ण-भक्तिधारा की जहाँ तक बात है—उसमें भागवत दशम स्कंध के पूर्वार्द्ध के बालकृष्ण और गोपियों के प्रियतम प्रेममूर्ति कृष्ण गृहीत हुए हैं। इनमें जो प्रेममय भक्ति गृहीत हुई—वह **'लोक' और 'वेद' के ऊपर प्रेमलक्षणा भक्ति है**। उसमें लोक और वेद की मर्यादाओं का कोई अवरोध नहीं है। उनके मधुर स्वरूप का आकर्षण और सान्निध्य ही काम्य है। यह प्रेम दाम्पत्यरूप है। यही भावना 'माधुर्य-भाव' है और इसकी अनुभूति 'मधुर रस' है। चूँकि दाम्पत्य राग व्यापक और अन्तर्व्यापक होता है—इसीलिए भारतीय भक्तिधारा में मीरा का माधुर्यभाव तो है ही—उससे भी आगे बढ़कर 'वृन्दावन' की भक्ति 'गोपीभाव' से आगे 'सखीभाव' तक पहुँच गई। सूफियों और ईसाइयों के कैथोलिक सम्प्रदाय में भी यह 'माधुर्यभाव' प्रचलित है।

शुक्लजी के मत में इस दाम्पत्य-वासना रूप भक्तिभाव की साधना में शृंगारिक व्यापार कहाँ तक होते हैं—प्रश्न उठाकर दो पक्ष विचारार्थ प्रस्तुत किए—लीला पक्ष और ध्यान पक्ष। लीला पक्ष में गोपियाँ दाम्पत्य-भाव की वासना की तृप्ति चाहती हैं—सो, वह स्वाभाविक है। ध्यान पक्ष में जो शृङ्गार है—उसकी स्थिति काव्यानुभूति जैसी ही होगी—मानसिकोत्तर पर रसानुभूति। हाँ, यदि पुरुष दाम्पत्य-भाव की उपासना करता है तो वह केवल आलंकारिक आरोप भर होगा। कठिनाई सामी मत के साधकों के समक्ष है—जहाँ उपास्य निरिन्द्रिय है। एक तो वहाँ लीला का प्रश्न नहीं, दूसरे ध्यान भी निराकार का क्या होगा ? मात्र दूल्हे का आरोप ही होगा। यहाँ भी सामी मतों और कृष्ण भक्तों की माधुर्यभावपरक उपासना में दो अन्तर स्पष्ट है—पहला यह कि कृष्ण वास्तव में प्रियतम हैं—खुदा या गाड—में दूल्हात्व आरोपित है। दूसरे यहाँ माधुर्यभाव के अतिरिक्त वात्सल्य, सख्य, दास्य और शांत भी हैं—अंततः दाम्पत्य में इन सबका समावेश माना जाता है।

इस प्रकार शुक्लजी की स्थापना है कि भारतीय भक्तिमार्ग रहस्यवाद (अज्ञात के प्रति प्रेम) नहीं है—जो रहस्यवादिता या माधुर्य की प्राइवेसी है भी—वह अपना अलग रंग लिए हुए। फिर जो रहस्य है भी, वह उसका कोई स्थायी और प्रमुख वृत्ति नहीं है। भारतीय रहस्य-वाद योगमार्ग है—भक्ति मार्ग या ज्ञानमार्ग नहीं। भक्तों में ध्यान-जप-प्राणायम की जो यत्र-तत्र स्थिति मिलती है—वह यहाँ-वहाँ से ली हुई ऊपरी है—उसकी मुख्य वृत्ति तो नवधा भक्ति ही है। श्रवण और कीर्तन—भक्ति की प्राप्ति, दृढ़ीकरण और प्रचार के साधन हैं। भारतीय भक्ति शक्ति-शील-सौन्दर्य के अधिष्ठात आराध्य को इसी जगत् के व्यवहार के बीच रखकर चलती है। फलतः भक्ति के लिए आराध्य रूप में राम और कृष्ण ही लिए गए हैं। राम तो अपने शक्ति-शील-सौन्दर्य-संचलित समग्र रूप में, किन्तु कृष्ण केवल वात्सल्य और शृङ्गार के सौन्दर्यपक्षीय आलम्बन रूप ही लिए गए। कृष्ण का लोकपक्ष इस धारा में उपेक्षित है—रामधारा में अपेक्षित। राम के रक्षक, पालक तथा रंजक—तीनों रूप लिए गए, जबकि कृष्ण का केवल रंजक रूप ही है।

इस सबके साथ शुक्लजी की मूल स्थापना यह है कि अन्य देशों में पैगम्बरों या उपास्यों की अपेक्षा भारतीय परम्परा के आराध्य और आराधक—विशेषकर राम, कृष्ण और उनके अनुयायी जीवन-व्यवहार से दूर रहकर उपदेशक मात्र नहीं हैं—वे व्यवहार में जीवन के हर पक्ष को समुन्नत करने वाले आचार से संपृक्त हैं—यह आचार हृदय की करुणा तथा प्रेम—नामक भावना से प्रेरित होता है और दूसरों में भी वही 'हृदय' जगाता है। यही 'हृदय' शील का मूल

है—इसी से 'साधारण धर्म' की स्थापना होती है। 'भक्ति' इसीलिए 'धर्म' का 'हृदय' है। शुक्लजी 'आगम' की ओर गए होते तो 'हृदय' का भी 'हृदय' पा गए होते। इन उपासकों का साधन भी 'हृदय' है और साध्य भी 'हृदय' है—इसी के बल से व्यक्ति की लोकमंगलोन्मुखी व्यवहार-पद्धति जब प्रकृतिस्थ हो जाती है—तब वह 'शील' कही जाती है। सगुण साधना का मार्ग इसी व्यवहार के बीच से जाता है। 'भक्ति' के द्वारा जिस 'शील' या 'धर्म' की संप्राप्ति होती है—वह 'साधारण धर्म' है।

संप्रति, यह देखना चाहिए कि 'भक्ति' में विशेष धर्म का क्या स्थान है? विशेष धर्म है—लोकधर्म, कुलधर्म, गृहधर्म, आश्रमधर्म। 'भक्ति' हृदय की ऐसी पवित्र उत्कृष्ट भूमि है कि एक तो उसके लिए किसी प्रकार का अधिकार-भेद नहीं है—कुल, जाति, लिंग, वय का भेदवाद और तन्निमित्तक अधिकारवाद समाप्त हो जाता है—विधि-निषेध पानी भरने लगते हैं—पर इसके बाहर के विधान में इन भक्तों का क्या योगदान लोकसंग्रह बुद्ध्या हो? 'विशेष धर्म' के प्रति 'लोकधर्म' के प्रति उनका क्या रुख हो? उनके व्यापकतम सौन्दर्य-भूमि में व्यवहार-जगत् का विरुद्धों के बीच व्यवस्थापक 'सामंजस्य या सौन्दर्यबोध' का समावेश हो नहीं? शुक्लजी की दृष्टि में भक्त की सम्यक् दृष्टि वही कही जा सकती है जिसके अन्तर्मुख शीलसाधना और बहिर्मुख लोकधर्मपालन के बीच तथा 'धर्म' और 'विशेष धर्म' के बीच सामंजस्य स्पष्ट हो। भिन्न गुणात्मक जगत् के बीच उभरने वाले चिरन्तन संघर्ष को जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में समाहित करने वाले लोगों से भक्त को तटस्थ रहना चाहिए या उनमें भी परमात्मा का अंश देखकर उनके प्रति श्रद्धा रखनी चाहिए। शुक्लजी का पक्ष है कि भारतीय भक्ति शुद्ध सत्वस्थ वृत्ति है जिसके शासन में रज तथा तम रहकर व्यवहारगत व्यवस्था या सौन्दर्य को बनाए रखते हैं—अतः उनको परमात्मा की व्यवस्थापक कला को चरितार्थ करने वाले व्यवहारनिष्ठ सभी के प्रति विनत और श्रद्धा-संचलित होना चाहिए। भारतीय प्रकृति की भक्ति की यह प्रत्याभिज्ञापक रेखा है। निर्गुनियों में यह नहीं मिलती, फलतः शुक्लजी की दृष्टि में वह विदेशी भक्ति है। भारतीय भक्ति-पद्धति न ज्ञानमार्ग में अड़ंगेबाजी करती है और न ही कर्ममार्ग में।

लोकधर्म-संवलित भक्ति को भारतीय भक्ति की मूल वृत्ति मानने वाले शुक्लजी को 'कृष्णभक्ति' में बहुत त्रुटियाँ भी दिखाई पड़ी हैं। शुक्लजी आचार्य वल्लभ के विचार पक्ष को तो साभिनिवेश और हृदय का योग देते हुए प्रस्तुत किया, पर आचारमार्ग जो 'पुष्टिमार्ग' के नाम से प्रतिष्ठित है—का परिचय देते हुए अंततः अरुचिकर वृत्तियों की बात भी कही है। पुष्टिमार्ग में आलम्बन कृष्ण के स्वरूप से रक्षक-पालक-ऐश्वर्यमय रूप को हटा देना, भक्ति-श्रद्धा-प्रेम में से माहात्म्यबोध पर्यवसायी श्रद्धा-वृत्ति को घटाकर विशुद्ध प्रेमलक्षण बना देना, मंदिरों में राग, भोग और शृंगार पर ही संकेन्द्रण होना, मर्यादा की पुष्टि को तीसरे दर्जे पर रखना—आदि वृत्तियों ने कृष्ण-भक्तिमार्ग में हृदय के उस पक्ष के विकास का दरवाजा बंद कर दिया जिससे लोक-रक्षण, लोकपालन, कर्मपरायण विभूतियों के प्रति जनसामान्य में श्रद्धा नाम का सामाजिक भाव पैदा होता है और भक्ति सांगोपांग प्रभामण्डल से दीप्त होती है। परमात्मा के रक्षक-पालक प्रवण सदंश की अभिव्यक्ति से अलग होना और मात्र रंजन-विधायक सिद्ध पक्ष में तत्पर होना—क्या पूर्ण रूप को खण्डित करना नहीं है? इसीलिए विरहानलावतार आचार्य वल्लभ की सूर-साहित्य में व्यक्त मेरुदण्ड स्थानीय विरह-भावना की आचार्य शुक्ल ने खिल्ली उड़ाई है—क्योंकि उसके पीछे सीता-राम-विरह की भाँति लोकरक्षण की वृत्ति सक्रिय नहीं है। आचार्य वल्लभ निर्दिष्ट पुष्टिमार्गी भक्ति—प्रेमलक्षणा—के उपासक होने के कारण सूर की

वृत्ति शुक्लजी की दृष्टि में दशम स्कन्ध के उत्तरार्द्ध वाले कृष्ण को तो छोड़ ही दें—पूर्वार्द्ध वाले ब्रजगोपाल और वृंदावनी कृष्ण में भी जहाँ कहीं उनका लोकसंग्रही रूप है—नहीं रमी है।

लोकमंगलवाद की उनकी चेतना अत्यन्त प्रबल है। इसलिए कुछ भी सोचते-विचारते हुए उससे जुड़े रहते हैं—अन्यथा मूल्यांकन में कमी आ सकती है। इसी लोकमंगलवाद के सन्दर्भ में भावजगत् पर विचार करना प्रसंगतः आरम्भ किया और कहा कि करुणा और प्रेम ये दो बीज-भाव हैं—करुणा से रक्षा होती है और प्रेम से रंजन। इनकी तह में घुसें तो मानव में जिजीविषा के कारण राग और द्वेष की वासना जन्मजात होती है—जिनके आलम्बन निर्दिष्ट नहीं होते—आलम्बन निर्दिष्ट हो जाने पर 'राग' ही 'लोभ' और 'लोभ' ही व्यक्ति-विषयक अव्यभिचारित रूप से स्थिर हो जाने पर 'प्रेम' कहा जाता है। पूर्वराग का श्रुतालम्बनक तक रूप 'लोभ' तक ही जा सकता है, 'प्रेम' तक नहीं संभव है उससे अधिक गुणश्रवण पर वृत्ति बदल जाय—व्यभिचरित हो जाय। इस 'करुणा' और 'प्रेम'—जो रक्षण और रंजन के मूल हैं—के मूल में विघटनकारी 'द्वेष' नहीं—अव्यक्त वासना के रूप में 'राग' ही रहता है। अव्यक्त रूप में 'राग' जहाँ रहेगा—'करुणा' अथवा 'प्रेम' उसी तरफ संचरित होगा—आलम्बन के निर्दिष्ट होने पर स्पष्ट 'भाव' रूप में संचरित होने लगेगा। रक्षण से ही विकास होता है—अतः 'करुणा' को ही कुछ लोग मूल रस मानते हैं और 'रंजन' पर जिन राजाओं (भोजराज) का झुकाव है—वे शृंगार को रसराज कहेंगे—पर दोनों जगह अव्यक्त है—विकासोपयोगी 'राग' ही। कविता का सम्बन्ध चूंकि 'व्यक्त' से है—अतः निर्दिष्टालम्बनक 'करुणा' और 'प्रेम' ही परक काव्य होगा। पहला 'प्रयत्न' पक्षीय होगा और दूसरा 'सिद्धि' पक्षीय। सूर दूसरे पक्ष के कवि हैं। दूसरी बात यह है कि 'कविता' व्यक्त से ही सम्बन्ध रखती है—क्योंकि वह 'अभिव्यंजना' है और अभिव्यंजना 'विकास' ही है—इसलिए 'अव्यक्त' 'राग' के व्यक्त पक्ष 'करुणा' तथा 'प्रेम' की अभिव्यक्ति है—काव्य।

यद्यपि 'अव्यक्त' से 'काव्य' और 'भक्ति' को शुक्लजी दूर रखकर रहस्यवादिता से मुक्त रखना चाहते हैं—फिर भी वह इधर-उधर से सेंध फोड़कर घुसने लगता है—इनके चैन्तनिक-व्यूह में। बात यह है कि 'ज्ञान' दो प्रकार का है—वृत्त्यात्मक और स्वरूपबोधात्मक। स्वरूप-बोधात्मक ज्ञान 'स्वानुभूति' ही है—जो (Intutive) अप्राकृत है—प्राकृतबोध से परे है। शुक्लजी 'वाक्यज्ञान' से 'साक्षात्कारात्मक' ज्ञान को जब पृथक् करते हैं, तब बीच में 'बिम्बन' की प्रक्रिया की सहायता लेते हैं—लेकिन उससे भी आगे जाकर कहा है—पूर्ण तत्त्वाभास केवल कोरी बुद्धि की क्रिया में नहीं हो सकता—यह बात शंकराचार्य ऐसे बुद्धि के दार्शनिक को भी माननी पड़ी थी। पारमार्थिक सत्ता के बोध की सम्भावना उन्होंने बहुत कुछ स्वानुभूति द्वारा कही है—केवल शब्दबोध या तर्क द्वारा नहीं। बर्गसाँ और कारपेन्टर भी समर्थन में हैं। तुलसी और सूर का भी यही पक्ष है। दूसरी जगह शुक्लजी ने काव्य के प्रेरणा पक्ष की बात करते हुए कहा है—"कवि सौन्दर्य से प्रभावित रहता है और दूसरों को भी प्रभावित करना चाहता है। किसी रहस्यमयी प्रेरणा से उसकी कल्पना में कई प्रकार के सौन्दर्य का जो मेल आप से आप हो जाया करता है—उसे पाठक के सामने भी वह प्रायः रख देता है।" अस्तु, व्यक्तवादी या अभिव्यक्ति-वादी शुक्लजी यह मानते हैं कि काव्यकला की रमणीयता (पूरी) इन दोनों (साधन और सिद्धि) पक्षों के समन्वय के बीच मंगल या सौन्दर्य के विकास में दिखाई देती है। पर आचार्य के प्रेम-मार्गी पक्ष में काव्य की सिद्धावस्था ही आती है—जो प्रवर्तक प्रेमभाववश आनन्दमयी ही होती है। इसका केन्द्र प्रेम ही है—फलतः वही साध्य है यह उनका पक्ष है। प्रेम से पालन (वात्सल्य)

और रंजन (दाम्पत्य) होता है—इसीलिए इन दो का यहाँ प्रसार है। प्रेमोपयोगी माधुर्य से शुक्लजी का 'माधुर्य' व्यापक है—वह जीवन की हर लोकमंगलोन्मुखी स्थिति में है—'सर्वावस्था-विशेषेषु माधुर्यं रमणीयता'। (साहित्यदर्पण ·३१६७)

वात्सल्य और दाम्पत्य भाव के गायक सूर को सख्यभाव का उपासक बताने वालों के प्रति शुक्लजी असंतुष्ट हैं। सूर की वृत्ति जब वात्सल्य और दाम्पत्य में इतनी रमी है—तब भी केवल इसलिए उन्हें सख्यभाव का उपासक कहना कि उनमें संकोच का अभाव है—तो यह तर्क शिव-पार्वती का निःसंकोच वर्णन करने वाले कालिदास पर भी लागू हो सकता है और वे भी सख्यभाव के उपासक कहे जा सकते हैं। सख्यभाव और सेव्य-सेवक भाव का उपासना-भेद मानकर चलने वाले जो और भी अन्तर सूर और तुलसी की काव्यवृत्तियों में दिखाते हैं—वे भी चिन्त्य ही हैं। यह कहना कि संकोचभाववश सूर खरी-खोटी सुनाते हैं और तुलसी चापलूसी करते हैं—गलत है। प्रेम की गहरी भूमि में उतर कर दोनों ही एक ही प्रकार की अभिव्यक्ति करते हैं—तुलसी कहते हैं—'तारेहु का रही सगाई ?" और सूर कहते हैं—'कारो कृतहिं न मानै।' दूसरा अन्तर सूर की अपेक्षा तुलसी में बार-बार ब्रह्मभावना की स्मृति दिलाता है—उसका प्रत्याख्यान करते हुए शुक्लजी कहते हैं कि वह प्रतिज्ञा-निर्वाह का 'अभ्यास' (प्राचुर्य) है। प्रतिज्ञा है—शिव, याज्ञवल्क्य और कागभुशुण्डि द्वारा दशरथसुत राम का ब्रह्मत्व-प्रतिपादन। यह वृत्ति मुक्तक पदकार सूर में भी 'सूर के प्रभु' में निहित है।

सूर से तुलसी की एक विशेषता अवश्य है कि वे जितना अधिक सूक्ष्म लोकगति के पर्यवेक्षक थे—सूर नहीं। वैसे 'निर्गुन बानी' की ओर कान सूर के भी लगे थे, पर वे उस अँदेशे से पतले नहीं थे। शुक्लजी की दृष्टि में तुलसी की अपेक्षा सूर में साम्प्रदायिकता भी कहीं अधिक है—वे कृष्णेतर देवताओं की बात नहीं करते—तुलसी सबकी वन्दना करते हैं। यह सब उनका लोकसंग्रही भाव है। सूर और तुलसी दोनों में 'निर्गुन बानी' की प्रतिक्रिया है और दोनों प्रसंग निकाल कर निर्गुण के साथ सगुण की ओर ज्ञान की अपेक्षा भक्ति की प्रतिष्ठा करते हैं।

यह रही लोकधर्म के चौखट में सूर-काव्य की समीक्षा। शुक्लजी की समीक्षा के दो पक्ष हैं—एक निर्धारित मानदण्ड के अनुरूप मूल्यांकन-पर्यवसायी अर्थात्—निर्णयात्मक और दूसरे तत्त्वार्थदर्शिनी भावयित्री प्रतिभा द्वारा कृति के मूल में निहित सर्जनात्मक अनुभूति का साक्षात्कार-पूर्वक किया गया क्रमागत औजारों (रस-पद्धति और शब्द-शक्ति) के आधार पर व्याख्यात्मक समीक्षा। पहले पक्ष के सम्बन्ध में परवर्ती आलोचकों ने पर्याप्त मतामत प्रदर्शित किए हैं—पर दूसरे पक्ष की सर्वत्र शिरसा स्वीकृति है। बात यह कि पहले क्षेत्र में पढ़-पढ़ाकर सभी कुछ न कुछ कह सकते हैं—पर दूसरी है तत्त्वार्थग्राहिणी प्रकृति-प्रदत्त सूक्ष्म अन्तःप्रज्ञा—जो जन्मजात आलोचकों में ही होती है।

वस्तुतः 'स्वभावबोध' रूप स्वानुभूति (Intutive) को हृदय से स्वीकार न करना, अध्यात्म के दरवाजे बन्द कर देना, लोकधर्म को केन्द्र में रखना, व्यवहारगत व्यक्त प्राकृत सौंदर्य ही तक सौंदर्य दर्शन करना, अन्तःपक्ष की उपेक्षा करना—ये सब सम्मिलित रूप से ऐसी वृत्तियाँ हैं जो भक्तिकाल के मूल्यांकन में अत्यन्त अवरोधकारिणी हैं। आलोचक आलोचना से पूर्व आलोच्य कृति में निहित सर्जनात्मक अनुभूति का साक्षात्कार करता है और तदनन्तर उसकी अभिव्यंजना उपकरणों से सार्थक अभिव्यक्ति की परीक्षा करता है। सर्जनात्मक अनुभूति के घटक हैं—विचार पक्ष—दृष्टिपक्ष और भावपक्ष। रचनाकार जीवन का कलात्मक उत्प्रेक्षण करता है और 'दृष्टि' गंध की तरह अंतर्व्याप्त रहती है। शुक्लजी ने जिस मूलवर्ती संवेदना का साक्षात्कार किया—आलोचन काव्य में उसके घटक साम्प्रदायिक 'दृष्टिपक्ष' को हटाकर स्व-सम्मत दृष्टि

को स्थानापन्न कर दिया और इस तरह 'विनायक'—'बाबर' बन गया और मूल्यांकन पर्यवसायी आलोचना में सूर अपनी ऊँचाई आकलित नहीं करा पाए। शुक्लजी मान बैठे हैं अपने चैन्तनिक व्यूह के अनुसार कि 'भक्ति' तो वैधी ही होती है—जबकि सारी मध्यकालीन 'भक्ति' का साध्य रूप इससे परे है—वह चाहे कोई भी धारा हो—सूर और तुलसी की तो बात ही भिन्न है। ऊपर तुलसी वाले प्रसंग में कहा जा चुका है कि शुक्लजी ने अपनी रुचि के अनुसार भारतीय 'भक्ति' की जो मूल प्रवृत्ति स्पष्ट की है—वह शास्त्रनिरूपित मध्यकालीन 'भक्ति' की मूल वृत्ति से सर्वथा भिन्न है।

शुक्लजी ने भक्ति के विकास का जो क्रम बताया है—परम्परा उससे सहमत नहीं है। परम्परा का पक्ष यह है कि वैदिक देव भक्ति और मध्यकालीन वैष्णवाचार्यों की भागवत भक्ति सर्वथा भिन्न है—परम्परा में 'आगम' का स्वतंत्र प्रामाण्य न मानने वाले करपात्रीजी मध्यकालीन भक्ति का बीज भी यथाकथंचित् वेद से ही सिद्ध करते हैं—म० म० गोपीनाथ जी उसका अस्तित्व आगम में ही देखते हैं। बात यह है कि वेद में मुख्यतः दो ही काण्ड हैं—कर्मकाण्ड तथा ज्ञानकाण्ड। पहले का सम्बन्ध पूर्व मीमांसा से है और दूसरे का उत्तर मीमांसा से। उपासना कर्मकाण्ड का अंग है—फलतः वह साधनारूपा ही है जिसका साध्य स्वर्ग है। उसका द्वार भी सबके लिए अनावृत नहीं है। वह पुरोहित-प्रतिपाद्य भी हो सकती है, जबकि यह साधन और साध्य दोनों है—यह स्वयं साध्य है। इसके सभी अधिकारी हैं। यह स्वसम्पाद्य है। ज्ञानकाण्ड में जो मंद अधिकारी हैं, उनके लिए सगुणोपासना के माध्यम से भी परम्परा या ब्रह्म-साक्षात्कार कहा गया है। मतलब यह कि कर्मकाण्ड या ज्ञानकाण्ड—उभयक भक्ति या उपासना का प्रसंग आता भी है तो अंग रूप में—जबकि आगम परम्परा में वह 'साध्य' है—स्वयं अंगी है। निष्कर्ष यह कि मध्यकालीन भक्ति की धारा ही स्वतंत्र है। यहाँ चित्त-शोधन के लिए वैधी भक्ति अपेक्षित है। शुद्ध चित्त वाला ही प्रेमलक्षणा भक्ति का अधिकारी है—इसीलिए वह लोक और वेद के विधि-निषेध से ऊपर माना जाता है। कृष्ण-भक्तिधारा जो 'ब्रजरस', 'वृन्दावनरस' तथा 'नित्यविहाररस' की ओर उत्तरोत्तर विकसित होती है—वह शुक्लजी के व्यवहार-सौन्दर्य के वायुमण्डल से ऊपर चली जाती है—फिर उसकी उपलब्धियों का आकलन सम्भव ही कैसे है? इसीलिए उस धरातल के 'पलकान्तर विरह' का महत्त्व आकलित न हो सका। इस धारा में माना जाता है कि प्रत्येक जीव 'दास भाव' का स्वरूप बोध करने पर 'अक्षर ब्रह्म' में प्रतिष्ठित होता है जहाँ उसमें शुद्ध पुष्टि की पात्रता आती है। यहाँ पौरुष काम नहीं करता। शुद्ध अनुग्रह से वृणीत साधक में 'स्त्रीभाव' का उन्मेष होता है जिससे रस-स्वरूप कृष्ण का सौन्दर्य या रस आस्वादित होता है—वह भी उत्तरोत्तर 'स्वसुखीभाव' से 'तत्सुखीभाव' की ओर बढ़ता है। व्यक्त जगत् तक ही भाव का प्रसार मानने वाले शुक्लजी को यह परेशानी मनोविज्ञान की दृष्टि से खड़ी होगी ही कि दाम्पत्य-वासना नारी (गोपी) साधिका में ऐन्द्रिय स्तर पर तो स्वाभाविक होगी—पर प्रस्तरीय साधना में आरोपित होगा? मनोविज्ञान के नियमों का संचार मूल्यांकन में सर्वथा अन्यथा भाव ही पैदा करेगा।

हाँ, यह प्रश्न खड़ा करना कि लोकसंग्रह की दृष्टि से इस धारा का मूल्य क्या है? निस्सन्देह राग-भोग और शृङ्गार रूप सेवाभाव के इस वायु-मंडल में अनधिकारियों का प्रवेश अव्यवस्था पैदा करेगा। धर्म, लोकधर्म और अनुरूप ज्ञान से अनियंत्रित 'राग' विकृतिग्रस्त हो सकता है—विशेषकर उसका जिसका चित्त मर्यादा-पुष्टि से शोधित नहीं है। इसी अराजकता के भय से 'पुष्टि' की श्रेणियाँ बनाई गई हैं। अतिक्रमण सर्वत्र अराजकता का आधायक होता है।

इन भक्तों की भी यह मान्यता है कि अशुद्ध चित्त वाला व्यक्ति 'लोकधर्म' के माध्यम से पहले चित्त शुद्धि करे। यह अवश्य है कि कुछ लोग साधारण धर्म को महत्त्व देते हैं और कुछ लोग 'लोकधर्म' को। लोकधर्म समाज की एक व्यवस्था है—मेरुदण्ड है—'साधारण धर्म' उसका भी मेरुदण्ड है। जो मानवता-रक्षण-रंजनपरक वृत्ति—से प्रेरित होकर आचरण करेगा—उससे समाज का अहित क्यों होगा ? हर व्यवस्था के आलोच्य और अनालोच्य पक्ष हैं—यदि उस व्यवस्था का पालक ही विकृत हो—तो व्यवस्था का विकृत होना अनिवार्य है।

## संदर्भ-संकेत


१. भगति का साधन कहउँ बखानी। —मानस।

२. सुनि मुनि बचन राम मुसकाने। भाव भगति आनंद अघाने ॥ —मानस।

३. अविरल प्रेम भगति मुनि पाई। प्रभु देखहिं तरु ओट लुकाई ॥ —मानस।


●


प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, हिन्दी विभाग,<br>
विक्रम विश्वविद्यालय,<br>
उज्जैन

# वाद-मुक्त काव्य-दृष्टि के उद्घोषक आचार्य शुक्ल

●

डॉ० जगदीश गुप्त

आचार्य शुक्ल भारतीय-चिंताधारा के सही अर्थ में मौलिक एवं प्रामाणिक समीक्षक हैं। विशद अध्ययनशीलता तथा पूर्व-संस्कारों से अर्जित उनकी काव्य-दृष्टि तत्वतः विश्व-दृष्टि का पर्याय प्रतीत होती है।

काव्य-रचना को उन्होंने अत्यंत गंभीरता से विश्लेषित किया और सर्वत्र मनुष्यता के प्रति असाधारण निष्ठा व्यक्त की। विज्ञान-सम्मत चिन्तन से निरन्तर प्रेरणा ग्रहण करते हुए उन्होंने अपनी कसौटी स्वयं निर्मित की जिसमें उनके द्वारा भारतीय तथा योरोपीय दोनों विचारधाराओं को सापेक्षिक मूल्यवत्ता के साथ प्रस्तुत किया गया है। रचनाशीलता और नवीनता की व्याख्या करते हुए उन्होंने अपनी सौंदर्य-दृष्टि का सम्यक् परिचय दिया है। सूक्ष्मता और व्यवस्थित प्रसार उनकी सारग्राहिणी विवेचन-क्षमता का परिचायक रहा है।

उनकी उद्घोषणा है कि काव्य में किसी वाद' का प्रचार धीरे-धीरे उसकी सारसत्ता को ही चर जाता है। कुछ दिनों में लोग कविता न लिखकर 'वाद' लिखने लगते हैं। कला या काव्य के क्षेत्र में 'लोक' और 'व्यक्ति' की उपर्युक्त धारणा कहाँ तक संगत है, इस पर थोड़ा विचार कर लेना चाहिए। चिन्तामणि—पृ० २३७

'वाद' के विरोध में 'छायावाद', 'रहस्यवाद', 'साम्यवाद', 'कलावाद' तथा 'व्यक्तिवाद' जैसे विभिन्न मतों और उनकी सीमाओं का आनयन करते हुए उन्होंने काव्य की प्रकृत-भूमि को अपनाने का समर्थन आग्रहपूर्वक किया है।

'छायावाद' को उन्होंने आध्यात्मिक पर्दे के पीछे कामुकता और प्रणय-वासना का उद्गार कहा।[१] 'मधु स्रोत' में 'छायावाद' के जवाब में 'प्रकाशवाद' का प्रवर्तन करते हुए जो कुछ लिखा है, उसका एक अंश द्रष्टव्य है—

> सच्चे भाव मन के न कवि भी कहेंगे यदि,
> कहाँ फिर जाएँगे असत्यता के मारे हम।
> खलेगा 'प्रकाशवाद' जिनको हमारा यह,
> कहेंगे कुवाद वे जो लेंगे सह सारे हम ॥२॥ —पृ० ३५

सामान्यतया प्रकृति के प्रति प्रगाढ़ रूप से समर्पित शुक्लजी के द्वारा प्रकृति से प्रेरणा ग्रहण करने वाले छायावाद का विरोध असाधारण लगेगा, किन्तु उनकी विचारधारा वाल्मीकि, कालिदास, भवभूति आदि महाकवियों से छायावादी प्रतीकात्मक अभिव्यंजना को भिन्न तथा पाश्चात्य प्रेरणा से गृहीत सिद्ध करते थे जो उनके शुद्ध प्रकृति-प्रेम से मेल नहीं खाता था। उनकी धारणा इस सन्दर्भ में छायावाद-रहस्यवाद दोनों को प्रायः अभिन्न मानती है। माधुरी के अप्रैल, १९२७ के अंक में उनकी लेखनी से रचित कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

काव्य में 'रहस्य' कोई 'वाद' है न ऐसा, जिसे,
लेकर निराला कोई पंथ-ही खड़ा करे।
किन्तु जो इसी के सदा झूठे स्वांग रचे, उसे
हाँक दो, न घूम-घूम खेती काव्य की चरे ॥५॥
प्रकृति के शुद्ध रूप देखने को आँखें नहीं,
जिन्हें वे ही भीतरी रहस्य समझाते हैं।
झूठे-झूठे भावों के आरोप से आछन्न उसे,
करके पाषण्ड कला अपनी दिखाते हैं ॥६॥

मधु स्रोत—पृ० ८४

यही सही है कि 'छायावाद' के रचनात्मक-पक्ष से वे पूरी तरह सौमनस्य स्थापित नहीं कर सके और न रहस्यवाद की परम्परा को भारतीय स्वीकार कर सके, तथापि उनका विरोध कवियों के लिए चुनौती अवश्य बन गया जिसने चिन्तन, अन्वेषण और सृजन तीनों दिशाओं में अपने युग को प्रभावित किया तथा नयी उद्भावनाओं को सम्भव बनाया।

भले ही कबीरदास से उनका वैचारिक मतभेद हो, पर पाखंड का प्रतिरोध करने में वे कभी पीछे नहीं रहे। इसकी प्रेरणा उन्हें कबीर से अधिक तुलसी से मिली। 'करुणा' निबन्ध में लिखते हैं—

"नीतिज्ञों और धार्मिकों का मनोविकारों को दूर करने का उपदेश घोर पाखण्ड है। इस विषय में कवियों का प्रयत्न ही सच्चा है।" चिन्तमणि—पृ० ५३

कवि की महत्ता उनकी दृष्टि में कोरे नीतिज्ञों तथा धार्मिकों से ऊपर है। 'मधु स्रोत' में 'पाखण्ड-प्रतिषेध' नाम से रचित शुक्लजी की कविता का समारम्भ तुलसी के इन उद्धरणों से हुआ है।

"हम लखि, लखहि हमार, लखि हम हमार के बीच।
तुलसी अलखहि का लखहि, राम-नाम जपु नीच ॥"

× × ×

'अन्तर्जामिहु तें बड़ बाहरजामी है राम ··········"

मधु स्रोत—पृ० ८३

तुलसीदास तो केवल 'नीच' शब्द कहकर रुक गए, पर शुक्लजी अपने विरोधियों के प्रति जो शब्दावली अपनाते हैं, वह द्रष्टव्य है, यह दूसरी बात है कि सन्दर्भ 'देशद्रोही' का है जिसे वे 'दुत्कार' से याद कराते हैं। वस्तुतः उनकी सांस्कृतिक दृष्टि देशप्रेम और प्रकृति-प्रेम दोनों का संपुंजित प्रतिफल है जिसमें कवि केन्द्र में रहा है—

रे दुष्ट, पामर, पिशाच, कृतघ्न, नीच।
क्यों तू गिरा, उदर से इस भूमि बीच ॥

मधु स्रोत—पृ० ६६

छायावाद और रहस्यवाद के प्रति विदेशी प्रभाव से वे इतने अधिक आतंकित एवं उद्विग्न थे कि उनमें पाखण्ड की प्रतीति होने लगी। विलियम ब्लेक के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा—'पर संसार अंधा नहीं' था। होशियार हो चुका था। इसकी रहस्यवाद की रचनाएं बिलकुल निकम्मी ठहराई गईं।······इस प्रकार के पाखण्ड मतवादियों और सांप्रदायिकों के ही काम के हो सकते हैं। काव्य की सत्यभावमयी भूमि में उनका प्रवेश अत्यन्त गर्हित है। मधु स्रोत—पृ० ८५

पर इनकी जोड़बन्दी का मुख्य मसाला है बंगभाषा की कविताओं की कोमलकांत पदावली—कुहुकिनि, छलना, नीरव संदेश, और न जाने क्या-क्या। सारांश यह कि इस प्रकार की "अनधिकार चेष्टा पाखण्ड प्रलाप और अज्ञता का आवरण हमारे काव्य के नवीन विकास के लिए व्याधि-स्वरूप है। यह सच्चा रहस्यवाद नहीं, झूठा और कृत्रिम रहस्यवाद (सूडो-मिस्टिसिज्म) है।" (वही)

इस सम्बन्ध में उनके विचार इतने दृढ़ और अपरिवर्तनीय रहे कि समकालीन कवियों द्वारा प्रस्तुत सारी सामग्री, सारे तर्क, सारी रचनाएँ उन्हें आकर्षित नहीं कर सकीं। उन्होंने कविता की सीमा निर्धारित करते हुए अव्यक्त सत्ता से उसके सरोकार के बारे में जो कुछ लिखा वह पत्थर की लकीर बन गया—

> "कविता का सम्बन्ध ब्रह्म की व्यक्त सत्ता से है, चारों ओर फैले हुए गोचर जगत् से है, अव्यक्त सत्ता से नहीं। जगत् भी अभिव्यक्ति है, काव्य भी अभिव्यक्ति है। जगत् अव्यक्त की अभिव्यक्ति है और काव्य इस अभिव्यक्ति की भी अभिव्यक्ति है।"
>
> —चिंतामणि—२, पृ० ५४

रहस्यवाद का पक्ष लेते हुए प्रसाद जी ने इस स्थापना के विरुद्ध 'काव्य में आत्मा की संकल्पात्मक मूल अनुभूति की मुख्यधारा रहस्यवाद है' का उद्घोष किया। आचार्य परशुराम चतुर्वेदी ने 'रहस्यवाद' के संदर्भ में शुक्ल जी की बात का खंडन न करते हुए भी प्रसाद जी के मत को सारवान् निरूपित किया है।[२]

अपने समय की सक्रिय रचनाशीलता को प्रभावित करने वाली विचारधाराओं के विरुद्ध शुक्ल जी का यह जेहाद इस बात का प्रतीक है कि वे आलोचक के दायित्व को किसी प्रकार कवि के दायित्व से नीचे नहीं मानते थे। कहीं-कहीं तो वे काव्य-नियामक तथा पथ-निर्देशक की भूमिका ग्रहण करते दिखाई देते हैं जो असाधारण लगने लगती है क्योंकि तत्त्वत: वे कवि को स्वतंत्र-चेता और संस्कृति की मूल धारा से जुड़े हुए लोक-हृदय के प्रेरक रचनाशील व्यक्तित्व के रूप में देखते हैं। कवि-कर्म को वे जितनी गरिमा प्रदान करते हैं, उसी अनुपात में वे उससे उत्तरदायित्व की अपेक्षा करते हैं। किन्तु इस क्रम में वे बहुधा काव्य की आलोचना करने के स्थान पर कवि की आलोचना करने लगते हैं। कवि से उनकी नाराज़गी का असली रहस्य यह है कि वे उसे गहरी संसक्ति के साथ सदैव अपने आदर्शों के अनुरूप अनुसरण करता हुआ देखना चाहते हैं। कोई भी आलोचक मूल्यान्वेषण की प्रक्रिया का सहभागी होता है, वह रचनाशील कवि का नियामक नहीं हो सकता। सृजन-कर्म में लीन कवि जिस रूप में मूल्यों की चेतना का संवहन करता है, वह आलोचक की मूल्य-दृष्टि का अनुवर्ती नहीं हो सकता। शुक्ल जी इस बात को जानते हुए भी अपनी वाद-मुक्त दृष्टि के कारण कवियों के विरोध में खड़े दिखाई देते हैं। अपने रचना-कर्म में वह 'वाद' की संकीर्ण भूमि का अतिक्रमण नहीं कर पाएगा—उनका ऐसा सोचना अन्याय-जैसा लगता है। वस्तुत: वे कवि को 'सत्य' और 'भाव' दोनों का रक्षक तथा प्रेरक मानते हैं। उनकी दृष्टि में कवि का पक्ष न्याय का पक्ष रहा है।

यह स्वाभाविक था कि अपने समय के वैचारिक उथल-पुथल के राजनैतिक संदर्भ में भी अपनी राय क़ायम करते। उनकी जमीन देश की सांस्कृतिक धारा से जिस गहराई के साथ जुड़ी थी कि वे पहली प्रतिक्रिया उसके विदेशीपन को लेकर ही व्यक्त करते थे। देशेतर विचार उनकी दृष्टि में सहज स्वागत-योग्य नहीं लगता था। विशेषत: जब वह आंदोलन के रूप में सामने आता था तो उनका चौकन्नापन बेहद बढ़ा हुआ दिखाई देता था। किसी आंदोलन के अनुसरण में कविता लिखना उन्हें तब तक जरूरी नहीं लगता था जब तक उसकी आंतरिक

आवश्यकता अपने संस्कारों तथा परिस्थितियों से वे स्वयं अनुभव करके नहीं देख लेते थे। सतही प्रतिक्रिया से विचलित होना और चलन को प्रचलन की कोटि तक ले जाना वे अविचार का द्योतक समझते थे। इसी दृष्टि से उन्होंने योरोप में होने वाले आर्थिक संघर्ष को देखा-परखा है।

"वर्तमान सभ्यता और लोक की घोर आर्थिक विषमता से जो असंतोष का ऊँचा स्वर पश्चिम में उठा, उसकी गूँज यहाँ भी पहुँची। दूसरे देशों का धन खींचने के लिए योरोप में महा-यन्त्र-प्रवर्तन का जो क्रम चला, उससे पूँजी लगानेवाले थोड़े-से लोगों के पास तो अपार धनराशि इकट्ठी होने लगी, पर अधिकांश श्रमजीवी जनता के लिए भोजन-वस्त्र मिलना भी कठिन हो गया। अतः एक ओर तो योरोप में मशीन के विरुद्ध टॉलस्टाय की धर्मबुद्धि जगानेवाले वाणी सुनायी पड़ी जिसका भारतीय अनुवाद गांधी जी ने किया।"

—हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ७१६

यहाँ उन्होंने बाहरी प्रभाव की लपेट में आये महात्मा गांधी जैसे युग-पुरुष को भी नहीं बख्शा—उनकी वाणी को भारतीय अनुवाद कह दिया। निश्चय ही वे वैचारिक धरातल पर असाधारण साहस का परिचय देते हैं। किन्तु आगे, भारतीय किसान की समकक्षता में मजदूर को बराबरी का दर्जा देते देख कर उन्हें उसी तरह की अनुकरणात्मकता खलने लगती है और वे उसको भी बर्दाश्त नहीं कर पाते।

"ऐसे समय में कुछ ऐसे भी आंदोलन दूसरे देशों की देखा-देखी खड़े होते हैं जिनकी नौबत वास्तव में नहीं आई रहती।......यहाँ अभी कल-कारखाने केवल चल खड़े हुए हैं और उनमें काम करने वाले थोड़े से मजदूरों की दशा खेत में काम करने वाले करोड़ों अच्छे-अच्छे किसानों की दशा से कहीं अच्छी है। पर मजदूर-आंदोलन साथ लग गया। जो कुछ हो, इन आंदोलनों का तीव्र स्वर हमारी काव्य-वाणी में सम्मिलित हुआ।"

—वही, पृ० ७२०

जो लोग टॉलस्टाय और गांधी की धर्म-बुद्धि पर उनकी असहमति की छाप देखते हैं, वे शुक्ल जी की विवेक और यथार्थ को प्रकट करने वाली बात को भूल जाते हैं, यही आश्चर्य है। शुक्ल जी ने 'वाद' के विषय में अपनी धारणा इस रूप में स्पष्ट की है—

> "जीवन के कई क्षेत्रों में जब एकसाथ परिवर्तन के लिए पुकार सुनाई पड़ती है, तब परिवर्तन एक 'वाद' का व्यापक रूप धारण करता है और बहुतों के लिए सब क्षेत्रों में स्वतः एक चरम साध्य बन जाता है।"

—वही, पृ० ७२०

इस परिभाषामूलक धारणा में ऐसी कोई बात नहीं है कि शुक्ल जी 'वाद' के विरोधी होकर सामने आयें, पर उनकी सारी विचारधारा में वाद-विरोध जगह-जगह फूट पड़ता दिखाई देता है। इसकी ओर जितना ध्यान जाना चाहिए था, अभी तक नहीं गया। वस्तुतः कठिनाई काव्य-विषयक उनकी मान्यताओं और स्थापनाओं से उपजती है जिसमें कवि को वे किसी इतनी ऊँची भूमिका पर प्रतिष्ठित करते हैं कि उसे किसी सीमित विचार के घेरे में बँधा हुआ वे नहीं देख सकते। उसकी स्थिति किसी तरह के अनुवर्तन की ओर प्रवृत्त नहीं होती, वह स्वयं अपना मार्ग चुनने में समर्थ होता है। कवि उनकी दृष्टि में किसी खंडित सत्य को व्यक्त नहीं करता। वह देशकाल की सीमाओं का अतिक्रमण करने की क्षमता रखता है। यह दूसरी बात है कि प्रारम्भ में स्वयं शुक्ल जी कवि पर हावी होने की चेष्टा करते रहे हैं और 'चाहिए' की भाषा का तो उन्होंने कभी परित्याग नहीं किया। उनकी आलोचना की यही शक्ति है और सीमा भी।

उनकी मान्यता थी कि 'भाव-क्षेत्र अत्यंत पवित्र क्षेत्र है' और 'उसको गंदा करना लोक के प्रति अपराध' है। लोक-हृदय के विरुद्ध न वे कवि को महत्त्व देते और न जीवन के 'शुद्ध' पर उन्होंने अतिशय बल दिया है। एक ओर वे 'शुद्ध प्रकृति' को मानवीय समवेदना का उत्स मानते थे, दूसरी ओर वे 'हिन्दी साहित्य सम्मेलन' के १६३६ वाले भाषण में स्पष्टतः 'शुद्ध समालोचना' को सर्वोपरि महत्त्व देते हैं। 'शुद्ध' और 'बुद्ध' होने का पक्ष आलोचक अपनाता है, कवि 'मुक्त' होने की सार्थकता पर बल देता है। कवि कविता को ओषधि मान कर सृजन-कर्म में प्रवृत्त नहीं होता, पर आलोचक इस बात को मानने में कोई कठिनाई अनुभव नहीं करता। स्वयं शुक्ल जी भी यह दृष्टिकोण अपनाते दिखाई देते हैं, भले ही वह रूपक के रूप में कहा गया हो—

> 'बात यह है कि संसार के अनेक कृत्रिम व्यापारों में फँसे रहने से मनुष्य की मनुष्यता जाती रहने का डर रहता है। अतएव मानुषा प्रवृत्ति को जागृत रखने के लिए ईश्वर ने कविता-रूपी ओषधि बनाई है। कविता यही प्रयत्न करती है कि प्रकृति से मनुष्य की दृष्टि फिरने न पाए।' —'कविता क्या है'—चिंतामणि-३, पृ० ६४

उनकी मान्यता थी कि 'भारतीय प्रणाली में कवि के भाव का आलंबन प्रकृति ही रही है।' वाल्मीकि, कालिदास और भवभूति उनके परम प्रेरक कवि थे। इसी लिए मेरी दृष्टि में, शुक्ल जी के अनुभव-जगत् में, 'प्रकृति' प्रतिमानों का प्रतिमान रही है। उनके विचारों का सूक्ष्म निरीक्षण करने पर असंदिग्ध रूप से प्रमाणित हो जाता है कि वे प्रकृति की रसमयता के प्रति वैसी ही उत्कट पिपासा रखते हैं, जैसी 'भरित नेह नव नीर नित' की ओर भारतेन्दु अनुभव करते थे। प्रकृति के सौंदर्य में रसदशा तक पहुँचाने की अद्भुत क्षमता होती है, यह वन्य जीवन के निजी अनुभव से वे जानते थे और गहराई के साथ उसका निरूपण भी करते थे। उन्हें प्राकृतिक दृश्यों के वर्णन में एक चित्रकार के सोये हुए संस्कारों की छवि उभरती दिखाई देती थी। सहज ग्रामीण प्रकृति और आदिम संस्कारों को वे नागर सभ्यता की आरोपित समृद्धि से कहीं अधिक वरीयता देते थे। प्रकृति-परिवेश उनमें निरन्तर नवीनता का संचार करके मनुष्यता को जगाए रखने का कार्य करता दिखाई देता है। सभ्यता के ऊपर निरन्तर चढ़ने वाले आवरण उनकी दृष्टि में कविकर्म को कठिन से कठिनतर बनाते जा रहे हैं। उनका कहना है—

> 'मनुष्य को अपनी मनुष्यता को समय-समय पर जगाते रहने के लिए कविता मनुष्य जाति के साथ लगी चली आ रही है और चली चलेगी।'
>
> —चिंतामणि-२, पृ० १८६

वे मनुष्य के भीतरी-बाहरी दोनों प्रकार के सौंदर्य-बोध को अभिन्न समझते थे। इसीलिए नैतिकता को वे सौंदर्य से पृथक् नहीं मानते थे।

> "सुन्दर और कुरूप—काव्य के बस ये ही दो पक्ष हैं। भला-बुरा, शुभ-अशुभ, पाप-पुण्य, मंगल-अमंगल, उपयोगी-अनुपयोगी—ये सब शब्द काव्य-क्षेत्र के बाहर के हैं। ये नीति, धर्म, व्यवहार, अर्थशास्त्र आदि के शब्द हैं। शुद्ध काव्य-क्षेत्र में न कोई बात भली कही जाती है न बुरी, न शुभ न अशुभ, न उपयोगी न अनुपयोगी। ......जिसे धार्मिक शुभ या मंगल कहता है, कवि उसके सौंदर्य पक्ष पर आप भी मुग्ध रहता है और दूसरों को भी मुग्ध करता है।"
>
> -वही, पृ० १६७

आज जो लोग कला और सौंदर्य की बात करना कविता के संदर्भ में अनावश्यक समझते हैं, वे शुक्ल जी की मनोभूमि और विचारधारा की सही व्याख्या नहीं कर रहे हैं। तुलसी और उनकी नैतिकतावादी दृष्टि उन्हें सौंदर्य के धरातल पर ही ग्राह्य है। कवि की दृष्टि तो सौंदर्य की ओर जाती है चाहे वह जहाँ हो। उनकी सौंदर्य-दृष्टि अत्यंत प्रौढ़, सांस्कृतिक चेतना-सम्पन्न, स्वानुभूति-युक्त तथा अन्तर्बाह्य के द्वंद्व से रहित एवं प्रेरक प्रतीत होती है। उनकी घोषणा है,

> 'सौंदर्य बाहर की कोई वस्तु नहीं है, मन के भीतर की वस्तु है······सुन्दर वस्तु से पृथक् सौंदर्य कोई पदार्थ नहीं।' —वही, पृ० १६४

उनकी यह धारणा भी सटीक और यथार्थ है कि बिंब-विधान काव्य के सौंदर्य-पक्ष का अभिन्न संवाहक है तथा कवि-कर्म 'बिंब' के निर्दिष्ट गोचर और मूर्त विषय पर ही आधारित होकर सार्थकता ग्रहण करता है।

'नयी कविता' में 'बिंब' को जो तात्त्विक प्रतिष्ठा मेरे द्वारा मिली, उसके पीछे पं० रामचन्द्र शुक्ल की प्रेरणा निश्चित रूप से सक्रिय थी क्योंकि भारतीय काव्यशास्त्र में कहीं भी 'बिंब' को सैद्धान्तिक मान्यता नहीं मिली। जिस तरह छायावाद-रहस्यवाद ने 'प्रतीक' को काव्य-चिन्तन का केन्द्र माना, उसी तरह नयी कविता ने 'बिंब' को महत्ता दी। आज हिन्दी-समीक्षा-क्षेत्र में 'बिंब' को जो तात्त्विक गरिमा मिली है, वह नई कविता के द्वारा ही सम्भव हुई है। योरोपीय चिन्तकों के अतिरिक्त मैं इसके लिए शुक्ल जी का ऋणी हूँ। वस्तुतः मेरे भीतर चित्रकला का जो जन्मजात संस्कार था, वह इस सद्भावना का प्रधान कारण बना। मुझे लगता है शुक्लजी के भीतर भी चित्रकार की दृष्टि प्रारम्भ से ही सजीव रही। उनका प्रकृति-प्रेम वस्तुतः बिंबात्मकता की समृद्धि से निरन्तर दीप्त रहा।

नवीनता और रचनात्मक दृष्टि का सम्मिलन नई कविता की युग-चेतना का केन्द्रीय संवाहक रहा है। शुक्लजी ने इस दिशा में भी मुझे पर्याप्त प्रेरणा दी है। वाद-मुक्त मनोभूमि की ओर प्रेरित करना मैंने शुक्लजी की विचारधारा से अपने को जोड़ कर अनुभव किया। आश्चर्य यह है कि उन्हीं शुक्लजी को 'वाद' और वादी-मनोवृत्ति का साधक एवं संपोषक सिद्ध किया जा रहा है। परम्परा पहली हो या दूसरी, हर एक चीज को अपने पक्ष में सिद्ध कर देना अवसरवाद की असली पहचान है, साहित्यिक समीक्षा का प्रतिमान या कीर्तिमान नहीं। शुक्लजी की तत्त्व-दृष्टि और ईमानदारी का अंश भी हिन्दी आलोचना को सुलभ हो जाए तो मैं मानूंगा कि हम उनके प्रति सच्ची श्रद्धा व्यक्त करने के समर्थ अधिकारी हैं। हाँ, इतना अवश्य मानता हूँ कि इस अभियान में नयी सामग्री के साथ शुक्लजी को पुनर्व्याख्यायित करने की गम्भीर चेष्टा भी हुई है और उनके सहारे बहुत से जरूरी प्रश्न भी उठाए गए हैं।

## संदर्भ-संकेत

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ७२६-२७,
मधु स्रोत, पृ० ३३-३५
२. रहस्यवाद—पृ० ७६।

प्रोफेसर एवं अध्यक्ष,
हिन्दी विभाग,
इलाहाबाद विश्वविद्यालय,
इलाहाबाद

# आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और उनकी समकालीन भारतीय साहित्य-समालोचना : तुलनात्मक अध्ययन

●

डॉ० प्रभाकर माचवे

मैथ्यू आरनाल्ड ओर सेंट्सबरी रामचन्द्र शुक्ल के अंग्रेजी साहित्य में आदर्श-समीक्षक लगते हैं, वैसे उल्लेख वे अन्य कई समालोचकों का करते हैं। उनका समीक्षा-काल १९२० से '४० तक हम मानकर चलते हैं। उनके आदर्शों में लोकमंगल, वायवी आयातित रहस्यवाद का विरोध, छायावाद की दूरारूढ़ कल्पनाशीलता का विरोध तथा पश्चिमी व्यक्ति-वैचित्र्यवाद की सीमाएँ कुछ मोटी रेखाएँ हैं।

हम देखें कि शुक्लजी, जो बाँगला, उर्दू के अलावा मराठी-गुजराती से भी परिचित थे, संस्कृत काव्यशास्त्र के अलावा किन अन्य साहित्यिक विचार-प्रवाहों से प्रभावित हुए, जाने-अनजाने। वे तुलनात्मक धर्म-विश्वास, पूर्वी और पश्चिमी दर्शन के भी अध्येता थे। वे चित्रकला भी जानते थे और उन्होंने एडविन आरनाल्ड के 'लाइट आफ एशिया' का 'बुद्धचरित' अनुवाद भी किया। उनका साहित्येतिहास में एक पुरोधा का कार्य, उनकी काल-विभाजन की दृष्टि, उनके साहित्य द्वारा लोकहित के मानदंड रूढ़ि से हटकर भी थे और परम्परा से परिसीमित भी। देखें तब भारतीय समालोचना की स्थिति क्या थी?

## पूर्वांचल

पूर्व में तीन भाषाओं का परिदृश्य इस प्रकार से था : असमिया में लक्ष्मीनाथ बेजबरुआ की 'शंकरदेव' (१९१२) और 'श्रीकृष्ण' (१९३०), देबेन बेजबरुआ की 'असमिया भाषा अरु साहित्यर बुरंजी' (१९१२) और नीलमणि फूकान की 'साहित्य-कला' (१९४०), बानीकांत काकती का 'पुरानी असमिया साहित्य' (१९४०)—यही चार-पाँच महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ साहित्येतिहास-कारों ने गिनाये हैं। डिम्बेश्वर निओग ने 'आधुनिक असमिया साहित्यर बुरंजी' (१९३७) लिखकर साहित्येतिहास-लेखन की नींव डाली। मैं नीलमणि फूकान और डिम्बेश्वर से मिल चुका हूँ। वे हिन्दी पढ़ते थे।

ओड़िया में 'ओड़िया भाषा तत्त्व' (१९२७) और 'शब्दतत्त्वबोध' (१९१६) गोपीनाथ नंद शर्मा के ग्रन्थ थे। 'प्राची समिति' के प्रतिष्ठापना आर्त्तवल्लभ महान्ती ने की। अपने साथी विछन्दचरण पटनायक और लक्ष्मीकान्त चौधरी के साथ मिलकर 'रस-कल्लोल' नाम से प्राचीन काव्यों और ग्रन्थों का पाठानुसंधान और पुनर्प्रकाशन उनका बड़ा कार्य था। मैं आर्त्तवल्लभ जी से १९४८ में मिला, तब वे रामचन्द्र शुक्ल के कार्य से परिचित थे।

बाँगला में रामचन्द्र शुक्ल के समीक्षा-कार्य से पूर्व ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने कालिदास, भवभूति और शेक्सपीयर के अनुवाद किये। समीक्षक रवीन्द्रनाथ ठाकुर के आविर्भाव से पहले बंकिमचन्द्र का 'धर्मतत्त्व' (१८८८), विवेकानन्द के 'प्राच्य ओ पाश्चात्य', 'वर्तमान भारत' और रामेन्द्रसुन्दर त्रिवेदी (१८६४-१९१९) के निबन्ध—'प्रकृति' (१८९६), 'जिज्ञासा' (१९०३) और

'कर्मकथा' (१६१३) प्रकाशित हो चुके थे। प्रमथनाथ चौधरी (१८६८-१६४८) जो 'बीरबल' नाम से भी लिखते थे, समीक्षामूलक निबन्ध लिख चुके थे। रवीन्द्रनाथ के निबन्धों में 'पंचभूत' (१८६७), 'शब्दतत्त्व' (१६०६), 'भारतवर्षेर इतिहासेर धारा' (१६११), 'मानुषेर धर्म' (१६३३), 'सभ्यताट संकर' (१६४७) प्रधान हैं। उनके 'साहित्य', 'प्राचीन साहित्य' और 'लोकसाहित्य' भी बड़े महत्त्वपूर्ण समीक्षा-निबन्ध-संग्रह हैं। पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी ने हिन्दी में इनका अनुवाद किया और बंबई के हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर ने उन्हें छापा।

## दक्षिणभारत

तमिल में प्राचीन लुप्त ग्रन्थों की खोज, विभिन्न हस्तलिखित प्रतियों के प्रामाणिक संस्करणों के प्रकाशन, टीका तथा व्याख्या आदि का कार्य म० म० स्वामीनाथ अय्यर, राघव अय्यंगार, सुब्रह्मण्य पिल्लई, सोमसुन्दर भारती, स्वामी वेदाचलम्, कि० वा० जगन्नाथन आदि ने किया। समालोचनार्थ रा० पि० सेतु पिल्लै, ति० पा० मीनाक्षीसुन्दरम् पिल्लई, पी० श्री० आचार्य का कार्य इन दो दशकों में संस्मरणीय है। 'मरैमल्लै अड़िकल' (१८७६-१६५०) ने तमिल में शुद्धीकरण का आन्दोलन चलाया। बी० कल्याणसुन्दरम् का 'तमिलच्योसै' (१६३५) एक महत्त्वपूर्ण निबन्ध ग्रन्थ था। तिन्नवेली शैव सिद्धांत प्रकाशन समिति ने प्राचीन तमिल भक्ति ग्रन्थों का विधिवत् प्रकाशन किया। एस० वैयापुरी पिल्लई ने 'इलक्कियच्चिन्तैकल' में साहित्य-समालोचना को विशेष महत्त्व और व्यवस्था प्रदान की। मीनाक्षीसुन्दरम् पिल्लै से अनेक बार मिलना हुआ—देश में, विदेश में भी।

तेलुगु में निबन्ध को 'व्यासम्' कहते हैं। विज्ञानचंद्रिका ग्रन्थमाला ने अनके विषयों पर ग्रन्थ प्रकाशित कराये। कोणर्राजु लक्ष्मणराव का 'लक्ष्मणराव व्यासावली', चिलक्षीनारायाणराव, मुट्करि कृष्णराय कट्टमांचे, रामसिंग रेड्डी, मल्लपल्लि सोमशेखर शर्मा आदि ने इस प्रकार के समीक्षात्मक साहित्य और विविध विषयों पर गंभीर निबन्धों को महत्त्व दिया। वैसे तो समालोचना का आरम्भ मुछुनर सिंह नायडू की 'हितसूची' (१८६२) में आठ निबन्धों से हुआ था। पर वे प्रयत्न आगे वेटूनी प्रभाकर शास्त्री, राळपळ्ळी अनंत कृष्ण शर्मा, सी० आर० रेड्डी, भूपति लक्ष्मीनारायण राव, जोन्नालगड्डा सत्यनारायण मूर्ति और गिडुगु सीतापति आदि ने बढ़ाये। अनंतकृष्ण शर्मा और गिडुगुजी से मैं मिल चुका हूँ।

कन्नड़ में साहित्य-समालोचना इसी शती में विकसित हुई। बी० एम० श्रीकंठय्य, ए० आर० कृष्ण शास्त्री, टी० एस० वेंकनय्य और टी० एल० श्रीकंठय्या (जिनकी 'काव्य-मीमांसा' एक क्लासिक थी) ने पहल की। एम० आर० श्रीनिवास मूर्ति ने 'भक्ति भंडारी बसवन्ननवरु' और 'वचन धर्मसार' लिखे। भगति वेंकटेश अय्यंगर, डी० वी० गुंडप्पा, एस० वी० रंभण्णा, आर० आर० दिवाकर ने अपने निबन्धों में अपने-अपने आदर्शवादी ढंग से साहित्य को भी छुआ। बेंद्रे, गोकाक, मुगाले, शिवरुद्रय्य आदि अरविंद की विचारधारा से अभिभूत आध्यात्मिक साहित्यशास्त्र कन्नड़ में ले आये। ई० पी० राइस ने १६१५ में 'ए हिस्ट्री आफ़ कैनरीज़ लिटरेचर' लिखी, फिर आर० नरसिंहाचार के 'कर्नाटक कविचरिते' से यह सिलसिला चल पड़ा। ए० श्री० मुगली का 'कन्नड़ साहित्य का इतिहास' जो साहित्य अकादमी से अंग्रेज़ी और हिन्दी में भी छपा, बहुत बाद की कृति है। मैं बेन्द्रे, मुगली, भगति, दिवाकर से कई बार मिला हूँ।

मलयालम में आलोचना का सूत्रपात एक शताब्दी पूर्व हुआ, पर वस्तुन्मुखी और वास्तविक

आलोचना की पहल ए० आर० राजराज वर्मा में मिलती है। स्वदेशाभिमानी रामकृष्ण पिल्लै की आलोचना प्राय: खंडनात्मक है। पी० के० नारायण पिल्लै ने प्रथम सारणि का अनुकरण किया किया जिसमें पूर्वी और पश्चिमी सिद्धान्तों का समन्वय मिलता है। राजराज वर्मा प्राचीनवादी थे तो ए० बालकृष्ण पिल्लै पश्चिमी विचारधारा से प्रभावित थे। एम० पी० पॉल ने आलोचना को स्वायत्तता प्रदान की। नयी संवेदनशीलता और मूलबोध जोसेफ मुंडश्शेरी ने दिया। वल्लत्तोल और जी० शंकर कुरुप्य ने कविता के साथ-साथ अपने-अपने विचारों से (वल्लत्तोल प्रगतिवादी थे, 'जी०' रोमांटिक प्रतीकवादी) समीक्षाएँ भी लिखीं। मैं अन्तिम तीनों महानुभावों से मिल चुका हूँ। साहित्यिक आलोचना में सांस्कृतिक परिदृष्टि सरदार पणिक्कर ने दी। डॉ० के० एम० जार्ज का साहित्येतिहास बहुत प्रामाणिक है। वह अंग्रज़ी और रूसी में भी प्राप्य है।

## पश्चिमांचल

मराठी-गुजराती-सिंधी भाषा में १९२० से ४० तक के समालोचकों का विवरण इस प्रकार से है :

वैसे तो मराठी में १८६८ में 'रसमाधव' नायकदाजी शिवाजी प्रधान का प्रथम साहित्य-शास्त्रीय ग्रंथ है। पर कुछ प्रमुख ग्रंथ इस काल खंड के नीचे देता हूँ :

(१) ना० म० भिडे···'काव्यचर्चा' (१९२५)
(२) रा० श्री० जोग···'अभिनव काव्यप्रकाश' (१९३०)
(३) द० के० केलकर···'काव्यालोचन' (१९३१)
(४) या० र० उनागाशे···'सारस्वत समीक्षा' (१९३४)
(५) गोदावरी केतकर···'भारतीय नाट्यशास्त्र' (१९२८)
(६) वा० म० जोशी···'विचार-सौंदर्य' (१९४०)
(७) ना० सी० फडके···'साहित्य आणि संसार (१९३७)
(८) के० ना० वाटवे···'रसविमर्श' (१९४२)
(९) मा० गो० देशमुख···'मराठी चे साहित्यशास्त्र' (१९४०)
(१०) ग० वा० कवीश्वर···'नीति अणि कलोपासना' (१९३४)
(११) वि० स० खांडेकर···'सहाभाषणें' (१९४१)
(१२) ग० त्र्यं० माडखोलकर···'स्वैरविचार' (१९३८)
(१३) शं० द० जावडेकर···'पुरोगामी साहित्य' (१९४१)
(१४) लालजी पेडसे···'साहित्य आणि समाज-जीवन' (१९३५)

अब साहित्येतिहास ग्रंथों का अनुक्रम देखिये—

(१) ल० रा० पांगारकर···'भारती वाङ्मयाचा इतिहास' (तीन खंड १९३२ से १९३६)
(२) ब० अ० भिडे···'मराठी भाषेचा व वाङ्मयाचा इतिहास' (१९३३)
(३) वि० सी० सरवटे···'मराठी साहित्य समालोचन' (१९३७)

कहना नहीं होगा कि इनमें से वा० म० जोशी, फडके, खांडेकर, माडखोलकर, गोदावरी केतकर, मा० गो० देशमुख, सरवटे आदि से मैं स्वयम् मिला हूँ।

गुजराती भाषा के प्रधान समालोचक रहे हैं : 'पंडितयुग' में गुजराती साहित्य परिषद् और गुजरात साहित्य सभा के संस्थापक रणजीतराय मेहता, पारसी कवि 'खबरदार' और बेहरामजी मलबारी, गुजराती साहित्येतिहास लेखक हिंमतलाल अंजारिया और कृष्णलाल झवेरी और १८४० से १६०० की साहित्य-प्रवृत्तियों का आलोचना-ग्रन्थ प्रस्तुत करने वाले डाह्याभाई देरासरी। आनंदशंकर बापू, भाई ध्रुव बड़े महत्वपूर्ण निबन्ध-लेखक थे जिनका प्रभाव समालोचना पर पड़ा।

पर नवीन समालोचना पर गांधी-युग का बड़ा प्रभाव पड़ा। काका साहब कालेलकर ने रस सिद्धांत की नई दृष्टि से आलोचना की और नये रस-विभाजन पर जोर दिया। विजयराम वैद्य, विष्णुप्रसाद त्रिवेदी, रामप्रसाद बक्षी, डोलरराय मांकड, अनंतराय रावल, मनसुखलाल झवेरी (साहित्येतिहास-लेखक), उमाशंकर जोशी और सुन्दरम् ने साहित्य-समीक्षा को नये आयाम दिये। क० मा० मुन्शी का अंग्रेजी में साहित्येतिहास एक बड़ी देन थी।

मैं इनमें से काका कालेलकर, विष्णुशंकर त्रिवेदी, मनसुख भाई झवेरी, क० मा० मुंशी उमाशंकर जोशी, सुन्दरम् आदि से कई बार मिला हूँ। रामनारायण पाठक इस युग के उत्तम आलोचक थे। बटुभाई उमरवाडिया ने पत्र-शैली में आलोचनाएँ लिखीं, यह उनका वैशिष्ट्य है।

सिंधी भाषा में समालोचना और साहित्येतिहास-लेखन बहुत बाद में शुरू हुआ। वैसे ट्रंप ने १८६६ में शाह अब्दुल लतीफ के 'रिसालो' का संस्करण बनाया था। प्रो० एम० यू० मलकाणी का 'अदबी उसूल' साहित्य-सिद्धान्त का निरूपण करता है। उन्होंने सिंधी नाटक का इतिहास और गद्य का इतिहास बाद में लिखा। प्रो० कल्याण अडवाणी ने शाह, सचल, सामी पर तीन पुस्तकें लिखीं, प्रो० नामरजी ने 'सामी' पर और प्रो० अजीज की 'गुल ओ खार' आदि बाद की रचनाएँ हैं। साहित्य अकादमी से छपा प्रो० अडवाणी का 'सिंधी साहित्य का इतिहास' स्वातंत्र्योत्तर रचना है।

## उत्तरांचल

कश्मीरी में समालोचना या साहित्येतिहास-निर्माण स्वातंत्र्योत्तर घटना है। पंजाबी में भी पहले के कुछ सामान्य निबन्धों को छोड़ (भाई वीरसिंह से गुरुबक्श सिंह तक साहित्यिक निबन्धों की एक परम्परा रही है) समालोचनात्मक ग्रन्थ स्वातंत्र्यपूर्व प्रगतिशील आंदोलन की और स्वातंत्र्योत्तर घटना विशेष है।

उर्दू में अवश्य सर सय्यद अहमद इतिहासकार और समाज-सुधारक थे जो पश्चिम के विचारों से प्रभावित थे। उन्होंने साहित्य-चिंतन को प्रभावित किया। हाली, शिबली, नजीर अहमद, सय्यद अली बिलगिरामी, महसनुल मुल्क और विकासल मुल्क ने साहित्य का नवनिर्माण किया। मौलाना हाली का 'मुकद्दमा शेरो-शायरी' और 'यादगारे-गालिब' ने नयी समीक्षा की नींव रखी। शिबली की 'शेरुल आजम' और 'मवाजना ए-अमीनो दबीर' 'इस दृष्टि से क्लासिकी अंदाज की समालोचनाएँ हैं जो बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। मौलाना मुहम्मद हुसैन 'आजाद' ने 'आबे-हयात' में उर्दू कविता का आलोचनात्मक इतिहास रोचक ढंग से लिखा। 'अवध पंच' आदि पत्रों ने समालोचना में और चुटीलापन पैदा कर दिया। इकबालाती आते-आते साहित्य-समालोचना का एक सैद्धांतिक ढाँचा उर्दू के पास हो गया था। इकबाल ने मुसलमान सूफ़ियों के अध्यात्मवाद का उसी समय विरोध किया जब रामचन्द्र शुक्ल 'काव्य में रहस्यवाद' लिख रहे थे।

यह आकस्मिक संयोग की बात नहीं है। पर नये समालोचक को एक ओर क्लासिक खींच रहे थे; दूसरी ओर यूरोप का वैज्ञानिक प्रज्ञावाद।

इस सारे परिप्रेक्ष्य में हमें आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की समीक्षा-दृष्टि की निम्न विशेषताएँ दिखाई देती हैं जिनका संगम किसी एक समीक्षक में अन्य भारतीय भाषाओं में कम पाया जाता है :

(१) प्राचीन परम्परा का—साहित्यिक और सांस्कृतिक—गहरा अध्ययन और उसमें के ग्राह्य-त्याज्य का विवेक।

(२) पुराने और मध्ययुगीन साहित्यि में से विशिष्ट साहित्यकारों का विस्तृत अध्ययन और समीक्षा।

(३) विशिष्ट प्राचीन ग्रन्थों का पुनरुद्धार, यथा जायसी के 'पदमावत' आदि का; और नयी टीका।

(४) प्रचलित मान्यताओं जैसे 'सूर सूर, तुलसी ससी' का विरोध और सप्रमाण तुलनात्मक आलोचना उपस्थित करना।

(५) जैसे 'पुराणामित्येव न साधु सर्वम्' वैसे सभी नवीत भाववादी विचारधाराओं का अन्ध स्वागत या अनुकरण भी त्याज्य।

(६) रहस्यवाद, छायावाद, स्वच्छंदतावाद की सीमाओं का सुस्पष्ट विवेचन। पाखंड-प्रतिषेध।

(७) काव्य में काव्यभाषा और संरचना पर विशेष बल।

(८) मानव और प्रकृति के सम्बन्धों की नये सिरे से व्याख्या।

(९) वैज्ञानिक युग के चिंतक हेकेल के 'विश्व-प्रपंच' का अनुवाद, और साथ ही एडविन आरनाल्ड के 'बुद्धचरित' का भी।

(१०) अन्य भारतीय भाषाओं से अनुवाद, जैसे राखालदास बैनर्जी के 'शशांक' (ऐतिहासिक उपन्यास) का हिन्दी में सफल रूपांतरण।

(११) नर्म-विनोद से भरी परिहास तथा व्यंग्ययुक्त चुटीली शैली।

(१२) साहित्येतिहास में काल-निर्धारण में प्रधान और गौण प्रवृत्तियों का विशेष उल्लेख।

(१३) ललित निबन्धों में साहित्य-समीक्षात्मक दृष्टि के मनोवैज्ञानिक आधार के संकेत।

(१४) इतिहास का निष्पक्ष, असांप्रदायिक, खुले मन से अध्ययन, जिससे साहित्य की समाजवैज्ञानिक समझ में सहायता।

## निष्कर्ष

मैंने आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के दर्शन नहीं किये, परन्तु उनके निकट संपर्क में रहे लोगों से उनके शिष्यों से मिला हूँ। मुझे लगता है कि सन् २० से सन् ४० तक की भारतीय साहित्य-समालोचना पांच तरह के प्रभावों से आविष्ट थी। एक ओर तो संस्कृत के काव्यशास्त्र का यम-नियमादि से पक्का सांचा था। कोई उससे परे जाना नहीं चाहता था। बल्कि उसी में सब नयी विचारधाराओं को 'प्रोक्रैस्टस की शय्या' को तरह लोग 'फिट' कर देना चाहते थे। साहित्य आत्मनिष्क्रमरण की साधना थी। यहाँ आध्यात्मिकता पर जोर था।

दूसरी ओर अंग्रेजी शिक्षा के कारण इंग्लिश साहित्य से मिले कुछ 'साँचे' थे। उन्नीसवीं शती के अंत तक जीवनीपरक तथ्यों को जमा करके, जन्म-मृत्यु के तिथि-निर्धारण के बाद, कृतियों का सिलसिलेवार वर्णन और उनमें क्या-क्या कथ्य है और शैली की विशेषताएँ देने की पद्धति थी, जैसे कोलरिज की 'बायोग्राफिया लिटरेरिया' में दी गई थी। प्लेटो और अरिस्टाटल के साहित्य-सिद्धांतों को ही प्रधान आधार माना जाता था। साहित्य का प्रधान कार्य बेहतर समाज-निर्माण माना गया था। समाज व्यक्तियों से बना है। अतः बेहतर व्यक्ति बनाना भी साहित्य का कार्य था। वहाँ ऐहिकता पर जोर था।

इन दो तनावों के बीच कहीं-न-कहीं राष्ट्रीयता, जातीयता, देशपरक मूल्य आते थे। जब कि भारतीय दृष्टि में गुलाम भारत का स्वाधीनता-संग्राम अपने आप में एक मूल्य था; विदेशी दृष्टि में व्यक्ति-स्वातंत्र्य एक बड़ा मूल्य था। फ्रांसीसी क्रांति के बाद, अमरीकी क्रांति और १६१८ की रूसी क्रांति ने मैजिनी के तीन आदर्श—स्वतंत्रता, समता, बंधुता पर जोर दिया था। प्रायः सभी भारतीय समालोचक इनसे प्रभावित थे। विष्णु शास्त्री चिपलूणकर इसके उत्तम उदाहरण हैं। बंकिमचन्द्र भी।

चौथी बात काल-संबंधी दृष्टिकोण की है। रामचन्द्र शुक्ल जब भारतीय इतिहास के पश्चिमी आकलन के आधार पर मध्ययुग में भी पूर्व और उत्तर काल की बात करते हैं; पश्चिम के साहित्येतिहासकार दोनों पद्धतियाँ अपनाते हैं : शेक्सपीयर का युग और एलिजाबेथन-युग ऐसा विभाजन भी मिलता है; और 'रिस्टोरेशन' और 'रिनेसांस' जैसे युग-विभाजन भी मिलते हैं। हमारे आलोचकों ने प्रवृत्तिपरक (यथा भक्ति, रीति आदि) और व्यक्तिपरक (यथा भारतेन्दु-युग, द्विवेदी-युग) विभाजन किये हैं।

अंतिम बात जीवन-दृष्टि से सम्बन्ध रखती है। वैज्ञानिकता का स्वागत कितनी मात्रा में किया जाये या नहीं, इस विषय में शुक्ल जी कुछ 'संशयात्मा' की स्थिति में हैं। वे नवीन 'वादों' से सतर्क रहते हैं। यह भी काफी ब्रिटिश पद्धति की अति-सावधान, कूटनयिक, न-अधिक-भावोच्छल प्रशंसा न-बहुत-कटु-निन्दा से बचते हुए एक मध्यम मार्ग, एक 'सुवर्णतुला' का निर्माण ('गोल्डन मीन', मज्झिम निकाय') शुक्लजी करते हैं। वे वर्णाश्रम-धर्म के 'फ्रेमवर्क' में लोक-की प्रतिष्ठापना चाहते हैं। प्रायः सभी उत्तर भारतीय और दक्षिण की भी भाषाओं के '२० से '४० तक के समालोचक ब्राह्मण और उच्चवर्ण के नवांग्ल-शिक्षित व्यक्ति थे जो समाज में एकदम तेजी से परिवर्तन लाने के विरोध में थे। वे सँभल-सँभलकर चल रहे थे।

●

निदेशक
भारतीय भाषापरिषद्,
शेक्सपीयर सारणी
कलकत्ता

# आचार्य शुक्ल का कृती व्यक्तित्व : दोषरहित दूषणसहित

●

## डॉ० मेधाव्रत शर्मा

आधुनिक हिन्दी साहित्य के प्रवृत्ति-नियामक शलाका-पुरुषों में आचार्य शुक्ल का व्यक्तित्व एवं कृतित्व एक कालजयी ज्योतिः-स्तम्भ के रूप में प्रतिष्ठित है। प्रत्येक युगपुरुष की परिस्थिति-जन्य कुछ अपनी सीमाएँ भी होती हैं, निदान शुक्ल जी की भी अपनी कुछ सीमाएँ थीं जिन्हें नजरअन्दाज करने के कारण, कभी-कभी मान्य विपश्चित् समीक्षक भी अपने अनावश्यक बौद्धिक आवेश में कुछ ऐसी अतिरेकपूर्ण अभ्युक्तियाँ कर जाते हैं जो अशोभनीय और हर्गिज उनके अनुरूप नहीं होतीं।

एक प्रखर नीतिवादी आदर्शात्मक बौद्धिक चेतना से अनुप्राणित द्विवेदी-युग ने जो अपनी विशिष्ट साहित्यिक पृष्ठभूमि का निर्माण किया था, उसके उत्कृष्टतम समालोचकीय स्वरूप का प्रतिनिधित्व आचार्य शुक्ल में प्रतिफलित हुआ। काव्य के क्षेत्र में मैथिलीशरण गुप्त, कथासाहित्य के क्षेत्र में प्रेमचन्द एवं समालोचना एवं निबन्ध-कला के क्षेत्र में आचार्य शुक्ल को द्विवेदी-युग की चूडान्त उपलब्धियों के रूप में निर्दिष्ट करना सर्वथा समुचित होगा।

कदाचित् यह आपाततः नहीं, जैसा कि उक्त युगीन चेतना के आलोक में उपोद्‌वलित है कि जिस प्रकार महाकवि मैथिलीशरण गुप्त एक काव्यप्रणेता के रूप में परम यशस्वी हुए, उसी प्रकार आचार्य शुक्ल के कृती व्यक्तित्व का आधार तुलसी के रामकथात्मक महाकाव्य 'रामचरित-मानस' के गम्भीर अध्ययन से निष्पन्न लोकादर्शवाद पर ही प्रतिष्ठित हुआ और वही वस्तुतः अतिरेकपूर्ण आग्रह के कारण आचार्य की सीमा का भी निर्धारक हो गया। काव्य के क्षेत्र में गुप्त जी का 'साकेत' और समालोचना के क्षेत्र में आचार्य शुक्ल का 'गोस्वामी तुलसीदास' एक-दूसरे के समानान्तर एक ही ऊँचाई पर समारूढ़ दीखते हैं। यह भी क्या ही नियति का एक व्यंग्यपूर्ण संयोग है कि आचार्य शुक्ल की माता उसी वंश की थीं जिसमें कभी गोस्वामी तुलसीदास का आविर्भाव हुआ था। इस विषय में श्री शिवनाथ की निम्नांकित टिप्पणी का उद्धरण असंगत न होगा—

"यदि कोई इसे अतिशयोक्ति की सीमा तक न ले जाए, तो कहा जा सकता है कि इनकी माता से इन्हें जो रक्त मिला, वह महान् साहित्यिक परम्परा का रक्त था, क्योंकि हमने देखा है कि शुक्ल जी की माता उसी वंश की थीं जिसमें हिन्दी के ही सर्वश्रेष्ठ कवि नहीं, विश्व के भी सर्वश्रेष्ठ कवियों में गिने जाने वाले गोस्वामी तुलसीदास का जन्म हुआ था। गोस्वामी तुलसीदास के प्रति शुक्ल जी को कितनी श्रद्धा थी, यह किसी पर अप्रकट नहीं है। एक प्रकार से शुक्ल जी का सारा काव्य-सिद्धान्त गोस्वामी जी के काव्य के आधार पर ही निर्मित समझना चाहिए।"[1]

इस बात में संदेह नहीं कि जिन गोस्वामी तुलसीदास का रामचरितमानस' पहले महज एक धर्मग्रन्थ के रूप में ही मान्य था और एक महान् काव्य-निधि के रूप में जिसका सर्वप्रथम निर्देश अपने भाषा-सर्वेक्षण (Linguistie Surpey) में जी० ए० ग्रियर्सन ने किया था, उसके

काव्य-वैभव को अपने सूक्ष्मेक्षिका-गर्भित गंभीर शोधपूर्ण अध्ययन से सर्वाङ्गीण रूप से सम्यक् उजागर कर उसे हिन्दी के एक सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य का सर्वथा न्यायसंगत आस्पद प्रदान करने का श्रेय आचार्य शुक्ल को ही है।

किसी बने-बनाए मानदण्ड से सभी कृतियों का परीक्षण करने के बजाय तत्त्वाभिनिवेशी समालोचना का तकाजा है कि कृति-विशेष के सूक्ष्म-गंभीर अथच तटस्थ व निर्लेप परिशीलन के द्वारा तत्संबंधी निर्णायक दृष्टिबोध को स्वतः फलित होने दिया जाए, अन्यथा जो समालोचना होगी, उसे 'आरोपित समालोचना' कहना शायद गलत न होगा। गोस्वामी तुलसीदास आचार्य शुक्ल के 'आला कमान' जैसे मालूम पड़ते हैं।

गोस्वामी जी की ऐसी उक्तियों—

गोरख जगायो जोगु भगति भगायो लोगु,
निगम नियोग तैसो केलि ही धरो-सो है।

(कवितावली, उत्तर०, ८४)

अन्तरजामिहु ते बड़े बाहेरजामि हैं राम, जे नाम लिये ते।
पैज परे प्रहलादहु को प्रकटे प्रभु पाहन ते, न हिये ते॥ (वही, १२९)

हम लखि हमहि हमार लखि हम हमार के बीच।
तुलसी अलखहि का लखहि रामनाम जपु नीच॥ (दोहावली, १९)

असुभ बेष भूषन धरे भच्छाभच्छ जे खाहिं।
तेइ जोगी तेइ सिद्ध नर पूज्य ते कलिजुग माहिं॥ (मानस, उत्तर, ९८)

के आधार पर बनाई गई धारणा भला सिद्ध-नाथ-सन्त कवियों के प्रति आचार्य को उदार व सहानुभूतिशील क्योंकर होने देती? उन्होंने तो सीधे यह कहकर उनकी कृतियों को दरकिनार कर दिया है कि "उनकी रचनाओं का जीवन की स्वाभाविक सरणियों, अनुभूतियों और दशाओं से कोई संबंध नहीं। वे साम्प्रदायिक शिक्षामात्र हैं, अतः शुद्ध साहित्य की कोटि में नहीं आ सकतीं।"[२]

काश, आचार्य ने सरह-चित्रित शबर-सुन्दरी को देखा होता—

मारंगी पिच्छि पहिरहि सबरी गीतब गुजरी माला।
ऊँचा-ऊँचा पावत महि बसई सबरी बाला।[3]

मगर, शुक्ल जी भला अपना समय क्यों खराब करते, जब वे तमाम बौद्ध-सिद्ध उनके नीतिवादी नजरिये में 'शास्त्रहीन डोम-चमार'[४] और "अश्लील और वीभत्स विधानों वाले"[५] दुराचारी थे।

ऐसे ही भ्रम के शिकार हुए थे सावनमाला के सम्पादक डॉ० विनयतोष भट्टाचार्य, जिनकी बेलौस टिप्पणी है—

"Najrayanists went beyond due limits in their spite against the strict rules of morality, and they violated all of them and plunged headlong into the worst immorality and sin."[१]

यह है परिणाम सिद्धों की अभिव्यंजना-प्रणाली 'सन्धाभाषा' का मर्म पकड़ के बाहर रह जाने का। डॉ० पी० सी० बागची-जैसे विद्वानों ने अपने गहन विवेचन द्वारा विशद् प्रकाश-क्षेप कर इस विषय में भ्रम का यथेष्ट निरास कर दिया है—

"Every mysticism is garbed in language which is also mystic, and even many versel of the Prajnapayavinis'cayasiddhi are unentelligible if interpreted literally."[७]

किसी भी साधन-मार्ग के रूढ़िग्रस्त हो जाने पर तथा अनधिकारियों के अनर्गल प्रवेश से नाना विकृतियों का प्रकोप होने लगता है, यह हम अनेक अन्य मतों के बारे में भी अच्छी तरह जानते हैं, किन्तु इसी कारण यह विवेकसम्मत नहीं कि उसके अपने स्टैन्डर्ड रूप के प्रति भी आँखें मूंद ली जाएँ अथवा समग्रतः तिरस्कृत कर दिया जाए।

परवर्ती विद्वानों ने तो पूर्ण ईमानदारी के साथ उलटे यह महसूस किया है कि "अवधूतों के मुँह से ही संसार की सबसे सरस रचनाएँ निकली हैं, क्योंकि उनकी चेतना में अनासक्त योगी की स्थिरप्रज्ञता और विदग्ध प्रेमी के हृदय" का सामञ्जस्य था और यही है सिद्ध सरह और सन्त कबीर जैसे कवियों की फक्कड़ाना मस्ती का राज़।

फिर भी स्मरणीय है कि यदि आचार्य अपने उक्त मानदण्ड के अनावश्यक पूर्वाग्रह और मोह से निर्लिप्त हो विशुद्ध तत्त्वाभिनिवेश से प्रेरित होकर चले होते, तो जैसी अमोघ प्रज्ञा एवं विराट् मनीषा के धनी वह थे—उन्होंने सिद्ध-सन्तों एवं अन्य तमाम रहस्यवादियों के अनुशीलन के क्षेत्र में जो जमीन तोड़ी होती, वह निस्सन्देह एक "लैण्ड-मार्क" प्रमाणित होता।

काव्य में "अज्ञात" और "अव्यक्त" से आचार्य को सख्त चिढ़ थी। इस संबंध में अपना दृष्टिकोण उन्होंने दो-टूक तौर पर रख दिया है—

"कविता का संबंध ब्रह्म की व्यक्त सत्ता से है, चारों ओर फैले हुए गोचर जगत् से है, अव्यक्त सत्ता से नहीं। जगत् भी अभिव्यक्ति है और काव्य भी अभिव्यक्ति है। जगत् अव्यक्त की अभिव्यक्ति है और काव्य इस अभिव्यक्ति की भी अभिव्यक्ति है।"[८]

इसी दृष्टि से कुछ लोगों ने इन्हें 'व्यक्तवादी'[१०] कहना चाहा है, यद्यपि शुक्ल जी ने स्वयं अभिव्यक्तिवादी और सामञ्जस्यवादी[११] ही कहलाना पसन्द किया है। यहाँ अभिव्यक्ति-वादी की बजाय रसवादी अभिधान का प्रयोग समधिक उपयुक्त होगा, क्योंकि 'अभिव्यक्तिवाद' आचार्य अभिनवगुप्त के एक विशिष्ट रस-सिद्धान्त के लिए रूढ़ है।

उनका यह 'व्यक्तवाद' रहस्यवाद के मर्म-ग्रहण में इस बुरी तरह आड़े आया कि आचार्य काव्य-विषय के रूप में उस पर अपनी मुहर डालने के लिए किसी भी शर्त पर तैयार नहीं। और तो और, उनके अपवाद से विश्व-कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर तक नहीं बचे।

अपने 'लोकादर्शवाद' और 'व्यक्तवाद' से आचार्य की दृष्टि इतनी बद्ध थी और इसी कारण इतर भावधाराओं व प्रवृत्तियों का हिन्दी-साहित्य में होना उनके निकट इतनी अस्वाभाविक कि उनके लिए बौद्धिक समाधान यही था कि बंगला के माध्यम से आई यूरोपीय चीज को दर्शित करते रहस्यवाद के संबंध में निरा ऐसा ही नजरिया उन्होंने अख्तियार किया है। रहस्यवाद उनकी दृष्टि में ब्लेक आदि के पीछे सन् १८८५ में जो प्रतीकवाद-मिश्रित नूतन रहस्यवाद फ्रांसीसी साहित्य-क्षेत्र के एक कोने में प्रकट हुआ और जिसकी नकल बंगला से होती हुई हिन्दी में आई, वह एक साम्प्रदायिक वस्तु है। और छायावाद के मूल व इतिहास का संबंध ईसाई भक्तिमार्ग के छाया-दृश्य (Phantasmata) से स्थापित करते हैं।[१२] कितनी चक्करदार कल्पना है कि वेदान्त का प्रतिबिम्बवाद सामी मजहबी प्रभाव के अधीन रहस्यवाद के रूप में सूफियों के बीच और फिर वहीं यूरोप जाकर वहाँ के प्रतीकवाद से संसक्त हो अभिव्यंजनवादी अदा में बंगाली 'ब्राह्मो समाज' के माध्यम से हिन्दी में आधुनिक छायावाद-रहस्यवाद के रूप में प्रचलित हुआ। विद्रूपात्मक भाव में उसे विलायती चीजों का मुरब्बा कहकर जाहिर किया गया है।

यह बात बिल्कुल सुसिद्ध है कि रहस्यवाद का मूल स्रोत भारतीय उपनिषत्-साहित्य ही है और सूफी सन्त अपने मतों के लिए उपनिषदों के मूली हैं तथा प्राचीन भारतीय योग-मत भी उसके साथ सन्निकृष्ट है। जहाँ तक छायावादी-रहस्यवादी नयी धारा का सवाल है, अंग्रेजी शिक्षण के द्वारा प्रतीकवाद, अभिव्यंजनवादी पश्चात्य प्रभाव भी उस पर स्पष्टतया अंकित हुआ। हाँ, यह जरूर है कि सूफी-मत से रहस्यवादी चेतना को अमूमन काफी पोषण प्राप्त हुआ।

तुलसी के राम में शील, शक्ति और सौंदर्य की पराकाष्ठा है और सूर ने केवल सौंदर्य तक ही अपने को रखा है, इसलिए सूर उनकी दृष्टि में तुलसी की पटतर में नहीं आ सकते। बात यहाँ तक रहती तो गनीमत भी थी, किन्तु सूर-कृत गोपी-विरह-वर्णन, जो चरम प्रकर्षपूर्ण मनोरागात्मक व्यंजना की मार्मिकता में बेजोड़ है और विश्व-साहित्य में जिसका कोई सानी नहीं, वह उन्हें "खाली बैठे का काम"-सा और "अतिशयोक्तिपूर्ण होने पर भी बाल-क्रीड़ा-सा लगा है। प्रसंगतः मैं यहाँ गीति-काव्य के अधिकारी विद्वान् डॉ० रामखेलावन पाण्डेय की निम्नांकित टिप्पणी को उद्धृत करने का लोभ संवरण नहीं कर पा रहा—

"अगर इन गोपियों का स्नेह सत्य नहीं तो संसार में और कोई दूसरा स्नेह सत्य नहीं। जीवन का यह एक करुण उपहास है, ट्रेजेडी है जो कृष्ण मथुरा से लौटकर नहीं आते, व्रज में फिर नहीं जाते। गोपियों का यह विरह-व्यापार पं० रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में बैठे-ठालों का व्यापार भले हो, किन्तु अपूर्व है, अन्यतम है, अद्वितीय है जिसमें सम्पूर्ण चेतना प्रिय के प्रति जागरूक है, प्रियतम पर न्योछावर है।"[१६]

सूर-तुलसी के तुलनात्मक परिशीलन में सर्वाधिक सन्तुलित-समंजस टिप्पणी तो थी कि "जिस प्रकार रामचरित गान करने वाले भक्त कवियों में गोस्वामी तुलसीदासजी का स्थान सर्वश्रेष्ठ है, उसी प्रकार कृष्णचरित गान करने वाले भक्त कवियों में महात्मा सूरदास जी का।"[१७] किन्तु, मताग्रह के अभिनिवेश ने इस स्पृहणीय सन्तुलन को अक्षुण्ण न रहने दिया और उद्वेजक टिप्पणियों द्वारा उन्होंने खामखाह उलझनें खड़ी कर लीं। फिर भी, यह सच है कि शृंगार और वात्सल्य-वर्णन के क्षेत्र में सूर की परम स्पृहणीय शक्ति का सर्वप्रथम गंभीर विवेचनापूर्ण मार्मिक उद्घाटन करने का श्रेय आचार्य शुक्ल को ही है। सूर के संबंध में आचार्य की यह टिप्पणी अखण्ड रूप से हिन्दी साहित्य की जुबान पर चढ़ी रहेगी—"वात्सल्य और शृंगार के क्षेत्रों का जितना अधिक उद्घाटन सूर ने अपनी बन्द आँखों से किया है, उतना किसी और कवि ने नहीं। इन क्षेत्रों का कोना-कोना वे झाँक आए।"[१८]

रहस्यवाद से आचार्य को ऐसी एलर्जी थी कि कहीं-कहीं अपने शालीनताप्रिय गंभीर अन्तर्मुखी स्वभाव के विरुद्ध अपनी प्रतिक्रिया प्रकट करते हुए संयम खो बैठे हैं और उनकी भाषा मजाक उड़ाने के स्तर पर भी उतर आई है। पेश है एक बानगी, रहस्यवादी काव्य के अन्तर्गत 'वेदनावाद' पर उनकी प्रतिक्रिया से—

"वेदना की अधिक विवृति हम काव्य-शिष्टता के विरुद्ध समझते हैं। हमें तो वेदना का अधिक ब्योरा पढ़ने पर ऐसा ही जान पड़ता है जैसे कोई भारी रोगी किसी वैद्य के सामने अपने पेट के भीतर की शिकायतें बता रहा हो। प्रेम को व्याधि के रूप में देखने की अपेक्षा हम संजीवनी शक्ति के रूप में देखना अधिक पसन्द करते हैं।"[१९]

इसी प्रकार आचार्य ने क्रोचे के अभिव्यंजनावाद (Expressionism) की भी धूल उड़ाने में कुछ भी कसर नहीं रख छोड़ी है। अभिव्यंजनावाद उन्हें महज पुराने वक्रोक्तिवाद—वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्—का ही नया रूप या विलायती उत्थान प्रतीत हुआ है। यह उनके निकट फकत

बेल-बूटेवाली नक्काशी है। यह तथ्य आचार्य अपने गले के नीचे कतई उतार नहीं पाए कि क्रोचे की दृष्टि में कला-संबंधी ज्ञान स्वयंप्रकाश ज्ञान होने के कारण अपने अन्तःसत्त्व के बल से ही अनुरूपतया अभिव्यंजित हो उठता है, अनुरूप अभिव्यक्ति स्वतःसिद्ध रूप में होती है—"Beauty is a successful expression because expression, if it is not successful, is not an expression" कहना आवश्यक है। क्रोचे का अभिव्यंजनावाद सौंदर्यशास्त्र (Aesthetics) का प्रतिपाद्य है और वह सौंदर्य एवं अभिव्यंजना का संबंध अयुतसिद्ध (Inseparable inherent) मानता है। अभिव्यक्ति भी तो आखिर किसी वस्तु की ही होती है न! अभिव्यक्ति की अभिव्यक्ति का भला क्या मतलब ? आचार्य ने अभिव्यंजनावाद की अन्तर्वस्तु में प्रवेश करने से इस प्रकार नकारा है और उसके वक्रोक्तिवाद के ही विलायती उत्थान होने की भावना उन पर इस तरह हावी हो गई है कि अभिव्यंजनावाद के शीर्षक से उपस्थापित उनकी सारी श्रमपूर्ण विवेचना अन्ततः उन्हीं के लहजे की नकल में कहूँ तो 'विलायती बोतल में वक्रोक्तिवाद की शराब' की शक्ल में ढल गई-सी लगती है। अभिव्यंजनावाद के शीर्षक के अन्तर्गत वस्तुतः वक्रोक्तिवाद के ही अध्ययन का फल है, वह वक्रोक्तिवाद की समझ के लिए अवश्य बहुत ही उपादेय है। यहाँ हमारा मन्तव्य यह हर्गिज नहीं कि आचार्य की विवेचना सराहनीय है और अभिव्यंजनावाद में नक्काशी वाली बात नहीं है, बल्कि यह है कि उनकी विवेचना पूर्वग्रहवासित होने अथच मताग्रहशीलता के कारण सर्वाङ्गीण नहीं हो पाई है, एकांगदर्शी होकर रह गई है। फिर भी सच पूछिये तो, शुक्ल जी की ऐसी समीक्षाओं के द्वारा प्रकारान्तर से उपकार ही हुआ। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी के शब्दों में—"नई काव्य-प्रगति को 'ब्लैंक चेक' न देकर शुक्लजी ने उसके परिष्कार के कार्य में और उसके बल-संचय में प्रकारान्तर से सहायता ही पहुँचाई। कोई भी व्यक्ति जिस पर साहित्य का कुछ उत्तरदायित्व है, प्रत्येक नवागत काव्य-धारा में बह जाना पसन्द नहीं कर सकता। शुक्लजी ने भी इस संबंध में पूर्ण संयम का परिचय दिया।"

सर्वविदित है कि अपने इतिहास के परवर्ती संस्करण में खासकर छायावाद-रहस्यवाद के संदर्भ में किंचित् संशोधनपूर्वक आचार्य ने मृदुल होने का रुख दर्शाया।

हिन्दी के द्विवेदी-युग के ही समकक्ष अंग्रेजी साहित्य में 'आगस्टन युग' (१८वीं शताब्दी) था जिसके मूर्धन्य स्तम्भ डॉ० सैमुएल जानसन (Samuel Johnson) के व्यक्तित्व के साथ आचार्य शुक्ल के सामञ्जस्य-सूत्र बड़े अद्भुत रूप में उजागर होते हैं। द्विवेदी-युग की ही नाईं एक नीतिवादी आदर्शात्मक बौद्धिक चेतना आगस्टनवाद का व्यवर्तक लक्षण है तथा उसका सबसे प्रखर प्रतिनिधित्व डॉ० जॉनसन के व्यक्तित्व में परिलक्षित—"The excellence of superlative moral power, and of wit and intellect massive, surprising sensitive and subtle".[२१]

सर्वोच्च नैतिक शक्ति, वाग्वैदग्ध्य एवं मनीषा का विशाल, विस्मयकारी, संवेदनशील और सूक्ष्म उत्कर्ष। यह सादृश्य भी कम विस्मयकारी नहीं कि साहित्यिक व्यक्तित्व के प्रथम चरण में दोनों के ही साथ शब्दकोशकार का भी आयाम समान रूप से जुड़ा हुआ है। जिस प्रकार १७४७ में एक प्रकाशक की आयुक्ति को स्वीकार करते हुए डॉ० जॉनसन ने अपनी साहित्यिक प्रतिष्ठा को अपने युग की भाषा या रुचि से भी संबद्ध किया था।[२२] उसी प्रकार १६०६-१० में आचार्य शुक्ल ने काशी नागरी प्रचारणी सभा के तत्त्वावधान में हिन्दी शब्दसागर का काम अपने हाथ में लिया था। दोनों ने ही अपने-अपने शब्दकोशों की बृहत् भूमिकाएँ लिखीं,

मगर इस अन्तर के साथ कि जहाँ जॉनसन की भूमिका मुख्यतः व्याकरणपरक और भाषावैज्ञानिक है, वहाँ आचार्य शुक्ल की भूमिका साहित्यैतिहासिक है जिसमें भाषापरक विश्लेषण काव्य-विवेचनाओं के अन्तर्गत संपन्न हुआ है। 'हिन्दी शब्दसागर' की भूमिका ही संशोधित-परिवर्द्धित होकर बाद में "हिन्दी साहित्य का इतिहास" के रूप में प्रकाशित हुई जिसने आचार्य शुक्ल को न सिर्फ साहित्येतिहासकार की अभूतपूर्व प्रतिष्ठा ही दिलायी, बल्कि सही मानी में हिन्दी-साहित्य में कृति एवं कृतिकार की बौद्धिक समालोचना का भी सूत्रपात किया। तर्कसम्मत वैज्ञानिक परिपाटी पर आधारित और ऐतिहासिक चेतना से सम्यक् अभिनिविष्ट हिन्दी में साहित्येतिहास कहलाने की अधिकारिणी प्रथम कृति निर्विवादतः यही है—मिश्रबंधु, शिवसिंह सेंगर आदि की कृतियाँ कविवृत्त-संग्रह-मात्र हैं। डॉ० जॉनसन-कृत "The Lives of the Poets" बहुत कुछ इसी दिशा की चीज है। प्रखर बौद्धिक समीक्षक के रूप में डॉ० जॉनसन की शायद सबसे महत्त्वपूर्ण देन है—"Preface to Shakespeare" जिसमें उसने गंभीर साहित्यिक परिप्रेक्ष्य में शेक्सपियर के कृती व्यक्तित्व को सम्यक् आलोकित कर अंग्रेजी-नाटककार के रूप में उसे सही गौरवपूर्ण आस्पद में प्रतिष्ठित कराने का श्रेय[23] प्राप्त किया। यह सत्य तुलसी के प्रसंग में आचार्य शुक्ल पर भी चरितार्थ है, कहना न होगा। "Life of Johnson" में जेम्स बॉसवेल (James Boswell) ने डॉ० जॉनसन के व्यक्तित्व का जैसा चित्र पेश किया है, वह अपनी शक्ति और कमजोरी में पूरी तरह एक अंग्रेज था—निष्ठावान्, रहस्यवाद के विषय में सन्देह-शील, स्पष्टवादिता का स्वाभिमानी, किन्तु एक संवेदनशील-कोमल हृदय से युक्त।[24] आइड्लर के अपने एक निबंध में मनुष्य को परिभाषित करते हुए अपने आदर्शवादी जीवन-दर्शन की वह एक अच्छी झलक पेश करता है—

"Man is a being placed here only for a short time, whose task is to advance himself to a higher and happier state of existence, by unremitted vigilence of caution and activity of virtue."

मानव-जीवन के संबंध में एक उत्तरदायित्वपूर्ण गंभीर बोध से आलोकित थी उसकी दृष्टि और बड़ी ही प्रौढ़ थी उसकी लोकवादी निष्ठा, आचार्य शुक्ल की ही तरह। वह मानता था कि "Men more frequently required to be reminded than informed" [25] और यह कि "We may take fancy for a companion, but follow reason as our guide."

मनुष्य के सामान्य अनुभवों को चित्रित करने वाले साहित्यकारों के प्रति उनकी दृष्टि अत्यधिक प्रशंसापूर्ण है।[26] स्पष्ट है, रहस्यवाद-विरोधी मनोवृत्ति लोकवादी आदर्श तथा बौद्धिक अभिनिवेश की दृष्टि से भी आचार्य शुक्ल और डॉ० जानसन के व्यक्तित्वों में अद्भुत सामंजस्य है।

जिस प्रकार पूर्व-निर्धारित मानदण्ड से बद्ध दृष्टि के कारण शुक्लजी के कतिपय आलोचनात्मक परिणाम कुछ मामलों में एकांगदर्शिता के शिकार हो गये हैं—जैसा कि हम सूर, तुलसी, जायसी और रहस्यवाद आदि के विषय में देख चुके हैं और नये साहित्य से भी दोयम दर्जे की "शेष स्मृतियाँ", "नूरजहाँ" और "युगवाणी"—जैसी कृतियाँ ही श्रेष्ठ मालूम पड़ीं, उसी प्रकार डॉ० जॉनसन भी एडीसन के आदर्शों से अभिभूत होने के कारण उनके प्रति जरूरत से ज्यादा प्रशंसक हो गए हैं, किन्तु राजनीतिक विरोध के कारण मिल्टन-जैसे श्रेष्ठ कवि के दोषदर्शी हो उठे हैं और ग्रे की कृतियाँ भी उन्हें गुणहीन मालूम पड़ी हैं।

पुनः निबन्ध-कला के क्षेत्र में भी डॉ० जॉनसन और आचार्य शुक्ल अपने-अपने जबर्दस्त निशान छोड़ गए हैं। डॉ० जॉनसन में अंग्रेजी-भाषा की अद्भुत रचना-शक्ति प्रकट हुई। उनकी

विलक्षण दिमागी कुव्वत की तुलना हाथी की सूँड़ से करते हुए श्रीमती थ्रेल के मेहमानों ने विनोद में कहा था कि 'वह इतनी मजबूत है कि शेर को भी चपेटा लगा दे और इतनी लचीली कि पिन को भी उठा ले' (Strong to buffet even the tiger and pliable to pick up even the pin)। शब्द-सामर्थ्य और भाषा पर असाधारण शक्ति की दृष्टि से आचार्य शुक्ल की लेखनी चमत्कृत करती है। रैम्बलर (Rambler) और आइड्लर (Idler) नामक पत्रिकाओं में प्राय: नियमित रूप से लेखन करते हुए डॉ० जॉनसन निबन्ध-कला के क्षेत्र में जो अनूठा अवदान कर गये हैं, वह अंग्रेजी-साहित्य की एक स्पृहणीय निधि है। प्रकृति और मनोविकारों पर लिखे आचार्य के निबन्धों का संकलन चिन्तामणि (भाग—१) हिन्दी में निबन्ध-कला का अपूर्व मानक है, किन्तु इन दोनों की निबन्ध-सम्बन्धी अवधारणाओं में बड़ा अन्तर है। निबन्ध-कला के प्रसंग में बार-बार दुहराई जाने वाली, डॉ० जॉनसन की दी हुई परिभाषा के अनुसार निबन्ध "अनियमित, अधपका सन्दर्भ है, कोई नियमित व क्रमबद्ध रचना नहीं" (An irregular, undigested piece, not a regular and orderly composition)।

जबकि आचार्य शुक्ल की दृष्टि में "यदि गद्य कवियों की कसौटी है, तो निबन्ध गद्य की कसौटी है" तथा निबन्ध में वह चाहते हैं कि "चुस्त भाषा के भीतर एक पूरी अर्थ-परम्परा कसी हो।"[२८] उल्लेखनीय है कि डॉ० जॉनसन ने निबन्ध के सम्बन्ध में "अनियमितता और अव्यवस्थितता" की बात कह भले दी हो, उनके रचे निबन्धों में रचना के कसाव और भाषा की चुस्ती बखूबी नमूदार हुई है। और ऊपर जो 'मनुष्य' की परिभाषा उद्धृत है, वह 'आइड्लर' में प्रकाशित उनके एक निबन्ध से ही है जिसमें भाव की गरिमा और भाषा के सौष्ठव का स्पृहणीय रूप लक्षित है। यहाँ एक बानगी 'रैम्बलर' में प्रकाशित उनके एक निबन्ध से ली जाए—

"Patience and submission are very carefully distinguished from cowardice and indolence. We are not to repine, but we may lawfully struggle for the calamities of life, like the necessities of nature, are calls to labour enercises of diligence."

(धैर्य और कार्पण्य को कायरता और अकर्मण्यता से पृथक् करने में बहुत सावधानी की जरूरत है। हमें ग्लानि में नहीं पड़ना है, बल्कि हम वैध रूप में संघर्ष करें, क्योंकि जीवन की विपत्तियाँ, प्रकृति की अपेक्षाओं की भाँति, श्रम और अध्यवसाय के लिए आह्वान हैं।)

शब्द और उसके प्रयोग की अधिक से अधिक बारीक और गहरी समझ जॉनसन में मिलती है और यह बात आचार्य शुक्ल में असाधारण रूप में विद्यमान है, बल्कि उनकी एक सर्वाधिक उल्लेखनीय विशेषता है। आचार्य शुक्ल हिन्दी के डॉ० जॉनसन-जैसे प्रतीत होते हैं। यह दूसरी बात है कि डॉ० जॉनसन अंग्रेजी साहित्य में 'लण्डन' और "दि वैनिटी आव ह्यूमन विशेज" जैसी सशक्त कविताओं के कारण कवि के रूप में भी यशस्वी हैं, जबकि 'बुद्धचरित', 'हृदय का मधुर भार', 'मधु स्रोत' और 'रूपमय हृदय'—जैसी कविताएँ लिखकर भी शुक्लजी कवि के रूप में स्मरणीय नहीं हो सके। वह सही माने में एक पथिकृत् आचार्य थे। स्वाभाविक समुच्छ्वास के बजाय वह मार्ग-दर्शन की प्रेरणा से परिचालित थे। उनकी लिखी कहानी "ग्यारह वर्ष का समय" आधुनिक हिन्दी साहित्य की दो-चार प्राथमिक कहानियों में परिगणित है।

आचार्य शुक्ल में भाषा की समास-शक्ति अद्भुत है। सूत्र-शैली और निगमन-पद्धति (Deductive method) के प्रयोग पर उनका अधिकार अद्भुत्-असाधारण है। 'उत्साह' शीर्षक निबन्ध में उत्साह की सूत्र-रूप में परिभाषा देखें—

"साहसपूर्ण आनन्द की उमंग का नाम उत्साह है।" फिर चूँकि 'प्रयत्न' भी उत्साह का अनिवार्य तत्त्व है, इसलिए उसके स्पष्टीकरण में कहते हैं—"बुद्धि द्वारा पूर्ण रूप से निश्चित की हुई व्यापार-परम्परा का नाम ही 'प्रयत्न' है।" फिर 'लोभ' से उत्साह का भेद स्पष्ट करते हुए कहते हैं—"कर्म-भावना-प्रधान उत्साह ही सच्चा उत्साह है। फल-भावना-प्रधान उत्साह तो लोभ का ही एक प्रच्छन्न रूप है।" सूत्र-शैली में कैसी स्फटिक-स्वच्छ संकल्पना है। उसी प्रकार देखिए, 'लोभ और प्रीति' शीर्षक निबन्ध से शब्द-विवेचन की भाषा-वैज्ञानिक बारीकी का एक नमूना, निबन्ध-कला की चुटीली शैली में—

"किसी रूपवान या रूपवती को देख उस पर 'लुभा जाना' बराबर कहा जाता है। अंग्रेजी के प्रेमवाचक शब्द 'लव' (Love), सेक्सन के 'लुफु' (Lufu) और लैटिन के लुबेट (Lubet) का सम्बन्ध संस्कृत के 'लोभ' शब्द या 'लुभ्' धातु से स्पष्ट लक्षित होता है।"

व्यंग्य-मिश्रित हास्योद्रेचक टिप्पणियों की यथावश्यक छौंक डालने के निबन्धपरक विशिष्ट कलात्मक कौशल का हृद्य रूप में स्पृहणीय विवेचन आचार्य के निबन्धों में देखते ही बनता है। बस एक उदाहरण—

"लोभियों का दमन योगियों के दमन से किसी प्रकार कम नहीं होता। वे शरीर सुखाते हैं, अच्छे भोजन, अच्छे वस्त्र आदि की आकांक्षा नहीं करते, लोभ के अंकुश से अपनी सम्पूर्ण इन्द्रियों को वश में रखते हैं। लोभियो! तुम्हारा अक्रोध, तुम्हारा इन्द्रिय-निग्रह, तुम्हारी मानापमान-समता, तुम्हारा तप अनुकरणीय है; तुम्हारी निष्ठुरता, तुम्हारी निर्लज्जता, तुम्हारा अविवेक, तुम्हारा अन्याय विगर्हणीय है। तुम धन्य हो! तुम्हें धिक्कार है!!"

(लोभ और प्रीति)

आधुनिक हिन्दी-साहित्य के उस किशोर-काल में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जैसे परम महान् पथिकृत् आचार्य अथच कारयित्री एवं भावयित्री प्रतिभा के अक्षय्य निधानस्वरूप महारथी का हिन्दी साहित्य के मंच पर आविर्भाव न केवल भारतीय, बल्कि सम्पूर्ण विश्व के साहित्यिक परिदृश्य में सबसे अधिक स्पृहणीय एवं स्मरणीय घटना है।

अब और उपबृंहण से बचते हुए अन्त में आचार्य डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी के हवाले से कहना चाहूँगा—

"आचार्य रामचन्द्र शुक्ल से सर्वत्र सहमत होना सम्भव नहीं। वे इतने गम्भीर और कठोर थे कि उनके वक्तव्यों की सरसता उनकी बुद्धि की आँच से सूख जाती थी और उनके मतों का लचीलापन जाता रहता था। आपको या तो 'हाँ' कहना पड़ेगा या 'ना', बीच में खड़े होने का कोई उपाय नहीं। उनका अपना मत सोलह आने अपना है। वे तनकर कहते हैं—मैं ऐसा मानता हूँ, तुम्हारे मानने, न मानने की मुझे परवा नहीं। फिर भी शुक्ल जी प्रभावित करते हैं। नया लेखक उनसे डरता है, पुराना घबराता है, पण्डित सिर हिलाता है। वे पुराने की गुलामी पसन्द नहीं करते और नवीन की गुलामी तो उनके लिए एकदम असह्य है। शुक्ल जी इसी बात में बड़े हैं और इसी जगह उनकी कमजोरी है।"[२८]

## संदर्भ-संकेत

(१) श्री शिवनाथ : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ६। (२) आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास (संशोधित-परिवर्द्धित ७वाँ संस्करण), पृ० १९। (३) देखें, पूरा चित्र, दोहकोश : सम्पादक-पुनरनुवादक—महा० राहुल सांकृत्यायन, पृ० २४। (४) इतिहास, पृ० १७। (५) वही, पृ० १३। (६) डॉ० पी० सी० बागची : Studies in the Tantras, p. १३

35 । (७) वही, पृ० ३५; पूरा विवेचन, वहीं द्रष्टव्य । (८) डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी : कल्पलता, पृ० २५-२६ । (९) चिन्तामणि—२, पृ० ५४ । (१०) श्रीकृष्णनाथ : 'त्रिवेणी' की भूमिका, पृ० ९ । (११) चिन्तामणि—२, पृ० ४८ । (१२) वही, पृ० १५४, २०१, १४८ । (१३) देखें, डॉ० गोपीनाथ कविराज : भारतीय संस्कृति और साधना, प्रथम खण्ड, पृ० १७ । (१४) त्रिवेणी, पृ० ७८ । (१५) वही, पृ० १२९ । (१६) डॉ० रामखेलावन पाण्डेय : गीति-काव्य, पृ० १६८ । (१७) हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० १६८ । (१८) त्रिवेणी, पृ० ७३ । (१९) चिन्तामणि—२, पृ० १०१ । (२०) हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी, पृ० ८२ । (२१) The Pelican Guide to English Literature—4 (From Dryden to Johnson), p. 399. (२२) W. F. Bolton : A Short History of Literary English, p. 50. (२३) Ifer Erans : A Short History of English Literature, p. 319. (२४) देखें, वही, पृ० ३१९ । (२५) देखें, The Pelican Guide to English Literature—4, p. 409. (२६) वही, पृ० ४०० । (२७) देखें, वही, पृ० ४१७ । (२८) देखें, इतिहास, पृ० ५०५, ५२५ । (२९) डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी : हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ० १४७ ।

●

रीडर एवं अध्यक्ष,<br>
हिन्दी-विभाग<br>
के० ओ० कालेज (रांची विश्वविद्यालय), गुमला<br>
पो०—गुमला<br>
जिला—गुमला (Gumla)<br>
(बिहार)

# आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की आलोचना-भाषा

●

डॉ० रमेश तिवारी

हिन्दी में साहित्य-सृजन के साथ ही साथ आलोचना साहित्य का भी विकास हुआ है और साहित्य की कलात्मक एवं भाषिक समृद्धि के समानान्तर ही आलोचना साहित्य की भी कलात्मक एवं भाषिक उन्नति हुई है। भारतेंदु-काल से लेकर अब तक जैसे-जैसे हिन्दी साहित्य विविध आयामों तथा स्तरों में विकसित हुआ है, वैसे-ही-वैसे हिन्दी आलाचकों ने भी अपने क्षेत्र को अनेक सरणियों तथा सिद्धान्तों में विकसित किया है और इस बात के प्रयास बराबर होते रहे हैं कि हिन्दी आलोचना की भाषा को कुछ ऐसे मौलिक मुहावरे और प्रत्यय प्रदान किए जायें जिनसे हिन्दी आलोचना का अपना एक निजी अस्तित्व उभर कर आये और उसकी एक मौलिक अस्मिता परिलक्षित हो। इसके लिए आलोचकों ने भाषा का सर्वाधिक सहारा लिया है और उसकी विभिन्न बारीकियों पर नज़र रखते हुए ही वे इस दिशा में सक्रिय हुए हैं।

वस्तुत: साहित्य की अन्य-विधाओं की भाँति आलोचना में भी भाषा का महत्त्व निर्विवाद है। भाषा के सहारे ही आलोचना अपना रूप खड़ा करती है और उसी की नींव पर आलोचना का भवन निर्मित होता है। जिस प्रकार अन्य विधाओं में सर्जनात्मक भाषा का मुहावरा बहुत बार दुहराया गया है, उसी प्रकार आलोचना में भी एक किस्म की सर्जनात्मकता अनिवार्य होती है। जिस प्रकार एक मौलिक कहानी अथवा एक मौलिक कविता की सृष्टि में भाषा को अनेक सर्जनात्मक आयामों से गुजरना पड़ता है, उसी प्रकार आलोचना के किसी मौलिक प्रतिमान की सृष्टि करते समय भी उसे अनेक सर्जनात्मक विकल्पों से होकर गुजरना पड़ता है। इसीलिए आलोचना के क्षेत्र में भी मूल्यान्वेषण या मानदण्ड निर्धारित करने का काम बिना सर्जनात्मक भाषा के संभव नहीं। सृजनात्मक भाषा के सहारे ही आलोचक नये तथा युग एवं साहित्य सापेक्ष मूल्य निर्धारित करता है। इसीलिए जिन आलोचक के पास यह सृजनात्मक आलोचना-भाषा नहीं होती, वे रचनाओं की केवल व्याख्या भर उपस्थित कर पाते हैं; सिद्धान्तों का निर्माण या मूल्यांवेषण उनके वश की बात नहीं होती। सिद्धान्तों एवं मूल्यों का प्रसंग उपस्थित होने पर वे केवल पिष्टपेषण से काम चला लेते हैं।

आलोचना-भाषा के इस सर्जनशील धरातल से अगर हम हिन्दी आलोचना पर विचार करें तो हम पायेंगे हिन्दी का आलोचक 'प्रवर' शुरू से ही भाषा के प्रति बेहद सतर्क रहा है। हाँ, यह दूसरी बात है कि हिन्दी गद्य भाषा के विकास के समानान्तर ही यह विकास सम्पन्न हुआ है। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में जिस प्रकार हिन्दी गद्य की अनेक विधाएँ प्रकाश में आईं, उसी प्रकार आलोचना साहित्य का भी विकास हुआ। दरअसल सृजनात्मक साहित्य और आलोचना साहित्य का रिश्ता कुछ ऐसा है कि दोनों एक-दूसरे के समानान्तर ही विकसित भी होते हैं। जब तक सृजनात्मक साहित्य नहीं है, आलोचना-साहित्य की आवश्यकता ही नहीं पड़ती। आखिर आलोचना होगी भी तो किसकी ? स्पष्ट है कि सृजनात्मक साहित्य के विकास के बाद ही आलोचना साहित्य की आवश्यकता पड़ती है। × × × × ×

× × × लेकिन यह तो दोनों के प्रारंभिक विकास की अवस्था है। आगे चलकर दोनों के बीच कुछ ऐसा संबंध स्थापित हो जाता है कि यह बताना कठिन बन जाता है कि कौन पहले आया और कौन बाद में और दोनों ही एक-दूसरे के मुखापेक्षी बन जाते हैं तथा एक-दूसरे को प्रभावित करने लगते हैं।

स्पष्ट है कि जैसे-जैसे हिन्दी गद्य-भाषा सृजनात्मक रचनाओं में समृद्ध होती गई है, वैसे ही वैसे हिन्दी आलोचना की भाषा भी सुदृढ़ होती गई है और विशेषकर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की आलोचनाओं में पहुँच कर तो वह अपना एक उच्चस्तरीय स्थान बना लेती है। लेकिन आलोचना-भाषा का यह विकास शुक्लजी की रचनाओं में अचानक नहीं हो जाता, बल्कि इसकी एक सुदृढ़ परम्परा भारतेन्दु-काल से ही प्रारम्भ हो जाती है जिसके अंतर्गत धीरे-धीरे आलोचना की भाषा को सँवारा-सजाया जाता है और उसे पानीदार बनाया जाता है। इस दृष्टि से भारतेंदु का प्रयास ऐतिहासिक महत्त्व का है जिन्होंने "नाटक अथवा दृश्य काव्य" शीर्षक अपना महत्त्व-पूर्ण आलोचनात्मक निबंध लिखकर हिन्दी आलोचना तथा आलोचना-भाषा—दोनों का मार्ग प्रशस्त किया। इसके अतिरिक्त उन्होंने 'कविवचन सुधा' में 'हिन्दी कविता' नाम से भी एक विद्वत्तापूर्ण आलोचनात्मक लेख लिखा जो तत्कालीन हिन्दी आलोचना को सर्वाधिक प्रोत्साहित करने के साथ-ही-साथ आगे के आलोचकों के लिए भी मार्गदर्शक बना। इन दोनों निबन्धों की भाषा पर अगर हम विचार करें तो स्पष्ट पता चलेगा कि उस प्रारम्भिक अवस्था में भी हिन्दी आलोचना की भाषा कितनी अभिव्यंजनापूर्ण और प्रेषणीय बन गई थी। भारतेंदु के "नाटक अथवा दृश्य काव्य" निबन्ध का एक अंश प्रस्तुत है—

"काव्य दो प्रकार के हैं—दृश्य और श्रव्य। दृश्य काव्य वह है जो कवि की वाणी को उसके हृदयगत आशय और हाव-भाव सहित प्रत्यक्ष दिखला दे। जैसा कालिदास ने शाकुंतल में भ्रमर के आने पर शकुन्तला की सूधी चितवन से कटाक्षों का फेरना जो लिखा है, उसको प्रथम चित्रपटी द्वारा उस स्थान का शकुन्तला-वेश-सज्जित स्त्री द्वारा उसके रूप-यौवन और वनोचित शृङ्गार का; उसके नेत्र, सिर, हस्तचालनादि द्वारा उसके अंग-भंगी और हाव-भाव का तथा कवि-कथित वाणी के उसी के मुख से कथन द्वारा काव्य का, दर्शकों के चित्त पर खचित कर देना ही दृश्य काव्यत्व है। यदि श्रव्य काव्य द्वारा ऐसी चितवन का वर्णन किसी से सुनिए या ग्रन्थ में पढ़िए तो जो काव्यजनित आनन्द होगा, यदि कोई प्रत्यक्ष अनुभव करा दे तो उससे चतुर्गुणित आनन्द होता है। दृश्य-काव्य की संज्ञा रूपक है। रूपकों में नाटक ही सबसे मुख्य है। इससे रूपक मात्र को नाटक कहते हैं।"

ऊपर के इस उद्धरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतेंदु में काव्यालोचन की सूझ-बूझ भी उनकी थी और उनकी भाषिक चेतना तो बहुत ही समृद्ध थी। काव्य के दृश्य और श्रव्य भेदों का यह विवेचन निस्सन्देह हिन्दी आलोचना को भाषिक सर्जनशीलता के धरातल से विकसित करने की एक सही और निष्ठावान् कोशिश है जो ऐतिहासिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसके अतिरिक्त भारतेंदु-युग में 'हरिश्चन्द्र चंद्रिका', 'आनन्द कादम्बिनी', 'सार सुधा निधि', 'हिन्दी प्रदीप' आदि पत्र-पत्रिकाओं में भी अनेक आलोचनात्मक लेख प्रकाशित हुए जिनके माध्यम से हिन्दी आलोचना का भाषिक धरातल ऊपर उठ सका तथा उसमें सर्जनशीलता का समावेश हुआ। बदरी नारायण चौधरी 'प्रेमघन' तथा बालकृष्ण भट्ट ने तो अनेक ऐसी आलोचनाएँ लिखीं जिनमें गुण-दोष-विवेचन के साथ-ही-साथ थोड़ा सिद्धान्त चिंतन एवं विवेचन भी हुआ जिससे हिन्दी आलोचना की भाषा को विकसित होने का सुअवसर प्राप्त हुआ।

भारतेंदु-युग के बाद द्विवेदी-युग में हिन्दी-आलोचना के लिए अधिक उपजाऊ वातावरण एवं भूमि दिखाई पड़ती है क्योंकि इस युग के प्रसिद्ध विद्वान् लेखक पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी मूलतः आलोचक ही थे। द्विवेदीजी ने अपने साथ-ही-साथ हिन्दी आलोचकों की एक पूरी टीम का निर्माण किया जिसमें मिश्रबन्धु, पद्मसिंह शर्मा, लाला भगवानदीन, पदुमलाल पुन्नालाल बक्शी, श्यामसुन्दर दास इत्यादि के नाम उल्लेखनीय हैं जिन्होंने हिन्दी-आलोचना को अपने मौलिक रूप में विकसित किया तथा पहली बार आलोचना के वास्तविक रूप से साक्षात्कार कराया। इस युग की प्रसिद्ध पत्रिका 'सरस्वती' में ये सभी लेखक छपते थे और इसके माध्यम से सारे देश के पाठकों तक पहुँचते थे। इन आचोचकों ने सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक दोनों प्रकार की आलोचनाएँ लिखीं जिनसे आलोचना की भाषिक सर्जनशीलता तो समृद्ध हुई ही, प्रसिद्ध आलोचक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का काम भी आसान बन गया। द्विवेदी जी ने अपनी आलोचना-दृष्टि का निर्माण अपने युग-जीवन की परिस्थितियों, उपलब्ध युगीन साहित्यिक उपकरणों तथा प्राचीन भारतीय काव्य एवं इतिहास-पुराण के अध्ययन से प्राप्त चिंतन-मूल्यों के योग से किया। 'कवि और कविता' जैसे लेखों में उन्होंने नवीन सैद्धान्तिक आलोचना को आगे बढ़ाया तो 'काव्य की उपेक्षिता उर्मिला' जैसे लेख द्वारा साहित्य में मानवता एवं नारी-विषयक उच्च भावनाएँ प्रस्तुत कीं। इसी प्रकार कालिदास की कृतियों की आलोचना करके उन्होंने हिन्दी-आलोचना का पथ प्रशस्त किया तो 'सरस्वती' के माध्यम से खड़ीबोली के आन्दोलन का नेतृत्व करके भाषा के सम्पूर्ण रूप को भी सँवारने और निखारने का काम किया। विशेषकर आलोचना की भाषा तो द्विवेदी युग में उनके पावन स्पर्श से निखर उठी और उसका सौंदर्य पूर्ण रूप से प्रस्फुटित हो गया जिसका लाभ उठाते हुए आलोचक प्रवर पं० रामचन्द्र शुक्ल जी ने अपनी आलोचना-भाषा निर्मित की।

शुक्ल जी ने यद्यपि स्कूली शिक्षा अधिक नहीं पाई थी, फिर भी स्वाध्याय के माध्यम से उन्होंने देश-विदेश के साहित्य का व्यापक अध्ययन किया था तथा उसमें गहराई के साथ अपनी संलग्नता स्थापित की थी। विशेषकर काव्यशास्त्र के अध्ययन में उनकी जिज्ञासा बड़ी तीव्र थी और उन्होंने भारतीय ही नहीं, पाश्चात्य काव्यशास्त्र के विभिन्न आचार्यों को भी पढ़ा था तथा उनके विचारों एवं सिद्धान्तों की गहरी छानबीन की थी। और इन सब के माध्यम से शुक्ल जी ने अपने लिए एक ऐसी भाषा निर्मित की जो सिद्धान्त-प्रतिपादन एवं विचार-प्रकाशन में न केवल स्पष्ट और बेलाग थी, बल्कि मौलिक भाव-उत्पादक और सरलता के साथ संप्रेष्य भी थी। शुक्ल जी उलझी-से-उलझी बात भी इसी भाषा के सहारे कह ले जाते हैं और उनके विचारों में कहीं कोई दुरूहता भी नहीं आती। सिद्धान्त-विवेचन का प्रसंग हो तो या व्यावहारिक आलोचना का प्रसंग हो तो, सभी जगह शुक्लजी की यह समृद्ध भाषा उनके साथ है और हर तरह से उनका सहयोग करने को तत्पर दिखाई पड़ती है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने कबीर को जिस प्रकार भाषा का 'डिक्टेटर' कहा है, कुछ उसी प्रकार की स्थिति मुझे आलोचना में शुक्लजी की भी दिखाई पड़ती है जिनके इशारे पर भाषा हर तरफ से दौड़ी आती है। धर्म और दर्शन, ज्ञान और विज्ञान, ज्योतिष और वैद्यक, समाजशास्त्र और अर्थशास्त्र, राजनीति-शास्त्र और कलाशास्त्र, संगीत और नृत्य, साहित्य और संस्कृति—इन अनेक स्रोतों से शुक्लजी का शब्दकोश निर्मित हुआ है जिसके कारण उनकी भाषा में एक प्रकार की व्यापकता और विशालता भी आ गई है।

सिद्धान्त-विवेचन के अंतर्गत शुक्लजी की यह भाषा अपनी चरम परिणति प्राप्त कर लेती है। सिद्धान्त-विवेचन-सम्बन्धी उनके निबन्धों का तात्त्विक विवेचन इतना समृद्ध और उच्च-

स्तरीय है कि हिन्दी-आलोचना के रूप में आचार्य शुक्ल का महान् व्यक्तित्व स्वतः प्रमाणित हो जाता है। शब्दों का ऐसा सुसंगत प्रयोग तथा जटिल विषयों की यह सहज बोधगम्य अभिव्यक्ति सचमुच अपना उदाहरण आप है। 'काव्य में लोक-मंगल की साधनावस्था' का एक अंश प्रस्तुत है—

"सत्, चित् और आनन्द—ब्रह्म के इन तीनों स्वरूपों में से काव्य और भक्ति मार्ग 'आनन्द' स्वरूप को लेकर चले। विचार करने पर लोक में इस आनन्द की अभिव्यक्ति की दो अवस्थाएँ पायी जायेंगी—साधनावस्था और सिद्धावस्था। अभिव्यक्ति के क्षेत्र में ब्रह्म के आनन्द-स्वरूप का सतत् आभास नहीं रहता, उसका आविर्भाव और तिरोभाव होता रहता है। इस जगत् में न तो सदा और सर्वत्र लहलहाता वसन्त-विकास रहता है, न सुख-समृद्धिपूर्ण हास-विलास। शिशिर के आतंक से सिमटी और झोंके झेलती वनस्थली की खिन्नता और दीनता के बीच से ही क्रमशः आनन्द की अरुण आभा धुँधली-धुँधली फूटती हुई अन्त में वसन्त की पूर्ण प्रफुल्लता और प्रचुरता के रूप में फैल जाती है; इसी प्रकार लोक की पीड़ा-बाधा, अन्याय-अत्याचार के बीच दबी हुई आनन्द-ज्योति भीषण शक्ति में परिणत होकर अपना मार्ग निकालती है और फिर लोकमंगल और लोकरंजन के रूप में अपना प्रकाश करती है। आनन्द की साधनावस्था या प्रयत्न-पक्ष को लेकर चलने वाले काव्यों के उदाहरण हैं—रामायण, महाभारत, 'रामचरितमानस' इत्यादि प्रबन्ध-काव्य। आनन्द की सिद्धावस्था या उपभोग-पक्ष को लेकर चलने वाले काव्यों के उदाहरण हैं 'आर्य्या सप्तशती', 'गाथा सप्तशती', 'गीतगोविन्द', बिहारी-सतसई, सूरसागर, छायावादी गीतिकाव्य, फारसी-उर्दू के शेर और ग़जलें, अंग्रेजी की लिरिक कविताएँ तथा नई प्रकार की वर्णनात्मक कविताएँ।"

इस उद्धरण से स्पष्ट हो जाता है कि शुक्लजी के पास कितनी समृद्ध भाषा थी। काव्य की इस तरह की श्रेणियाँ निर्धारित करना और उनकी अलग-अलग स्थितियाँ निर्देशित करना शुक्लजी की समृद्ध आलोचना-भाषा के द्वारा ही सम्भव था। इस तरह की सैद्धांतिक आलोचना किसी मौलिक सृजन से कम महत्त्वपूर्ण नहीं होती और भाषा को यहाँ मौलिक सृजन का ही दर्द झेलना पड़ता है। इसीलिए आलोचना के क्षेत्र में मौलिक सिद्धान्त-विवेचन को सृजनात्मक साहित्य की भाँति कलात्मक और गम्भीर महत्त्व का माना गया है। इसी प्रकार अपने अन्य निबन्धों में भी शुक्लजी ने अपनी समृद्ध भाषा का उदाहरण प्रस्तुत किया है। साधारणीकरण और व्यक्ति-वैचित्र्यवाद शीर्षक अपने निबन्ध में वे लिखते हैं—"काव्य का विषय सदा 'विशेष' होता है, 'सामान्य' नहीं; वह 'व्यक्ति' सामने लाता है, 'जाति' नहीं। यह बात आधुनिक कला-समीक्षकों के क्षेत्र में पूर्णतया स्थिर हो चुकी है। काव्य का काम है कल्पना में 'बिम्ब' या मूर्त-भावना उपस्थित करना; बुद्धि के सामने कोई विचार लाना नहीं। 'बिम्ब' जब होगा, तब विशेष या व्यक्ति का ही होगा, सामान्य या जाति का नहीं। इस सिद्धान्त का तात्पर्य यह है कि शुद्ध काव्य की उक्ति सामान्य तथ्य-कथन या सिद्धान्त के रूप में नहीं होती। कविता वस्तुओं और व्यापारों का बिम्ब ग्रहण कराने का प्रयत्न करती है, अर्थग्रहण-मात्र से उसका काम नहीं चलता। बिम्ब-ग्रहण जब होगा तब विशेष या व्यक्ति का ही होगा, सामान्य या जाति का नहीं।"

शुक्लजी की भाषा यहाँ अत्यन्त सुसंगठित एवं विचार-प्रकाशन की दृष्टि से मूर्त और स्पष्ट है तथा उसमें संप्रेषणीयता भी मौजूद है। बिम्ब-विधान की कविता में इस विशिष्ट स्थिति का शुक्लजी ने जैसा स्पष्ट आकलन प्रस्तुत किया है, वह उनकी भाषिक चेतना को ही व्यक्त करता है। शुक्लजी की भाषा के एक-एक शब्द यहाँ तौल-तौल कर रखे गए हैं और पूरी भाषा-संरचना को सावधानीपूर्वक संयोजित किया गया है जिसमें एक सच्चे कलाकार की सृजनात्मक भाषिक चेतना के संस्पर्श भी स्पष्ट देखे जा सकते हैं।

सैद्धान्तिक आलोचना की भाँति ही शुक्ल जी ने अपनी व्यावहारिक आलोचनाओं में भी भाषा के सर्जनशील रूप को बनाए रखा है और उसके स्तर को कहीं से भी गिरने नहीं दिया है। उनकी व्यावहारिक आलोचनाओं में सूर, तुलसी, कबीर, जायसी आदि पर लिखी उनकी विस्तृत व्यावहारिक 'आलोचनाएँ' विख्यात हैं जिनमें भाषा की संरचनात्मक चेतना अपनी चरम स्थिति में दिखाई पड़ती है। विशेष कर तुलसीदास के विवेचन और मूल्यांकन में तो शुक्ल जी की भाषा काव्य की सृजन-धर्मिता की ऊँचाई तक भी पहुँच गई है। वैसे भी शुक्लजी के काव्यादर्श गोस्वामी तुलसीदास हैं और शुक्लजी ने अपने अधिकांश मूल्य तुलसीदास से ही ग्रहण किए हैं। निस्संदेह तुलसी-संबंधी विवेचन शुक्ल-आलोचना की अनुपम उपलब्धि है जो न केवल हिन्दी या भारतीय ही, बल्कि विश्व के आलोचना-साहित्य से भी टक्कर ले सकता है। तुलसी की इतनी व्यापक छानबीन और उनके काव्य की इतनी सूक्ष्म बारीकियों का उद्‌घाटन आपको और कहीं नहीं मिलेगा। और इन बारीकियों के उद्‌घाटन में शुक्लजी की समर्थ आलोचना-भाषा का महत्त्वपूर्ण योगदान है क्योंकि उसी के माध्यम से यह सब संभव हो सका है। तुलसीदास की भावुकता का उद्‌घाटन करते हुए शुक्लजी लिखते हैं—"प्रबंधकार कवि की भावुकता का सबसे अधिक पता यह देखने से चल सकता है कि वह किसी आख्यान के अधिक मर्मस्पर्शी स्थलों को पहचान सका है या नहीं। रामकथा के भीतर ये स्थल अत्यंत मर्मस्पर्शी हैं—राम का अयोध्या-त्याग और पथिक के रूप में वन-गमन, चित्रकूट में राम और भरत का मिलन, शबरी का आतिथ्य, लक्ष्मण को शक्ति लगने पर राम का विलाप, भरत की प्रतीक्षा। इन स्थलों को गोस्वामी जी ने अच्छी तरह पहचाना है, इनका उन्होंने अधिक विस्तृत और विशद वर्णन किया है।"

तुलसीदास को इस तार्किक ढंग से संभवतः और किसी आलोचक ने स्थापित नहीं किया और इसकी वजह शुक्लजी की भाषिक चेतना की व्यापकता और समृद्धि ही है। शुक्ल जी के पास मानो शब्दों का अम्बार लगा हुआ है। चाहे जिधर से उठाइए, शब्द ही शब्द बिखरे पड़े हैं जिनमें अर्थ और संप्रेषण की अनंत संभावनाएँ हैं। तुलसी-काव्य की व्यावहारिक समीक्षा करते हुए शुक्ल जी ने जो मूल्य ढूंढ़ निकाले, वह केवल तुलसी ही नहीं, बल्कि संपूर्ण हिन्दी काव्य के मूल्यांकन का एक सशक्त आधार बन गया और सबसे बड़ी बात तो यह है कि आज भी हिन्दी में शुक्ल जी के इन मूल्यों को चुनौती देने वाला कोई आलोचक नहीं है। शुक्लजी ने हिन्दी आलोचना को जहाँ तक पहुँचाया, आज भी वह उसी के इर्द-गिर्द मँडरा रही है। आज जब साहित्य-लेखन में भाषा की अहम् भूमिका तथा उसका सृजनात्मक महत्त्व समझने लगे हैं और उसे मात्र माध्यम के रूप में न स्वीकार करके लक्ष्य के रूप में ग्रहण करने लगे हैं, तब शुक्ल जी की इस समृद्ध और सृजनात्मक आलोचना-भाषा पर भी नये सिरे से विचार करने की आवश्यकता है।

●

ब्लाक—५
फ्लैट—१२
शिवनगर कालोनी
इलाहाबाद—२११००६.

# आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और परवर्ती हिन्दी-आलोचना

●

डॉ० रामचन्द्र तिवारी

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का साहित्यिक व्यक्तित्व बहुआयामी था। आज उन्हें एक आचार्य एवं आलोचक के रूप में विशेष प्रतिष्ठा प्राप्त है, किन्तु वे एक सफल इतिहास-लेखक, भाषाविद्, अन्वेषक कोशकार, संपादक और अनुवादक के रूप में भी समान प्रतिष्ठा के अधिकारी हैं। आज साहित्य के इन क्षेत्रों में जिस स्तर का कार्य अलग-अलग विशेषज्ञ कर रहे हैं, अपने समय में उन्होंने अकेले सभी क्षेत्रों में उससे उच्च स्तर का कार्य किया है। यहाँ हम केवल यह देखने की चेष्टा करेंगे कि आलोचना के क्षेत्र में उन्होंने जिस 'लोक-मंगल-विधायक-रसवाद' की प्रतिष्ठा की थी और व्यावहारिक स्तर पर जिस 'विवेचनात्मक पद्धति' की शुरुआत की थी, उनके बाद उसका विकास किस रूप में हुआ। उनके बाद की हिन्दी-आलोचना उनके प्रभाव से कहाँ तक मुक्त है और कहाँ तक वह उनके दिखाए हुए मार्ग पर अग्रसर हुई है।

आलोचना के क्षेत्र में भी आचार्य शुक्ल ने कई दिशाओं में कार्य किया है। उनके कार्य की एक दिशा है—**भारतीय काव्य-सिद्धान्तों का पुनराख्यान** या युग-प्रवृत्ति के संदर्भ में उनकी पुनर्व्याख्या। दूसरी दिशा है—**पाश्चात्य सिद्धान्तों का अनुशीलन** और भारतीय काव्य-संदर्भ में विवेकपूर्वक उनका संग्रह। तीसरी दिशा है—**काव्य-कृतियों एवं प्रवृत्तियों का विवेचन**। कहना न होगा, इन तीनों दिशाओं में उनका कार्य महनीय है। काव्य-कृतियों के विवेचन की भी तीन दिशाएँ हैं। एक है—कृतियों में अन्तर्निहित विचारधारा को लक्षित करना और उसका स्वरूप स्पष्ट करना। दूसरी है, कृति के ऐतिहासिक-सांस्कृतिक परिवेश की व्यापक पीठिका को उभार कर उसके संदर्भ में कृति का महत्त्व प्रतिपादन करना। और तीसरी है, भाषिक-विश्लेषण के द्वारा कृति में निहित भाव-सौन्दर्य का उद्घाटन करना। आचार्य शुक्ल की समीक्षा में इन तीनों दिशाओं को लक्षित किया जा सकता है। आचार्य शुक्ल के बाद भारतीय काव्य-सिद्धान्तों के पुनराख्यान की परम्परा विश्वविद्यालयों में होने वाली शोधपरक समीक्षा के माध्यम से पर्याप्त समृद्ध हुई है। इस दिशा में डॉ० नगेन्द्र, डॉ० देवेन्द्र शर्मा, छैल बिहारी गुप्त, 'राकेश', डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी, डॉ० वटेकृष्ण, डॉ० भोलाशंकर व्यास, डॉ० आनन्दप्रकाश दीक्षित, डॉ० तारकनाथ बाली, डॉ० देशराज सिंह भाटी, डॉ० भगीरथ दीक्षित, डॉ० शंकरदेव अवतरे, डॉ० प्रेमस्वरूप गुप्त तथा डॉ० विजेन्द्र नारायण सिंह के कार्य उल्लेखनीय हैं। इस संदर्भ में यह ध्यान देने की बात है कि सर्वाधिक विवेचन रस-सिद्धान्त को लेकर किया गया है। उसे मनोवैज्ञानिक, सामाजिक और द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के आलोक में देखा-परखा गया है। समग्र काव्यशास्त्र का पुनराख्यान कम हुआ है। रस के बाद 'ध्वनि' और 'वक्रोक्ति' सिद्धान्तों की चर्चा हुई है। पाश्चात्य काव्य-चिन्तन और भारतीय संदर्भ में उसकी उपयोगिता पर विचार तथा दोनों के आधार पर संश्लिष्ट समीक्षा-सिद्धान्त की रचना की जो शुरुआत आचार्य शुक्ल ने की थी, ठीक उसी रूप में उसका विकास तो नहीं हुआ, किन्तु उनके बाद तुलनात्मक काव्यशास्त्र की एक परम्परा अवश्य चल पड़ी। आचार्य शुक्ल के जीवन-काल में ही लक्ष्मीनारायण सुधांशु ने 'काव्य में अभिव्यंजनावाद' (१६३६ ई०) लिखकर इस दिशा में प्रयास आरम्भ कर दिया था।

उसके बाद डॉ० नगेन्द्र, डॉ० देवेन्द्र शर्मा, डॉ० विष्णुदत्त राकेश, डॉ० निर्मला जैन, डॉ० रामनरेश वर्मा, डॉ० जगदीश शर्मा, डॉ० प्रेमकान्त टण्डन आदि ने इस दिशा में उल्लेखनीय कार्य किया है। डॉ० नगेन्द्र अभिनन्दन-ग्रन्थ के दूसरे खण्ड को नये-पुराने समीक्षकों ने मिलकर एक प्रकार से तुलनात्मक साहित्यशास्त्र ही बना दिया है। इस प्रकार के अध्ययन से हिन्दी की सैद्धान्तिक समीक्षा का क्षितिज तो निस्सन्देह विस्तृत हुआ है और उसमें विश्वजनीनता आई है, किन्तु इससे आचार्य शुक्ल का उद्देश्य पूरा नहीं हुआ है। आचार्य शुक्ल पाश्चात्य सिद्धान्तों के उपयोगी तत्त्वों को ग्रहण करके भारतीय एवं पाश्चात्य दोनों के संश्लेष से हिन्दी का एक स्वतन्त्र समीक्षा-शास्त्र विकसित करना चाहते थे। इसीलिए उन्होंने पाश्चात्य सिद्धान्तों की मौलिक व्याख्या करके उनका भारतीय काव्य-सिद्धान्त के भीतर उचित सन्निवेश किया है। रस-सिद्धान्त का पुनराख्यान जिस स्तर पर आचार्य शुक्ल ने किया था, उसे भी विकसित नहीं किया जा सका। आचार्य शुक्ल ने रस-सूत्र के भीतर 'विभाव' के महत्त्व को पहचाना। विभाव, भाव के कारण हैं। चूंकि हमारे भीतर भावों को जगाने और तीव्र करने का काम बाह्य दृश्य और परिस्थितियाँ करती हैं, इसलिए हमारी परिस्थिति हमारे भावों का आलम्बन है। काल की गति के अनुसार किसी जन-समाज के बीच जो गूढ़ और चिन्त्य परिस्थितियाँ उत्पन्न होती रहती हैं, वे सब हमारे भावों का विषय हो सकती हैं। इन परिस्थितियों को अपने अनुकूल बनाकर जीवन में सुख-शान्ति की स्थापना के लिए 'उत्साह' का संचार आवश्यक है। यह 'उत्साह' तभी जागृत हो सकता है जब हमारे भीतर दूसरे के दुःख से दुःखी होकर उसे दूर करने की बलवती भावना या 'करुणा' बीज-रूप में हमें प्रेरित करती रहे। 'प्रेम' भी हमें उत्साहित कर सकता है, किन्तु 'करुणा' में उससे अधिक व्याप्ति है। इसलिए ऐसे महाकाव्य, जिनका बीज-भाव करुणा है, हमें लोकमंगल में प्रवृत्त कर सकते हैं। शुक्लजी ने ऐसे काव्यों को लोकमंगल की साधनावस्था का काव्य कहा। ऋषि वाल्मीकि-प्रणीत 'रामायण' और तुलसीकृत 'रामचरितमानस' इसी कोटि के महाकाव्य हैं। दोनों में राम के रूप, गुण, शील, स्वभाव तथा रावण की विरूपता, अनीति, अत्याचार का विशद चित्र अंकित है। रावण लोक-पीड़क है, राम लोक-रक्षक। राम पूरे उत्साह से रावण और उसके अनुयायी राक्षसों का दमन करते हैं। उनके प्रत्येक कार्य और प्रत्येक भावना को पाठकों का समर्थन प्राप्त है। पाठक उनके क्रोध, प्रेम, उत्साह, करुणा सभी के साथ तादात्म्य का अनुभव करता हुआ रस-मग्न होता है। ऋषि वाल्मीकि और महात्मा तुलसीदास का जनमानस पर व्यापक प्रभाव इसीलिए है कि उनकी कृतियाँ लोकमंगल की प्रेरणा से लिखी गई हैं। इस प्रकार साहित्य में लोकमंगल-विधायिनी कृतियों की श्रेष्ठता निर्विवाद है। साहित्य के सम्बन्ध में इसे आप उपयोगितावादी सिद्धान्त कह सकते हैं और यह भी कह सकते हैं कि यह "पाश्चात्य उपयोगितावाद का भारतीयकरण है।"[१] या यह कि "उनका लोकहितवाद रस्किन और टॉलसटाय के धार्मिक उपयोगितावाद का भारतीय संस्कृति के अनुरूप नवीन रूपान्तर है"[२] इसे मान लेने पर भी (यद्यपि आचार्य शुक्ल ने टॉलसटाय के "पापी के प्रति घृणा नहीं दया" वाले सिद्धान्त का विरोध किया है और इस तथा इसी प्रकार के अन्य विलायती मन्त्रों के उच्चारण के प्रति सावधान किया है।[3] यह स्वीकार करना होगा कि पाश्चात्य चिन्तन को भारतीय संस्कृति के अनुरूप रूपान्तरित करना और फिर परम्परागत रस-सिद्धान्त के सूत्र के भीतर उसका समावेश करते हुए अपने देश में सर्वाधिक मान्य काव्यकृतियों के आधार पर उसका विवेचन करना असाधारण प्रतिभा का कार्य है। यह कार्य उनके बाद किसी दूसरे ने नहीं किया।

पाश्चात्य काव्य-सिद्धान्तों का अक्षययन करने वालों में डॉ० नगेन्द्र, डॉ० देवेन्द्र शर्मा, श्री नेमिचन्द्र जैन, डॉ० निर्मला जैन, डॉ० महेन्द्र चतुर्वेदी, डॉ० जगदीशचन्द्र जैन, डॉ० भागीरथ दीक्षित उल्लेखनीय हैं। इनके अध्ययनों से हिन्दी का पाठक पाश्चात्य काव्य-सिद्धान्तों से परिचित हुआ है। किन्तु इन सिद्धान्तों का भारतीय निकष पर मूल्यांकन बहुत कम हुआ है। इन सिद्धान्तों को यहाँ-वहाँ उद्धृत अवश्य किया जाने लगा है, किन्तु इनके आधार पर भारतीय क्लैसिकल साहित्य या नये हिन्दी-साहित्य का सहज विवेचन नहीं हुआ है। तात्पर्य यह कि अनुसंधानात्मक दृष्टि से भारतीय काव्य-सिद्धान्तों एवं पाश्चात्य सिद्धान्तों का स्वतन्त्र अध्ययन तथा तुलनात्मक अध्ययन के क्षेत्र में तो विशेष कार्य हुआ है, किन्तु दोनों के विवेकपूर्ण संश्लेष का कार्य आगे नहीं बढ़ा है। इसका कारण यह है कि द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति तथा स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद —'नवलेखन' का आन्दोलन चल पड़ा जिसके लिए आधुनिक होना पहली शर्त थी। नव लेखकों ने प्रसाद और प्रेमचन्द के साथ ही आचार्य शुक्ल की चिन्तन-परम्परा को भी नकार दिया। यह उनकी असमर्थता भी हो सकती है और सांस्कृतिक संक्रांति के क्षणों में जीवन के नये दृष्टिकोण की तलाश की त्वरा में पिछली पीढ़ी को नकारने की सतर्क चेष्टा भी। इस सम्बन्ध में डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी का साक्ष्य पर्याप्त होगा : "यह एक विचित्र सादृश्य है कि प्रेमचन्द तथा प्रसाद के समान की साहित्य-चिन्तन के क्षेत्र में भी विकास का क्रम आचार्य रामचन्द्र शुक्ल पर रुक गया। समीक्षा के जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन शुक्ल जी ने किया था, आगे चलकर उनका कुछ संशोधन-परिवर्द्धन भले ही किया गया हो, परन्तु इस दिशा में साहित्य-चिन्तन की कोई नवीन पद्धति जन्म न ले सकी।"[४]

वस्तुतः आचार्य शुक्ल की उपयोगितावादी या लोकमंगलवादी दृष्टि का विरोध तो उनके समय में ही स्वच्छन्तावादी या सौष्ठववादी समीक्षक आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने बड़े उत्साह से आरम्भ कर दिया था। उन्होंने शुक्ल जी की छायावाद-सम्बन्धी मान्यता का विरोध करते हुए कहा—"इस छायावाद को हम पण्डित रामचन्द्र शुक्ल जी के कथनानुसार केवल अभिव्यक्ति की एक लाक्षणिक प्रणाली विशेष नहीं मान सकेंगे। इसमें एक नूतन सांस्कृतिक मनोभावना का उद्गम है और एक स्वतन्त्र दर्शन की नियोजना भी। पूर्ववर्ती काव्य से इसका स्पष्टतः पृथक् अस्तित्व और गहराई है।"[५] इसी प्रकार शुक्ल जी के "अभिव्यंजनावाद" सम्बन्धी विचारों का विरोध करते हुए उन्होंने कहा, "शुक्ल जी क्रोचे के अभिव्यंजनावाद" का विरोध करते हैं और 'कला के लिए कला' सिद्धान्त की खिल्ली उड़ाते हैं जबकि क्रोचे और ब्रेडले जैसे कलावादियों ने अभिव्यंजना या कलावाद के मूल में उत्कृष्टतम मानसिक तत्त्व और प्रतिभा का अध्याहार कर दिया है।"[६] वाजपेयी जी के बाद डॉ० नगेन्द्र दूसरे बड़े समीक्षक हैं जिन्होंने आचार्य शुक्ल के नैतिक एवं उपयोगितावादी दृष्टिकोण को संकुचित बताया है। वे कहते हैं—"कविता को व्यापक अर्थ में रस के साहित्य अथवा ललित वाङ्मय को मैं मूलतः आत्माभिव्यक्ति ही मानता हूँ।"[७] कहना न होगा कि आत्माभिव्यक्ति का सिद्धान्त वस्तु-तत्त्व को गौण मानना है। आचार्य शुक्ल कभी भी वस्तु-तत्त्व को गौण स्वीकार नहीं कर सकते थे। डॉ० नगेन्द्र आत्माभिव्यक्ति से उत्पन्न आनन्द को परिष्कृत और सभी प्रकार के नैतिक-सामाजिक मूल्यों से स्वतन्त्र मानते हैं। उनका कहना है—"लेखक की निश्छल आत्माभिव्यक्ति के द्वारा जो परिष्कृत आनन्द प्राप्त होता है, वह स्वयं एक बड़ा वरदान है—नैतिक एवं सामाजिक मूल्य से स्वतन्त्र भी उसका एक स्वतंत्र महत्त्व है जिसको तुच्छ समझना स्थूल बुद्धि का परिचय देना है।"[८] शुक्ल जी अभिव्यक्ति के आनन्द को नैतिक-सामाजिक मूल्यों से स्वतन्त्र नहीं कर सकते थे।

सौष्ठववादी आलोचकों की भाँति मार्क्सवादी समीक्षकों ने भी आरम्भ में आचार्य शुक्ल

का विरोध किया। उनके विरोध का कारण यह था कि आचार्य शुक्ल की दृष्टि उपयोगितावादी होते हुए भी मार्क्सवादी नहीं थी। डॉ० रांगेय राघव, श्री शिवदान सिंह चौहान तथा डॉ० नामवर सिंह ने आचार्य शुक्ल की इतिहास-दृष्टि के विषय में जो बातें कहीं हैं, वे प्रकारान्तर से उनकी आलोचना-दृष्टि पर भी लागू होती हैं। यहाँ सभी मार्क्सवादियों द्वारा शुक्ल जी की समीक्षा की सीमाओं की उद्धरणी प्रस्तुत करना हमारा लक्ष्य नहीं है। हम केवल यह कहना चाहते हैं कि शुक्ल जी के बाद आलोचना की दो प्रमुख धाराओं—सौष्ठववादी और मार्क्सवादी ने उनके द्वारा प्रतिष्ठित मूल्यों का विरोध किया। आचार्य शुक्ल ने अपने समय में मनोविश्लेषणवादी फ्रायडीय समीक्षा-दृष्टि का भी विरोध किया था। इनके बाद कुछ दिनों तक यह दृष्टि हिन्दी-साहित्य के संदर्भ में आकर्षण का विषय बनी रही। डॉ० नगेन्द्र ने अपनी "छायावाद" सम्बन्धी समीक्षाओं में इसका उपयोग किया। श्री इलाचन्द्र जोशी ने इसके सिद्धान्त-पक्ष का विवेचन प्रस्तुत किया। श्री अज्ञेय ने यत्र-तत्र स्फुट रूप से इसकी चर्चा की और कला की व्याख्या में एडलर के क्षतिपूर्ति के सिद्धान्त को वरीयता दी। इसके बाद डॉ० देवराज ने कथासाहित्य के सन्दर्भ में इसका व्यापक प्रयोग किया, किन्तु धीरे-धीरे इस मत की प्रतिष्ठा के साथ, कि आलोच्य कृति की समीक्षा भाषिक विश्लेषण के आधार पर की जानी चाहिए, किन्हीं बाहरी ऐतिहासिक, सामाजिक या मनोवैज्ञानिक मूल्यों के आधार पर नहीं, आलोचना की इस पद्धति का आकर्षण कम हो गया। २ फरवरी, १९४२ को आचार्य शुक्ल का शरीरान्त हुआ। १९४३ ई० में तार-सप्तक का प्रकाशन हुआ। १९४६ ई० में अज्ञेय ने "प्रतीक" का प्रकाशन आरम्भ किया। १५ अगस्त १९४७ ई० को देश स्वतंत्र हुआ और १९५१ ई० में दूसरे सप्तक का प्रकाशन और नयी कविता के युग का आरम्भ साथ-साथ हुआ। 'तार-सप्तक' के कवि मार्क्सवाद से सम्बद्ध थे। दूसरे सप्तक के कवि मार्क्सवाद के प्रति कभी आकृष्ट भले रहे हों, वे अन्ततः उसके प्रभाव-क्षेत्र से बाहर हो चुके थे। इस प्रकार १९४१ से लेकर साहित्य के क्षेत्र में एक प्रकार का मंथन चल रहा था। मार्क्सवाद-प्रेरित 'प्रगतिवाद' का आन्दोलन धीरे-धीरे अपना प्रभाव खो रहा था और साहित्य के क्षेत्र में नये मूल्यों और अभिव्यक्ति की नयी भंगिमा की तलाश जारी थी। 'नयी कविता' और उसके समर्थक समीक्षकों का मूल स्वर उपयोगितावादी नहीं था। जो कवि और समीक्षक नये मार्ग का अन्वेषण कर रहे थे, आचार्य शुक्ल जैसे दृढ़ लोकमंगलवादी विचारक से प्रेरणा या शक्ति कैसे ग्रहण कर सकते थे।

१९५२ ई० के आस-पास ही प्रसिद्ध मार्क्सवादी समीक्षक श्री शिवदानसिंह चौहान ने शुक्ल जी की दृष्टि को एकांगी समाजशास्त्रीय होने का आरोप लगाया था। इसके पूर्व १९४३ ई० (२००० वि०) में ही शिवनाथ ने आचार्य शुक्ल को फ्रांस की राज्य-क्रान्ति (१७८९) के आगे-पीछे उत्पन्न मध्यवर्ग के उत्थान-काल के प्रतिनिधि यूरोपीय चिन्तकों—कांट, हीगेल, स्पिनोज़ा, लाक, ह्यूम, मिल, स्पेंसर आदि के विज्ञान-प्रसूत बुद्धिवादी विचारों से प्रभावित बताकर प्रकारान्तर से उनके लोकवाद को मध्यवर्गीय हितों तक ही सीमित सिद्ध करने का प्रयास किया था। १९५५ में "आलोचना" के अक्टूबर अंक में उन्होंने इस आरोप को और अधिक स्पष्ट रूप में दुहराया था। १९५५ ई० में डॉ० रामविलास शर्मा ने 'आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना' लिखकर पूरे विश्वास से रांगेय राघव, प्रकाशचन्द्र गुप्त, नामवर सिंह जैसे मार्क्सवादियों और आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी जैसे सांस्कृतिक दृष्टि-सम्पन्न मानवतावादी विचारकों के मतों का तर्कपूर्ण खण्डन करके आचार्य शुक्ल के मत का विस्तार से प्रतिपादन किया। इसी समय आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी का "नया साहित्य : नये प्रश्न" प्रकाशित हुआ। इस समय तक आते-आते उनका शुक्ल जी के विरोध का स्वर एकदम शान्त हो गया है और वे उनकी

आलोचनात्मक उपलब्धियों की प्रशंसा करते हुए कहते हैं—"शुक्लजी की समीक्षाएँ एक अतिशय संतुलित ऐतिहासिक चेतना का निर्माण और विन्यास करती हैं।"[९] यही नहीं, वे यह भी कहते हैं, "आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भारतीय साहित्य के विशाल अध्ययन के आधार पर हिन्दी के नवीन और प्राचीन कवियों के सम्बन्ध में अन्तरंग समीक्षायें लिखी हैं, वे ही हमारे लिए आलोक-स्तंभ का काम दे रही हैं।"[१०] इस प्रकार १९५५ ई० के आस-पास सौष्ठववादी समीक्षक आचार्य वाजपेयी और प्रखर मार्क्सवादी समीक्षक डॉ० रामविलास शर्मा दोनों दो भिन्न चिन्तन-पद्धतियों से चलकर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के निकट आते हैं। आचार्य वाजपेयी "भाववादी" विचारधारा के प्रतिनिधि हैं—और डॉ० रामविलास शर्मा "वस्तुवादी" विचारधारा के। आचार्य वाजपेयी आचार्य शुक्ल के नैतिक और मर्यादावादी काव्यादर्श को इसलिए महत्त्व देते हैं कि वह द्विवेदी युग की सुधारवादी जीवन-दृष्टि को रामचरितमानस जैसे आध्यात्मिक ग्रंथ की आदर्शवादी चेतना को अपने भीतर समाहित करके प्रतिष्ठित हुआ है। डॉ० शर्मा आचार्य शुक्ल को इसलिए महत्त्व देते हैं कि उनकी चिन्तन-पद्धति वैज्ञानिक है और वे विकासवाद को बहुत दूर तक स्वीकार करके ऐतिहासिक भौतिकवाद के निकट आ गए हैं। इससे हम एक निष्कर्ष यह निकाल सकते हैं कि किसी तात्कालिक प्रतिक्रिया या प्रभाव के कारण आन्दोलन के रूप में उभरने वाली काव्य-प्रवृत्ति के आधार पर उद्भावित आलोचना-दृष्टि बहुत दूर तक हमारा साथ नहीं दे सकती। अन्ततः हमें मानव-जीवन की गंभीर व्याख्या करने वाली तत्त्व-दृष्टि से अपने को समृद्ध करना ही होगा, चाहे वह भाववादी हो या अध्यात्मवादी। आचार्य वाजपेयी जब आचार्य शुक्ल का प्रखर विरोध कर रहे थे, तब वे बहुत कुछ छायावादी काव्य-वैभव और अभिव्यंजनावादी काव्य-दर्शन के तात्कालिक प्रभाव से उत्साहित थे। १९५५ में जब उन्होंने शुक्ल जी की उपलब्धियों की प्रशंसा की, तब वे पूरे भारतीय एवं पाश्चात्य काव्य-चिन्तन को ध्यान में रखकर प्राचीन एवं सामयिक साहित्य के मूल्यांकन के लिए एक सामान्य निकष की आवश्यकता का अनुभव कर रहे थे। इसी प्रकार प्रगतिवादी काव्यान्दोलन को विशेष महत्त्व देने तथा मार्क्सवादी दर्शन को भारतीय साहित्य एवं जन-जीवन की गहरी छानबीन किए बिना ही शीघ्र प्रतिष्ठित कर देने की त्वरा में मार्क्सवादी समीक्षकों ने शुक्ल जी का आरम्भ में विरोध किया। डॉ० रामविलास शर्मा ने इस विवेकहीनता को पहचाना और उन्होंने न केवल १९५५ में शुक्ल जी का समर्थन किया, वरन् १९७३ में अपनी पुस्तक के तीसरे संस्करण में ज़ोर देकर कहा—"आधुनिक हिन्दी साहित्य के विकास-संदर्भ में शुक्ल जी के आलोचना-कार्य का अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है, यह विश्वास मुझे सन् '५५ में भी था; सन् '७३ में वह विश्वास और भी दृढ़ हो गया है।"[११] डॉ० शर्मा के बाद प्रसिद्ध मार्क्सवादी समीक्षक डॉ० शिवकुमार मिश्र ने सन् १९७५ में 'यथार्थवाद' के सम्बन्ध में विचार करते हुए लिखा, "हिन्दी साहित्य के चिन्तन के क्षेत्र में आचार्य शुक्ल का उदय एक युग-प्रवर्तक घटना है। आचार्य शुक्ल के माध्यम से हिन्दी के साहित्य-चिन्तन को न केवल एक पुष्ट वैचारिक आधार प्राप्त हुआ, वरन् अपने जाग्रत विवेक एवं प्रखर सामाजिक चेतना के बल पर उन्होंने साहित्य एवं कला की समस्त प्रकार की अस्पष्ट मान्यताओं को एक ओर रखते हुए उनके दृढ़ सामाजिक एवं लौकिक आधार की विवेचना की। उनके प्रखर सामाजिक चिन्तन का ही परिणाम है कि आगे साहित्य एवं कला का सुस्पष्ट एवं सही व्याख्या के लिए मार्ग प्रशस्त हुआ।"[१२] इस प्रकार डॉ० शर्मा के '७३ ई० के विश्वास को डॉ० मिश्र ने '७५ ई० में पुष्ट किया।

प्रसन्नता का विषय यह है कि युवा मार्क्सवादी समीक्षकों में विशेष उत्साही नन्दकिशोर

नवल १९८१ में भी शुक्ल जी की श्रेष्ठता स्वीकार करते हुए लिखते हैं—"यह शुक्ल जी की श्रेष्ठता का प्रमाण है कि वे शास्त्रीयतावाद के साथ-साथ स्वच्छन्दतावाद की विकृतियों से भी परिचित थे। इसी से एक ओर जहाँ उन्होंने शास्त्रीयतावाद की रूढ़ियां तोड़ीं, वहीं दूसरी ओर स्वच्छन्दतावाद को भी 'व्यक्ति-वैचित्र्यवाद' से बचाने की चेष्टा की।"[13] मार्क्सवादी समीक्षकों में अपनी बुद्धिमत्ता, विवेक और समय की गति की पहचान के लिए विख्यात डॉ० नामवर सिंह ने आचार्य शुक्ल को अनेक सन्दर्भों में याद किया है। यह दूसरी बात है कि जब वे आचार्य द्विवेदी के साथ उनका स्मरण करते हैं तो उन्हें उनकी काव्य-दृष्टि और इतिहास-दृष्टि संकुचित दिखाई पड़ती है और जब अलग से पूरे हिन्दी साहित्य के विकास-क्रम में विचार करते हैं तो उन्हें 'विश्वप्रपंच की भूमिका' "उस युग को ही नहीं, बल्कि आज के युग को देखते हुए भी दार्शनिक विवेचन का अप्रतिम निबन्ध प्रतीत होती है।"[14] और शुक्ल जी की रसानुभूति की "यथार्थवादी धारणा काव्यशास्त्र ही नहीं, सौन्दर्यशास्त्र के लिए भी क्रान्तिकारी"[15] लगने लगती है। १९८३ ई० में संपादित "चिन्तामणि—३" की भूमिका में उन्होंने अनेक स्थलों पर शुक्ल जी के आलोचक व्यक्तित्व के वैशिष्ट्य को सराहना की है। सम्भव है, आचार्य शुक्ल की ग्रंथावली के संपादक डॉ० नामवर सिंह ग्रंथावली की भूमिका के रूप में आचार्य की हिन्दी में प्रतिष्ठित गरिमामयी मूर्ति के सम्बन्ध में कुछ विशेष कहकर उसके महत्त्व का प्रतिपादन करें।

यह हम कह चुके हैं कि १९५५ तक आते-आते वाजपेयी जी शुक्ल जी के व्यापक महत्व को स्वीकार करने लगे थे। उनके बाद भाववादी विचारकों के एक शुद्ध अध्यात्मवादी वर्ग ने भले ही शुक्ल जी के रस-चिन्तन को स्वीकार न किया हो, किन्तु मार्क्सवाद के प्रभाव-क्षेत्र के बाहर के अनेक साहित्यकार उनके विचारों का महत्त्व बराबर स्वीकार करते रहे। इस परम्परा में बाबू गुलाबराय, आचार्य शिवनाथ मिश्र, कृष्णशंकर शुक्ल, डॉ० देवराज, डॉ० भगीरथ मिश्र जैसे विद्वानों का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इस क्रम में डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। उन्होंने आचार्य शुक्ल के लोकमंगल के सिद्धान्त की विस्तृत विवेचना करते हुए न केवल उसके विरुद्ध वाजपेयी जी द्वारा उठाई गई शंकाओं का समाधान किया है, वरन् नामवर सिंह द्वारा निर्दिष्ट की गई सीमाओं का अनौचित्य भी प्रतिपादित किया है।"[16]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम विश्वासपूर्वक कह सकते हैं कि परवर्ती हिन्दी-आलोचना के मार्क्सवादी और गैर-मार्क्सवादी दोनों खेमों में शुक्ल जी का महत्त्व अपनी-अपनी सीमाओं में स्वीकार किया गया है।

हम आरम्भ में कह आए हैं कि आचार्य शुक्ल के कार्य की तीसरी दिशा है—काव्य-कृतियों एवं प्रवृत्तियों का विवेचन। इस दिशा में आचार्य शुक्ल की सर्वोत्तम उपलब्धि है जायसी के 'पद्मावत' की समीक्षा। इस समीक्षा में आचार्य शुक्ल ने 'पद्मावत' में अन्तर्निहित विचारधारा को लक्षित किया है। उसकी ऐतिहासिक-सांस्कृतिक पीठिका का विस्तार से विवेचन किया है और काव्य-भाषा के विश्लेषण द्वारा उसके भाव-सौन्दर्य को उभार कर सामने रखा है। शुक्ल जी के बाद 'नवलेखन' और 'नयी कविता' के आन्दोलन के समानान्तर क्रमशः काव्य-भाषा के विश्लेषण की प्रवृत्ति बढ़ने लगी। 'नयी समीक्षा' को प्रतिष्ठा के साथ विचारधारा और ऐतिहासिक परिवेश दोनों का अध्ययन उपेक्षित हुआ। शैली-वैज्ञानिक आलोचना और संरचनावादी आलोचना ने भी भाषिक-विश्लेषण को सर्वाधिक महत्त्व दिया। लेकिन इन समीक्षा-पद्धतियों के अन्तर्गत काव्य-कृतियों की समीक्षा करते हुए भी आचार्य शुक्ल को ही बार-बार याद किया। इसका कारण यही था कि प्राचीन भारतीय समीक्षा के अन्तर्गत 'अलंकार',

'वक्रोक्ति' और 'ध्वनि' ऐसे सम्प्रदाय थे जिनमें भाषिक विश्लेषण को पर्याप्त महत्त्व दिया गया था। शब्द-शक्तियों के विवेचन के सहारे काव्य के लक्ष्यार्थ एवं व्यंग्यार्थ तक पहुँचने की प्रक्रिया का विश्लेषण किया गया था। काव्यार्थ तक पहुँचने के लिए आधुनिक शैली-विज्ञान और संरचनावादी विवेचन से कहीं अधिक ठोस पद्धति का विकास भारतीय शब्दशक्ति मीमांसा में किया जा चुका था। आचार्य शुक्ल जायसी, घनानंद और छायावादी कवियों के काव्य का विवेचन करते हुए बानगी के तौर पर काव्यार्थ तक पहुँचने के लिए शब्द-शक्तियों का प्रयोग कर चुके थे। वे इस पद्धति को विकसित करना चाहते थे। यदि वे कुछ दिन और जीवित रहे होते तो निश्चित रूप से शब्द-शक्तियों के विवेचन से काव्य-सौन्दर्य के उद्घाटन की युगानुकूल कोई नई पद्धति अवश्य विकसित करते। कुछ भी हो, नयी समीक्षा और शैली-वैज्ञानिक समीक्षा के संदर्भ में आचार्य शुक्ल को कई बार स्मरण किया गया है। आलोचना में प्रकाशित साहित्यिक शैली-विज्ञान-विषयक लेखमाला की दूसरी किश्त में डॉ० रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव आचार्य शुक्ल को स्मरण करते हुए कहते हैं—"साहित्यिक सर्जनात्मक आलोचना का एक प्रमुख कार्य यह भी है कि वह प्रत्यक्ष के दृष्टान्तपरक संसार के आधार पर परोक्ष कला-रूप को उद्भासित करे। आचार्य शुक्ल ने इसे 'सामान्य' और 'विशेष' की शब्दावली में इन शब्दों में व्यक्त किया है— भारतीय काव्य-दृष्टि भिन्न-भिन्न विशेषों के भीतर से 'सामान्य' के उद्घाटन की ओर बराबर रही है। किसी न किसी 'सामान्य' के प्रतिनिधि होकर ही 'विशेष' हमारे यहाँ काव्यों में आते रहे हैं।"[१७] यही नहीं, डॉ० सियाराम तिवारी ने तो 'आचार्य शुक्ल की आलोचना में नयी आलोचना के तत्त्वों की खोज' करते हुए बताया है कि 'नयी आलोचना' में काव्य-भाषा की जो सात विशेषतायें—**बिम्बात्मकता, वक्रता, विरोधाभास, अर्थ के विभिन्न स्तर, सम्पृक्तार्थों का टकराव, प्रतीक-विधान** और **व्यंग्योक्ति**—मानी जाती हैं, उनमें चार—बिम्ब, वक्रता, अर्थ के विभिन्न स्तर तथा विरोधाभास का उल्लेख शुक्ल जी काव्य-भाषा के अपने विवेचन-क्रम में पहले ही कर चुके हैं। अपना निष्कर्ष देते हुए वे कहते हैं—"निष्कर्ष यह है कि नयी आलोचना में स्वीकृत काव्य-भाषा की अधिकांश एवं आवश्यक विशेषताएँ रामचन्द्र शुक्ल को भी स्वीकार हैं।"[१८] काव्य-भाषा के विश्लेषण क्रम में विकसित 'संरचनावाद' के संदर्भ में आचार्य शुक्ल को स्मरण किया गया है या नहीं, मैं नहीं जानता, किन्तु कृति-विशेष की संरचनाओं के विश्लेषण में यदि कभी संरचनावादी समीक्षक शब्द-शक्तियों का उपयोग करेंगे तो आचार्य शुक्ल की चर्चा अवश्य की जायगी। तात्पर्य यह कि आज की नवीनतम समीक्षा-पद्धतियों के बीज आचार्य शुक्ल के काव्य-भाषा-विषयक चिन्तन में मिल जाता है। यह आकस्मिक नहीं है कि 'सर्जन और भाषिक संरचना' नामक अपनी पुस्तक में रामस्वरूप चतुर्वेदी ने ब्रिम्ब-विधान की चर्चा करते हुए आचार्य शुक्ल को बार-बार स्मरण किया है। हिन्दी कविता के विकास-क्रम मे मध्यकालीन कवियों की चर्चा करते हुए वे कहते हैं—"जायसी और सूर की बिम्बग्राहिणी शक्ति की आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने सही सराहना की है।"[१९] आगे वे फिर कहते हैं—"इस प्रसंग में बिम्ब-विधान से सम्बद्ध शुक्ल जी की मान्यता उद्धृत करना उचित होगा—काव्य में बिम्ब-स्थापना (Imagery) प्रधान वस्तु है। वाल्मीकि, कालिदास आदि प्राचीन कवियों में यह पूर्णता को प्राप्त है। अंग्रेजी कवि शैली इसके लिए प्रसिद्ध हैं।"[२०] 'बिम्ब' शब्द आचार्य शुक्ल को भारतीय काव्यशास्त्र से ही प्राप्त हुआ था। डॉ० चतुर्वेदी कहते हैं—"बिम्ब भारतीय काव्यशास्त्र में न हो, कविता में है।" भारतीय काव्यशास्त्र में 'बिम्ब' पर स्वतन्त्र चिन्तन तो नहीं है, किन्तु उसकी अवधारणा के बीज अलंकारशास्त्र में विद्यमान हैं। 'दृष्टान्त' अलंकार की

परिभाषा है—'दृष्टान्तस्तु सधर्मस्य वस्तुतः प्रतिबिम्बनम् ।' यदि उपमेय-उपमान में बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव हो तो दृष्टान्त अलंकार होता है। इसी प्रकार 'निदर्शना' अलंकार में भी दो वाक्यार्थों के परस्परान्वय में 'बिम्ब-प्रतिबिम्ब-भाव' की झलक होती है। वस्तुतः ये अलंकार वस्तु-सौन्दर्य के गोचर प्रत्यक्षीकरण के लिए प्रयुक्त होते हैं। आचार्य शुक्ल ने 'गोचर प्रत्यक्षीकरण' और 'बिम्ब-स्थापना' शब्दों का प्रयोग जायसी के काव्य-सौन्दर्य पर विचार करते हुए ही किया है। वास्तविकता तो यह है कि 'काव्य-भाषा' शब्द जो आज इतना प्रचलित है, पहली बार आचार्य शुक्ल द्वारा ही प्रयुक्त हुआ है। उन्होंने इसका प्रयोग मध्यकाल में काव्य-रचना के लिए स्वीकृत भाषा के अर्थ में किया है जिसका ढांचा पश्चिमी था, किन्तु जो ब्रजमंडल से गुजरात तक सारे उत्तरापथ में प्रचलित थी। उसके बाद 'कविता की भाषा' शब्द का प्रयोग उन्होंने काव्य-भाषा की विशेषताओं को लक्षित करने के लिए किया है। किसी भी कवि की समीक्षा करते हुए आचार्य शुक्ल भाषा-पक्ष का विवेचन अवश्य करते हैं। उन्होंने काव्य के वस्तु-पक्ष के मूल्यांकन के लिए ही नहीं, भाषा-पक्ष के मूल्यांकन के लिए भी शब्द रचे हैं। 'गोचर प्रत्यक्षीकरण', 'बिम्ब-विधान', 'संश्लिष्ट-योजना', 'सांकेतिक-भाषा', 'मूर्ति-विधान', 'जाति-संकेत वाले शब्द', 'व्यापारसूचक शब्द', 'कार्यबोधक शब्द', इस प्रकार के विशिष्ट शब्द-प्रयोगों से उन्होंने भाषागत विशेषताओं को स्पष्ट किया है। यहाँ एक बात और विचार करने की है। आचार्य शुक्ल द्वारा विवेचित भाषागत वैशिष्ट्य का सूत्र पकड़ कर हम कवि-विशेष या प्रवृत्ति-विशेष की अन्तर्वर्ती प्राणधारा तक पहुँच सकते हैं। उदाहरण के लिए रीति-मुक्त कवि घनानन्द और छायावादी कवि पन्त और प्रसाद की काव्य-भाषा का विवेचन करते हुए शुक्ल जी ने उसमें लक्षणा के चमत्कार की विशिष्ट प्रवृत्ति का निदर्शन किया है। 'लक्षणा' एक प्रकार से विचलन ही है। इसके द्वारा भी अभिधेय अर्थ से हटकर एक सर्जनात्मक चामत्कारिक अर्थ लिया जाता है। लक्षणा का अधिक प्रयोग तथा भावगर्भित उक्ति-चमत्कार विशेष रूप से उन कवियों में मिलता है जो जीवन की बँधी हुई धारा से हटकर उन्मुक्त या स्वच्छन्द जीवन के आकांक्षी रहे हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि भाषिक विश्लेषण के क्षेत्र में भी शुक्ल जी की पकड़ बहुत गहरी है और उसमें आधुनिक भाषिक विश्लेषण के बीज लक्षित किए जा सकते हैं।

उपर्युक्त समस्त विवेचन के आधार पर हम कह सकते हैं कि शुक्लोत्तर हिन्दी-समीक्षा के प्रत्येक प्रवाह का मूल उत्स शुक्ल जी की समीक्षा में विद्यमान है। इसलिए नवीनता के उन्मेष में उनका थोड़ा विरोध करने के बाद या उनसे अपना प्रस्थान-भेद प्रकट करने के बाद कालान्तर में हर प्रवाह के उन्नायक ने उनका महत्त्व स्वीकार कर लिया है। १९४१ से लेकर आज तक हिन्दी-आलोचना के विकास के केन्द्र में सर्वाधिक चर्चित व्यक्ति आचार्य शुक्ल ही रहे हैं। किसी एक प्रवृत्ति या दृष्टि को लेकर भले ही कोई समीक्षक या विचारक उनसे थोड़ा आगे बढ़ गया हो, किन्तु समग्र दृष्टि से देखा जाय तो उनके बाद के समीक्षकों ने सामान्यतः विदेशों में प्रचलित समीक्षा-पद्धति-विशेष का हिन्दी पाठकों को परिचय मात्र कराने की चेष्टा की है। आलोचना की कोई संश्लिष्ट पद्धति विकसित कराने की चेष्टा नहीं हुई है। इस दृष्टि से आचार्य शुक्ल का व्यक्तित्व आज भी अप्रतिम है।

## संदर्भ-संकेत

१, हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास, त्रयोदश भाग, पृ० २४६। २. हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास, त्रयोदश खण्ड, पृ० २४८। ३. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ५३३। ४. हिन्दी नवलेखन, पृ० १७। ५. हिन्दी साहित्य : बीसवी शताब्दी, पृ० ८६। ६. हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी, पृ० ७१। ७. आलोचक की आस्था, पृ० २। ८. आस्था के चरण। ९. नया साहित्य : नये प्रश्न, पृ० २६। १०. वही, पृष्ठ, २२७। ११. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना, तृतीय संस्करण की भूमिका, पृ० २६। १२. यथार्थवाद, पृ० १९२-९३। १३. हिन्दी आलोचना का विकास, पृ० १५७। १४. चिन्तामणि—३, भूमिका, पृ० २०। १५. वही, पृ० १०। १६. देखिये—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जन्मशती संगोष्ठी के अवसर पर हिन्दी साहित्य सम्मेलन में पढ़ा गया निबन्ध, १२ मई, १९८४ ई०। १७. आलोचना, ४७, पृ० २९। १८. आलोचना, ५८, पृ० ३०। १९. सर्जन और भाषिक संरचना, पृ० ५७। २०. वही, पृ० ५८।

●

सरस्वती सदन,
बेतिया हाता,
गोरखपुर

# आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का कथालोचन

●

डॉ० वेदप्रकाश अमिताभ

आचार्य शुक्ल की ख्याति मुख्यतः "कविता" के आलोचक के रूप में है। आदिकाल से लेकर छायावाद तक की हिन्दी कविता पर उन्होंने न केवल साधिकार लिखा है, बल्कि बहुत-सी मौलिक और विचारोत्तेजक स्थापनाएँ की हैं। रसवादी आलोचक होते हुए भी उन्होंने काव्यानुभूति को प्रत्यक्षानुभूति से जोड़ा है[१], न कि लोकोत्तर अनिर्वचनीय अनुभूति से। उनका काव्यालोचन आज भी पर्याप्त प्रासंगिक है। उनका हिन्दी समीक्षा में वही स्थान माना गया है जो रूसी जनवादी समीक्षा में बैलिस्की, चेर्नीशेव्स्की और दोब्रोल्युबोव का था।[२] अपने काव्यालोचन के सामर्थ्य का उपयोग शुक्ल जी ने कथा-साहित्य को जाँचने में भी किया है। छुटपुट पुस्तक समीक्षाओं को जाने दें तो कथालोचन की शुरुआत रामचन्द्र शुक्ल से ही होती है। यह शुरुआत सतही न होकर तलस्पर्शी और ठोस है।

उपन्यास को आज प्रायः "केन्द्रीय" विधा कहकर सम्मानित किया जाता है। शुक्ल जी ने काफी पहले उपन्यास की शक्ति को पढ़ लिया था। इस संदर्भ में उनका एक लम्बा उद्धरण अप्रासंगिक न होगा—

"समाज जो रूप पकड़ रहा है, उसके भिन्न वर्गों में जो प्रवृत्तियाँ उत्पन्न हो रही हैं, उपन्यास उनका विस्तृत प्रत्यक्षीकरण ही नहीं करते, आवश्यकतानुसार उसके ठीक विन्यास, सुधार अथवा निराकरण की प्रवृत्ति भी उत्पन्न कर सकते हैं। समाज के बीच खान-पान के व्यवहार में जो भद्दी नकल होने लगी है—गर्मी के दिनों में भी सूट-बूट कसकर टेबुलों पर जो प्रीतिभोज होने लगा है—उसको हँसकर उड़ाने की सामर्थ्य उपन्यासों में ही है। लोक या किसी जनसमाज के बीच काल की गति के अनुसार जो मूढ़ और चिन्त्य परिस्थितियाँ खड़ी होती रहती हैं, उनको गोचर रूप में सामने लाना और कभी-कभी विस्तार का मार्ग भी प्रत्यक्ष करना उपन्यासों का काम है।"[३]

इस उद्धरण में एक ओर उपन्यास की जीवन-व्यापिनी शक्ति को रेखांकित किया गया है, दूसरी ओर विसंगतियों के उन्मूलन में उसकी रचनात्मक भूमिका के प्रति आश्वस्ति का भाव व्यक्त हुआ है। "देश की सामान्य जनता के गार्हस्थ और पारिवारिक जीवन" के मार्मिक और सच्चे चित्रों से युक्त उपन्यास शुक्ल जी को प्रिय थे। जीवन के सच्चे स्वरूप पर बहुत बल देकर वे यथार्थवादी जनधर्मी उपन्यासों की उस परम्परा को अपना स्पष्ट समर्थन देते हैं जो लाला श्रीनिवासदास से शुरू होकर प्रेमचन्द तक व्यापक हो चली थी। प्रेमचन्द की प्रशंसा का मुख्य आधार यही है कि उनके उपन्यासों में जीवन का बहुत सच्चा स्वरूप उभरा है। आधुनिकता से प्रभावित जीवन को सत्य मानते हुए भी वे अधिसंख्यक जनता के जीवन, रहन-सहन, खानपान आदि के चित्रण के पक्ष में थे : "देश के असली सामाजिक और घरेलू जीवन को दृष्टि से ओझल करना हम अच्छा नहीं समझते।"[४] सामाजिक-राजनीतिक हलचलों, आन्दोलनों आदि की अभिव्यक्ति के कायल होते हुए भी वे इनकी मुखरता या बहुत स्पष्टता के समर्थक नहीं हैं। उन्हें लगता है, ऐसे स्थलों पर उपन्यासकार का रूप दब जाता है और प्रचारक का रूप उभर आता

है।[५] इस वक्तव्य का मंतव्य यही है कि राजनीतिक उद्धार या समाज-सुधार की बातें वर्जित नहीं हैं, लेकिन वे रचना का अंग बनकर आनी चाहिए। शुक्ल जी ने एक अन्य स्थान पर लिखा है—"···हमारे निपुण उपन्यासकारों को केवल राजनीतिक दलों द्वारा प्रचारित बातें लेकर ही न चलना चाहिए, वस्तुस्थिति पर अपनी व्यापक दृष्टि भी डालनी चाहिए।"[६] देश के वर्तमान जीवन के भीतर अपनी दृष्टि गड़ाकर उपन्यासकार देख सकता है कि किस प्रकार राज्य-कर्मचारियों का इतना बड़ा चक्र ग्रामवासियों के सिर पर चलता है, किस प्रकार छोटे और बड़े किसान व्यापारियों के हाथों लूटे जाते हैं।"[७]

कहानी के सम्बन्ध में शुक्लजी का विचार था कि मौजूदा कहानियों में एक संवेदना या एक मनोभाव का सिद्धान्त हमेशा लागू नहीं होता। "उसके स्थान पर हमें मार्मिक परिस्थिति की एकता मिलेगी जिसके भीतर कई ऐसी संवेदनाओं का योग रहेगा जो सारी परिस्थिति को बहुत ही मार्मिक रूप दे देगा।"[८] कहानी कैसी भी हो, रमणीयता और मार्मिकता उससे अपेक्षित है। "उसने कहा था" उन्हें इसलिए भी अच्छी लगती है कि इसमें सादे ढंग से केवल कुछ अत्यन्त व्यंजक घटनाएँ और थोड़ी बातचीत सामने लाकर क्षिप्र गति से उनका पर्यवसान एक गम्भीर संवेदना या मनोभाव में हुआ है।[९] आधुनिक कहानी और प्राचीन कहानी के अन्तर को आचार्य शुक्ल ने भली-भाँति समझा है। पुराने ढंग की कहानियों में कथा का प्रवाह अखंड गति से एक ओर चला चलता था जिसमें घटनाएँ पूर्वापर क्रम से जुड़ती सीधी चली जाती थीं। आधुनिक कहानी में घटनाओं की शृंखला लगातार सीधी न जाकर इधर-उधर और शृंखलाओं से गुंफित होती चलती है। घटनाओं के विन्यास की यही वक्रता या वैचित्र्य आधुनिक कहानी की वह प्रत्यक्ष विशेषता है जो उन्हें पुरानी कहानियों से अलग करती है।[१०]

शुक्लजी के विचार में आधुनिक संवेदना और विन्यास की कहानियाँ हिन्दी में सन् १९०० के आसपास लिखी जाने लगीं। नयेपन की दृष्टि से रानी केतकी की कहानी या राजा भोज का सपना आदि रचनाएँ आश्वस्त नहीं करतीं। "उपर्युक्त दृष्टि से यदि हम देखें तो इंशा की रानी केतकी की बड़ी कहानी न आधुनिक उपन्यास के अन्तर्गत आयेगी, न राजा शिवप्रसाद का "राजा भोज का सपना" या "वीरसिंह का वृत्तान्त" आधुनिक छोटी कहानी के अन्तर्गत।[११]

उन्होंने हिन्दी की पहली कहानी और हिन्दी के पहले उपन्यास के सम्बन्ध में विस्तार से विचार किया है। कुछ कहानियों के नाम गिनाते हुए उन्होंने तीन कहानियों में से किसी एक को "पहली" होने का श्रेय देना चाहा है। उनके अनुसार—

"इनमें यदि मार्मिकता की दृष्टि से भावप्रधान कहानियों को चुनें तो तीन मिलती हैं—'इन्दुमती', 'ग्यारह वर्ष का समय' और 'दुलाई वाली'। यदि 'इन्दुमती' किसी बंगला कहानी की छाया नहीं है तो हिन्दी की यही पहली मौलिक कहानी ठहरती है। इसके उपरान्त 'ग्यारह वर्ष का समय', फिर 'दुलाई वाली' का समय आता है।[१२] कुछ आलोचकों को शुक्ल की इस स्थापना में चालाकी की गंध आती है। उन्हें लगता है, 'इन्दुमती' को अनूदित करार देकर वे अपनी कहानी को प्रथम होने का श्रेय देना चाहते हैं। बहरहाल इन तीनों कहानियों में से आज कोई भी 'पहली' नहीं मानी जाती। निरन्तर शोध के फलस्वरूप 'सुभाषित-रत्न' (माधवराव सप्रे), 'मन की चंचलता' (माधवप्रसाद मिश्र), 'एक टोकरी भर मिट्टी' (माधवराव सप्रे) आदि कई कहानियाँ सामने आयी हैं जो हिन्दी की पहली कहानी मानी जाने के लिए दावेदार हैं। इधर ईसाई मिशनरियों की कुछ कहानियों को देखकर लगता है कि धर्मप्रचार के उद्देश्य के बावजूद वे आधुनिक अर्थ में कहानी हैं। जब तक कोई और कहानी प्राप्त न हो, तब तक रै० जे० न्यूटन

कृत 'जमींदार का दृष्टान्त' (१८७१ ई०) को हिन्दी की पहली कहानी माना जा सकता है।[१३] शुक्लजी के इतिहास से साफ लगता है कि वे मिशनरियों के साहित्य से परिचित थे। सम्भव है, कहानियों में धर्मप्रचार का उत्कट आग्रह देखकर उन्होंने उनकी उपेक्षा की हो। जो भी हो, आज पहली कहानी-सम्बन्धी शुक्लजी का अभिमत मान्य नहीं रह गया है।

शुक्लजी के 'पहला उपन्यास' सम्बन्धी अभिमत को भी कई चुनौतियाँ झेलनी पड़ी हैं। डॉ० गोपाल, डॉ० श्रीकृष्णलाल आदि ने 'निस्सहाय हिन्दू' और 'चन्द्रकांता' को पहला उपन्यास सिद्ध किया है। लेकिन ऐसे आलोचकों की संख्या खासी है जो शुक्लजी की इस मान्यता को मानते हैं कि 'परीक्षागुरु' (श्रीनिवासदास) अँग्रेजी ढंग का पहला मौलिक उपन्यास है।[१४] शुक्ल जी ने 'परीक्षागुरु' को पहला उपन्यास मानते हुए भी देवकीनन्द खत्री को हिन्दी का पहला उपन्यासकार माना है। इसके लिए उनका तर्क पर्याप्त वजनदार है। "और लोगों ने भी मौलिक उपन्यास लिखे, पर वे वास्तव में उपन्यासकार न थे। और चीजें लिखते-लिखते वे उपन्यास की ओर भी जा पड़ते थे। पर गोस्वामी जी वहीं घर करके बैठ गये।"[१५] खत्री जी के इस ऐतिहासिक प्रदेय को उन्होंने प्रशंसा की दृष्टि से देखा है कि उनकी कृतियों को पढ़ने के लिए बहुतों ने हिन्दी सीखी।

उपन्यास हो या कहानी, शुक्लजी अपेक्षा करते हैं कि उसमें लोकसंग्रह के भाव के साथ नैतिक मर्यादाएँ भी सुरक्षित रहेंगी। खत्री जी की कृति 'चपला' उन्हें अखरती है क्योंकि उसमें उच्च वासनाएँ व्यक्त करने वाले दृश्यों की अपेक्षा निम्न कोटि की वासनाएँ प्रकाशित करने वाले दृश्य अधिक हैं। इसके विपरीत 'उसने कहा था' की प्रशंसा जिन आधारों पर की गयी है, उनमें एक यह भी है कि उसमें सुरुचि की चरम मर्यादा के साथ प्रेम का पवित्र रूप है। "कहानी भर में कहीं प्रेम की निर्लज्ज प्रगल्भता, वेदना की वीभत्स विवृति नहीं है। सुरुचि के सुकुमार से सुकुमार स्वरूप पर कहीं आघात नहीं पहुँचता।"[१६]

अतः प्रकृति या शील के उत्तरोत्तर उद्‌घाटन के कौशल से युक्त उपन्यास की वे सराहना करते हैं।

उपन्यास-कहानी के ढाँचे पर विचार करते समय शुक्लजी की वैचारिकता पाश्चात्य अवधारणाओं और भारतीय मान्यताओं के समन्वय पर केन्द्रित है। वे मानते हैं कि कहानी और उपन्यास पाश्चात्य देन हैं। लेकिन पश्चिम के अंधानुकरण के वे जबर्दस्त विरोधी हैं। पाश्चात्य मान्यता के अनुसार, छोटी कहानी में चरित्र-विकास की गुंजाइश नहीं होती। लेकिन शुक्लजी 'भाई साहब' (प्रेमचन्द) के साक्ष्य से दिखाते हैं कि कहानी में चरित्र-विकास सम्भव है।[१७] इसी प्रकार उपन्यास से काव्यत्व के एकदम बहिष्कार के पक्ष में वे नहीं हैं। "योरप उसे छोड़ रहा है, छोड़ दे। यह कुछ आवश्यक नहीं कि हम हर एक कदम उसी के पीछे-पीछे रक्खें।"[१८] कहानी के सन्दर्भ में भी उनका कहना है : "उनके इतने रूप-रंग हमारे सामने आये हैं कि वे सबके सब अब पाश्चात्य लक्षणों और आदर्शों के भीतर नहीं समा सकते।"[१९]

कथाकृतियों की भाषा, वाक्य-विन्यास, कथा-संगठन आदि पर शुक्ल जी की दृष्टि बराबर रही है। इंशाअल्ला खाँ की चटकीली, मटकीली, चलती और मुहावरेदार भाषा उन्हें वहाँ विशेषतः आकृष्ट करती है जहाँ उन्होंने 'प्यारी घरेलू ठेठ भाषा' का व्यवहार किया है। 'परीक्षा-गुरु' की संयत और साफ-सुथरी भाषा उन्हें पसंद है, लेकिन वाक्य-विन्यास की विचित्रता से वे सहमत नहीं होते। "ऊपर के उद्धरण में अंग्रेजी उपन्यासों के ढंग पर भाषण के बीच में या अंत में 'अमुक ने कहा', 'अमुक कहने लगे' ध्यान देने योग्य है। खैरियत हुई कि इस प्रथा का

अनुसरण हिन्दी के उपन्यासों में नहीं हुआ।"[२०] देवकीनन्दन खत्री के कुछ उपन्यासों में उर्दू-बहुलता को उन्होंने अरुचिपूर्वक 'मार्क' किया। इस भाषागत कृत्रिमता को वे मँगनी का लिबास मानते हैं : "उर्दू जबान और शेर-सखुन की बेढंगी नकल से, जो असल से कभी-कभी साफ अलग हो जाती है, उनके बहुत से उपन्यासों का साहित्यिक गौरव घट गया है। गलत या गलत मानी में लाये हुए शब्द भाषा को शिष्टता के दरजे से गिरा देते हैं। खैरियत यह हुई कि अपने सब उपन्यासों को आपने यह मँगनी का लिबास नहीं पहनाया।"[२१]

यद्यपि उपन्यासों-कहानियों पर शुक्लजी ने बहुत नहीं लिखा है, लेकिन जो कुछ लिखा है, वह स्पष्ट और सुचिन्तित है। उनके निष्कर्ष दो-टूक होते हैं। हरिऔध और लज्जाराम मेहता पर उनकी टिप्पणी है : "ये दोनों महाशय वास्तव में उपन्यासकार नहीं। उपाध्याय जी कवि हैं और मेहता जी पुराने अखबार-नवीस।" प्रेमचन्द की भाषा पर उनका स्पष्ट मत है : "प्रेमचन्द की-सी चलती और पात्रों के अनुरूप रंग बदलने वाली भाषा भी पहले नहीं देखी गयी थी।" स्पष्ट अभिव्यंजना के चलते शुक्ल जी की कथा-समीक्षा न केवल विश्वसनीय हुई है, अपितु प्रभावशील भी। ऐतिहासिक उपन्यासों पर उनका विवेचन इस सन्दर्भ में खास तौर पर उल्लेखनीय है।

इस तमाम विवेचन से इस नतीजे पर पहुँचना मुश्किल नहीं है कि शुक्ल जी ने हिन्दी कथालोचन की नींव जिन प्रतिमानों पर रखी है, वे उनकी जनधर्मी समीक्षा के सुपरिचित औजार हैं। लेकिन कथा-समीक्षा में वर्णाश्रम धर्म के प्रति सम्मान-जैसी पुनरुत्थानवादी दृष्टि कहीं नहीं उभरती। वे मार्क्सवादी नहीं हैं, लेकिन जनधर्मिता उनमें भरपूर है। उनके एक उद्धरण को प्रकाशचंद्र गुप्त ने गलत समझा है और लिखा है : "लेखक का आग्रह है कि जमींदार भी शोषित वर्ग है और उसकी दारुण अवस्था पर उपन्यासकार आँसू बहाये। इस कोटि के साहित्य-मर्मज्ञ से ऐसे रूढ़िबद्ध विचार पाकर आश्चर्य-चकित होना पड़ता है।"[२२] शुक्लजी के जिस अवतरण को प्रकाशचंद्र गुप्त ने लिया है, उसके तुरंत बाद शुक्ल जी ने स्पष्ट किया है कि जमींदारों से उनका आशय ९८ प्रतिशत साधारण भूस्वामियों से है, न कि दो प्रतिशत बड़े-बड़े तालुकदारों से।[२३] इसी तरह चंचल चौहान ने उनकी सीमाओं की चर्चा करते हुए लिखा है कि अतीत उनके लिए यथार्थ था, वर्तमान अंधा बनाने वाला था।[२४] शुक्लजी ने उपन्यास से यह स्पष्ट अपेक्षा की है कि वह समाज के बदलते रूप का विस्तृत प्रत्यक्षीकरण कराये : "...हमारे उपन्यासकारों को देश के वर्तमान जीवन के भीतर अपनी ही दृष्टि गड़ाकर आप देखना चाहिए...।"[२५] यहाँ स्वानुभूति के साथ-साथ वर्तमान को पढ़ने-आँकने का आग्रह स्पष्ट है। वस्तुतः आचार्य शुक्ल जी की कथा-समीक्षा जिस मार्ग पर चली है, वह अतीत में सिर छिपाने या पलायन करने से जुड़ा हुआ नहीं है, वे वैचारिक स्तर पर शोषक वर्ग से सम्बद्ध नहीं थे, जैसा कि कुछ प्रगतिशील समीक्षकों ने उन पर आरोप लगाया है। वे अपने कुछ अन्तर्विरोधों के बावजूद जनधर्मी समालोचक थे। उनकी विचार-पद्धति पर द्वन्द्ववाद का गहरा असर है।[२६] फलतः वे उन कलावादियों के विरोध में खड़े नजर आते हैं जिनके लिए शाश्वत सौन्दर्य और शुद्ध आनंद सब कुछ है। हिन्दी कथालोचन को सामान्य पुस्तक-परिचय की स्थिति से उठाकर वस्तुनिष्ठ नीर-क्षीर विवेक तक पहुँचाने में शुक्ल जी का प्रदेय न केवल ऐतिहासिक है, अपितु सार्थक भी है।

**संदर्भ-संकेत**

१. बच्चन सिंह, आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० २९५। २. उत्तर गाथा, जनवरी-मार्च, १९८४, चंचल चौहान का लेख, पृ० ४१। ३. हिन्दी साहित्य का इतिहास,

तेरहवाँ पुनर्मुद्रण, पृ० ५१३। ४. वही, पृ० ५१४। ५. वही, पृ० ५१९। ६. वही, पृ० ५१२। ७. वही, पृ० ५१२। ८. वही, पृ० ५१९। ९. वही, पृ० ५२०। १०. वही, पृ० ४८०। ११. वही, पृ० ४८१। १२. वेदप्रकाश अमिताभ, हिन्दी कहानी : एक अन्तर्यात्रा, पृ० १२। १३. प्रसंगवश, उपन्यास विशेषांक—१, पृ० १३। १४. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ४७७। १५. वही, पृ० ४८१-८२। १६. वही, पृ० ५१६। १७. वही, पृ० ५१७। १८. वही, पृ० ५१९। १९. वही, पृ० ४५२। २०. वही, पृ० ४७७-७८। २१. आचार्य रामचंद्र शुक्ल, (संपादित), पृ० २७। २२. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ५१२। २३. उत्तरगाथा, जनवरी-मार्च, १९८४, पृ० ३७। २४. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ५१२। २५. लोकजीवन और साहित्य, पृ० ८।

●

द्वारकापुरी,
अलीगढ़

# आचार्य शुक्लजी की रीतिकाव्य-विषयक मान्यताएँ

●

डॉ० किशोरीलाल

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी के ऐसे प्रबल एवं वस्तुनिष्ठ प्रतिभा-सम्पन्न आलोचक थे जिनके निष्कर्षों और दिये गये निर्णयों के समक्ष प्रश्नवाचक चिह्न लगाना बहुत आसान नहीं है। उनकी पैनी और सजग आलोचनात्मक दृष्टि ने साहित्य की जिन विधाओं का संस्पर्श किया, उन्हें बहुत गहराई के साथ टटोला और ऐसे बहुत कम तथ्य अछूत रह गये जिन पर फिर से विचार किया जाय। रीतिकाव्य के सम्बन्ध में भी बहुत कुछ यही बात चरितार्थ होती है और उनकी रीतिकाव्य-विषयक मान्यताएँ आज भी हिमालय की भाँति अटल और अडिग हैं। रीतिकाव्य के स्वरूप के सम्बन्ध में उनकी तीन मान्याताएँ थीं—

(१) रीति युग के कवियों में शास्त्रनिष्ठ प्रतिभा का अभाव था।

(२) रीति कवियों ने प्रकृति की अनेकरूपता, जीवन की भिन्न-भिन्न चिन्त्य बातों तथा जगत् के नाना रहस्यों पर दृष्टि नहीं डाली।

(३) व्याकरणोचित भाषा और शब्दों के औचित्यपूर्ण प्रयोगों के प्रति ये कविगण प्रायः उदासीन थे।

रीतिकाव्य के स्वरूप का विवेचन करते समय आचार्य प्रवर ने जहाँ उक्त दोषों और खटकने वाले तथ्यों का उल्लेख किया है, वहीं रीतिकाव्य की सरसता, उक्तिगत भंगिमा, भाषा की लाक्षणिकता और शृंगार की कोमल भाव-व्यंजना की उन्होंने पदे-पदे सराहना भी की है। किन्तु शुक्लजी के लगाए गये उक्त आक्षेपों पर यदि फिर से विचार किया जाय तो लगेगा कि उन्होंने जिस कसौटी पर कस कर ऐसे निष्कर्ष निकाले हैं, वह कसौटी बहुत-कुछ ठीक है, परन्तु दूसरी कसौटी पर कस कर जब अन्य निष्कर्ष निकाले जाते हैं, तो वहीं शुक्लजी की मान्यताएँ बहुत कमजोर और लचर प्रतीत होती हैं। कहा जाता है कि शुक्लजी बड़े हठी और जिद्दी प्रकृति के साहित्यकार थे और शीघ्र किसी बात को स्वीकार नहीं करते थे, क्योंकि उनका अध्ययन, अनुशीलन और चिन्तन इतना अधिक था कि लोग उनके अमोघ तर्क-वाणों के सामने प्रायः ठहर नहीं पाते थे। इसी से आचार्य केशवदास को 'कवि-पंगति' में बैठाते आज के आलोचक सकुचाते हैं, क्योंकि आचार्य शुक्ल ने बहुत पहले उन्हें हृदयहीन घोषित करके एक सहृदय कवि की मण्डली से बहिष्कृत कर दिया था। आचार्य शुक्लजी ने रीतिकवियों में एक शास्त्रनिष्ठ प्रतिभा का अभाव देखकर ही कहा कि इन्हें कवि ही मानना चाहिए, ये आचार्य नहीं थे। उन्होंने केशव-दास और भूषण जैसे रीति आचार्यों द्वारा विवेचित काव्यशास्त्रीय मतों को बहुत पुष्ट और प्रमाणसिद्ध नहीं माना। यथा, शब्दशक्ति-विवेचन के संदर्भ में आचार्य दास पर विचार करते हुए उन्होंने लिखा है—"शब्द-शक्ति का विषय दास ने थोड़ा-सा लिया है, पर उससे उसका कुछ भी बोध नहीं हो सकता। 'उपादान लक्षणा' का लक्षण भी विलक्षण है और उदाहरण भी असंगत। उदाहरण से साफ झलकता है कि लक्षण का स्वरूप ही समझने में भ्रम हुआ है।"[१] अब

विचारणीय यह है कि क्या सचमुच आचार्य दास ने 'उपादान लक्षणा' की परिभाषा और उदाहरण देने में गलती की है अथवा आचार्य शुक्लजी की ही मेधा भ्रमित है? आचार्य दास ने काव्य-निर्णय में 'उपादान लक्षणा' की जो परिभाषा और उदाहरण दिया है, वह इस प्रकार है—

उपादान सो लक्षणा, परगुन लीन्हे होइ।
कुंत चलत सब जग कहै, नर बिनु चलै न सोइ ॥२८॥[२]

आचार्य दास ने यह लक्षण और परिभाषा आचार्य मम्मट कृत 'काव्यप्रकाश' से ग्रहण किया है। अब मम्मट द्वारा प्रस्तुत 'उपादान लक्षणा' की परिभाषा नीचे दी जा रही है जिससे दोनों अंशों के समझने में किसी प्रकार की कठिनाई न हो—

स्वसिद्धयेपराक्षेपः परार्थं स्वसमर्थणम्।
उपादानं लक्षणं चेत्युक्ता सुद्धैव सा द्विधा ॥१०

अर्थात्, शुद्धा लक्षणा दो प्रकार की होती है। एक का नाम उपादान लक्षणा और दूसरी का लक्षण लक्षणा है। उपादान लक्षणा वह है जो अपनी सिद्धि के लिए औरों का आक्षेप ग्रहण कर ले। लक्षण लक्षणा उसे कहते हैं जहाँ पर कोई शब्द अन्य अर्थ की सिद्धि के लिए अपने को समर्पण कर दे। 'कुन्ताः प्रविशन्ति', 'यष्टया प्रविशन्ति' इत्यादौ, अर्थात् भाले घुस रहे हैं और लाठियाँ पैठ रही हैं।[३]

इन दोनों अंशों को देखने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि आचार्य दास ने मम्मट के 'उपादान लक्षणा' विषयक लक्षण के अन्तर्गत मात्र 'स्वसिद्धये' शब्द को ग्रहण नहीं किया और सभी बातें मम्मट से पूर्णतया मेल खाती हैं, फिर आचार्य शुक्लजी को दास की यह परिभाषा दोषपूर्ण और उदाहरण असंगत कैसे प्रतीत हुआ? 'कुन्त चलत' और 'कुन्ताः प्रविशन्ति' में क्या असंगति है, स्पष्ट नहीं है। संस्कृत के आचार्यों का उल्लेख करते हुए शुक्लजी ने बताया कि जिस प्रकार की शास्त्रीय विवेचना और सूक्ष्म पर्यालोचना की शक्ति उनमें थी, वह हिन्दी आचार्यों में विरल है। लेकिन वहाँ यह भी सत्य है कि स्वयं संस्कृत के काव्यशास्त्रीय विवेचक एक-दूसरे से सहमत नहीं थे और पूर्ववर्ती आचार्यों की समीक्षा परवर्ती आचार्यों द्वारा सम्यक्रूपेण की जाती रही। यही नहीं, व्याख्या और कारिका द्वारा भी जिन सिद्धान्तों का सम्यक् स्फुरण और विकास नहीं हो सका तथा जो सिद्धान्त निर्विवाद ग्रहण नहीं किये जा सके, वहाँ हिन्दी आचार्यों की विवेचना-शक्ति पर अपूर्णता, अपरिपक्वता आदि का दोषारोपण कहाँ तक समीचीन है? आचार्य शुक्लजी ने हिन्दी आचार्यों को न तो व्याख्याता आचार्य माना और न नवीन उद्भावक, पर आचार्य दास ने जहाँ तुक-निर्णय का एक वैज्ञानिक वर्गीकरण प्रस्तुत किया और तद्विषयक नूतन और संस्कृत काव्यशास्त्रीय परम्परा से भिन्न परिपाटी का उद्घोष किया, वहाँ वे मौन क्यों हैं? और आश्चर्य यह भी है कि अपने इतिहास में शुक्लजी ने इसकी चर्चा भी नहीं की। सत्य तो यह है कि संस्कृत में 'ध्वनि सिद्धान्त' इतना जमकर बैठ गया कि उसके समक्ष अन्य सिद्धान्त कम ठहर सके, पर हिन्दी आचार्यों ने रसशास्त्र को मान्यता दी और ध्वनिशास्त्र को उसकी तुलना में स्वीकार नहीं किया। स्वयं देव रस-सिद्धान्त के प्रबल पोषक थे और रामसिंह ने रस को आधार बनाकर उत्तम, मध्यम और अधम काव्य की कोटियों का क्रम स्थापित किया। और गम्भीरता से विचार किया जाय तो स्पष्ट प्रतीत होगा कि जितना रस का, विशेषतया शृंगार का, उपबृंहण इस युग में हुआ, वह शायद संस्कृत में भी नहीं हुआ। अब आवश्यकता इस बात की है कि हिन्दी रीतिशास्त्र का मूल्यांकन पूर्णतया संस्कृत काव्यशास्त्र को आधार बनाकर न किया जाय, उसे हिन्दी की दृष्टि से यदि देखा जाय तो उसकी उपलब्धियों पर हम न्याय-संगत दृष्टि से विचार कर सकेंगे।

और उनके सम्बन्ध में लगाये गये आक्षेपों को भी संतुलित ढंग से समझ सकेंगे। रीतिकाव्य को शुक्लजी बहुत उच्चकोटि का काव्य नहीं मानते थे, उनकी दृष्टि काव्य में लोकमंगल-विधायक तत्त्वों तक इस प्रकार सपिंडित हो गई थी कि वे विशुद्ध काव्यात्मक धरातल को स्पर्श कर रची जाने वाली रचना को उदात्त काव्य नहीं मानते थे। उन्होंने आनन्द-मंगल तत्त्व के आधार पर काव्यों के दो विभाग स्वीकार किये हैं—

(१) आनन्द की साधनावस्था या प्रयत्न-पक्ष को लेकर चलने वाले।

(२) आनन्द की सिद्धावस्था या उपभोग-पक्ष को लेकर चलने वाले।

आनन्द की साधनावस्था के अन्तर्गत उन्होंने हिन्दी में रामचरितमानस, पद्मावत, हम्मीर-रासो, पृथ्वीराजरासो आदि प्रबन्ध-काव्यों को माना है। आनन्द की सिद्धावस्था या उपभोग-पक्ष की दृष्टि से सूरसागर आदि कृष्णकाव्य के साथ समस्त रीतिकाव्य की गणना की है। इससे सिद्ध हो जाता है कि शुक्लजी ने तुलसी जैसे भावुक, संवेदनशील और जीवन-जगत् के नाना रूपों के साथ रमने वाले कवियों को जितना महत्त्व दिया है, उतना शृंगार की कोमल-तरल अनुभूतियों को काव्य के चित्र-फलक पर सूक्ष्मरूपेण रेखांकित करने वाले कवियों को नहीं। पर पद्माकर, घनानन्द, ठाकुर और मतिराम आदि की काव्य-समीक्षा को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य शुक्ल इनके काव्य को बहुत स्वीकार न करते हुए भी यत्र-तत्र रचनागत सौष्ठव और उसकी प्रभविष्णुता से अपने को बचा नहीं सके। यथा, ठाकुर कवि के सम्बन्ध में शुक्लजी का अभिमत है—"ठाकुर बहुत ही सच्ची उमंग के कवि थे। इनमें कृत्रिमता का लेश नहीं। न तो कहीं व्यर्थ का शब्दाडम्बर है, न कल्पना की झूठी उड़ान और न अनुभूति के विरुद्ध भावों का उत्कर्ष। लगता है कि रीति युग के उन शृंगारिक मुक्तकों की शुक्लजी श्लाघा नहीं करते थे जो ऊहा के बल पर मजमून बाँधने का हौसला रखते थे, इसी से देव की इन्होंने ज्यादा प्रशंसा नहीं की। वस्तु-व्यंजना के बल पर चक्करदार ऊहापोह का सहारा लेने वाले प्रतापसिंह जैसे कवि को भी शुक्लजी पसन्द नहीं करते थे। वे तो घनानन्द और द्विजदेव की भाव-व्यंजना के साथ ही उनके सहज अभिव्यंजन-कौशल पर लट्टू थे। रीतिबद्ध पद्माकर की भावमूर्ति-विधायिनी कल्पना के वे मुक्त कंठ से प्रशंसक थे। यही नहीं, अपने निबन्धों में आचार्य शुक्लजी ने रीतियुग के सरस और मादक छन्दों को यथाप्रसंग उद्धृत भी किया है। काव्य में रस-मग्नता की शक्ति के वे इतने कायल थे कि उच्च से उच्चकोटि के काव्य में भी यदि उक्त गुणों का अभाव होता था तो उसे स्वीकारने में वे हिचकिचाते थे। इसका मूल कारण यह था कि जीवन की समग्रता की अभिव्यक्ति के साथ-साथ रसानुभूति की धारा को अखण्डता से प्रवाहित करने वाले रामचरितमानस जैसे प्रबन्ध-काव्य में शुक्लजी ने गहरी डुबकियाँ लगाई थीं, अतः शृंगारिक मुक्तकों में, जिसमें रस की छींटें ही दृष्टिगत होती हैं, शुक्लजी अधिक भाव-तन्मयता की स्थिति प्राप्त न कर सके। उनका मानस रह-रह कर उसी की टोह करता था और उसके न मिलने पर वे खीझ जाते थे, तिलमिला जाते थे और कहीं-कहीं अपनी व्यंग्य-गर्भित शैली में रीतियुग के मुक्तक शृंगारिक कवियों की खोज-खबर इस प्रकार लेते थे—"हिन्दी के रीतिकाल के कवि तो मानो राजाओं-महाराजाओं की काम-वासना उत्तेजित करने के लिए रखे जाते थे। एक प्रकार के कविराज तो रईसों के मुँह में मकरध्वज झोंकते थे, दूसरे प्रकार के कविराज कान में मकरध्वज रस की पिचकारी देते थे।"[५]

आचार्य शुक्लजी का तीसरा आक्षेप रीति कवियों की भाषा के सम्बन्ध में है। उनकी मान्यता है कि रीतियुग की भाषा का स्वरूप बहुत स्थिर न था। व्याकरणानुमोदित शब्दों के

प्रयोगों की दृष्टि से यह भाषा अत्यन्त चिन्तनीय है। उनके अनुसार रीतिकाल तक भाषा को साहित्यिक भावाभिव्यक्ति में पूर्ण समर्थ हो जाना चाहिए था, परन्तु अपने अनगढ़ और 'भदेस' प्रयोगों के कारण रीतिकाव्य की भाषा बहुत आदर्श या मानक भाषा का रूप ग्रहण न कर सकी। फलतः भूषण, देव और पद्माकर जैसे कवियों की भाषा में शिथिल पद-विन्यास और भरती के शब्दों के कारण काव्य की प्रसादता के साथ ही उसका सहज लावण्य, अर्थवत्ता और चित्रमयता जैसा गुण खो गया है। पर शुक्लजी की रीतिकाव्य-भाषा के सम्बन्ध में यह मान्यता बहुत ठीक नहीं प्रतीत होती। क्योंकि प्राकृत से लेकर अपभ्रंश तक भाषा का जैसा रूप रिक्थ रूप में इन कवियों को मिला था, उसके अनुसार भाषा उत्तरोत्तर विकासोन्मुख रही। शब्दों के तोड़-मरोड़ की प्रवृत्तियाँ प्रायः अपभ्रंश से ही चली आई हैं, फिर रीतियुग की अतिशय अनुप्रास-प्रियता के साथ ही भाषा की असाधारण अलंकृति भी इसका कारण बनी। आचार्य शुक्लजी जहाँ भूषण के विकृत प्रयोगों से झुँझलाए हुए थे, वहीं रह-रह कर देव और पद्माकर के नाद-झंकार से ऊबे हुए थे। वस्तुतः भाषा की दृष्टि से शुक्लजी के ही युग के पं० कृष्णबिहारी मिश्र और मिश्रबन्धु जैसे आलोचक पृथक् विचार रखते थे। ऐसे रीतिकाव्यालोचक भाषा में नाद-सौन्दर्य को उसका एक अपरिहार्य गुण और तत्त्व मानते थे। आदर्श भाषा की दृष्टि से आचार्य शुक्लजी के बाद घनानन्द, बिहारी और ठाकुर तथा द्विजदेव को अधिक महत्त्व देते थे। दूसरे शब्दों में रीतियुग की भाषा पर यदि विचार किया जाय तो उसके चार रूप थे—

(१) नाद-सौन्दर्य से मण्डित भाषा
(२) लक्षणिक प्रयोगों से युक्त भाषा
(३) वक्रता के साथ लोकोक्ति-गर्भित भाषा
(४) प्रांजलता लिए हुए सहज ढंग से प्रवाहित होने वाली भाषा।

पद्माकर-देव की भाषा में जहाँ नाद-सौन्दर्य का आग्रह और संगीत तथा लय तत्त्व का प्राधान्य है, वहीं घनानन्द की भाषा में लाक्षणिकता की जबर्दस्त बंदिश है। ठाकुर और द्विजदेव की भाषा अपनी लोकोक्तियों और वक्रता-विधान के कारण अधिक प्रसिद्ध है। इसके विपरीत मतिराम की भाषा में प्रांजलता और सरसता जैसे गुणों के साथ सहज प्रवाह और मार्दव आद्योपान्त देखा जा सकता है। इसमें सन्देह नहीं कि आचार्य शुक्लजी की भाषा-विषयक पकड़ अचूक है, पर भाव-व्यंजना के अनुसार भाषा के स्फीत प्रवाह की दाद वे अधिक नहीं दे सके, इसी से देव जैसे कवि के वे प्रशंसक नहीं थे। बिहारी की प्रशंसा इसलिए करते थे कि शब्दों के प्रयोग में उनकी सजगता एक सीमा तक अमिट प्रभाव डालती थी। निष्कर्षतः रीतिकाव्य के संदर्भ में शुक्लजी की सभी मान्यताएँ युगों से अपनी जगह ठीक होने पर भी आज मूल्याङ्कन की दृष्टि बदल जाने पर बहुत सशक्त प्रतीत नहीं होतीं।

## संदर्भ-संकेत

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० २३६, सं० २००३ का संस्करण। २. दास ग्रन्थावली—आचार्य मिश्र, पृ० १०। ३. काव्यप्रकाश—द्वितीय उल्लास, टी० हरिमंगल मिश्र, पृ० १६। ४. हिन्दी साहित्य इतिहास, पृ० ३८३। ५. चिन्तामणि, प्रथम भाग, पृ० १६४, द्वि० सं०।

# आदिकाल :
# आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की व्याख्या

●

श्रीमती कुसुम चतुर्वेदी

आदिकाल में शुक्लजी ने चार प्रकरण रखे हैं : सामान्य परिचय, अपभ्रंश काव्य; वीरगाथा काल और फुटकल। चारों का समवेत आदिकाल है जिसकी परिधि संवत् १३७५ तक है। शुक्लजी का मत है कि सिद्धों और योगियों के बनाए हुए मार्ग पर चलकर भक्ति ने आन्दोलन का रूप पकड़ा। कबीरदास ने इनसे सामग्री भी ग्रहण की। इसके साथ ही शुक्ल जी खुसरो और विद्यापति को लौकिक काव्यधारा का प्रतिनिधि मानते हैं : इन्होंने उक्त आन्दोलन को जीवनवाद दिया। जैन आचार्यों की रचनाओं को भी उन्होंने लौकिक साहित्य के के अंतर्गत लिया है। गोरखनाथ को 'सामान्य भक्तिमार्ग' का प्रवर्तक कहा है। उस समय तक मुसलमान यहाँ बस कर देश की जनता के महत्त्वपूर्ण भाग हो गए थे। भारतीय वेदान्त पर आधारित सूफी मत के संस्कार जनता को प्रभावित कर रहे थे। वीरगाथा काल के लिए शुक्ल जी का मत है कि चारणों ने राजाओं की खुशामद में वीर और रौद्र रस लबालब भरा, किन्तु लोक ने उन्हें नहीं अपनाया। 'वीर' के साथ 'गाथा' शब्द जोड़ना उन्होंने जरूरी समझा, किन्तु 'आल्हाखंड' को वे 'वीरगीत' की संज्ञा देते हैं और इसकी विवेचना भावपूर्ण शैली में करते हैं। आल्हा ने लोक से प्रभाव ग्रहण किया और लोक को प्रभावित किया। वीरगाथा काल के संबंध में शुक्लजी का यह मंतव्य कि बिना पढ़ी-लिखी जनता भी उस समय कविता करती थी, उनकी लोकवादी पहचान की महत्त्वपूर्ण कड़ी है। पंडित वर्ग इन्हें 'गँवारू' कहता था, किन्तु ये कविताएँ राजसभा तक पहुँचती थीं। इसके प्रमाण में उन्होंने बाण के 'हर्षचरित' को उद्धृत किया है। इस लोक काव्यधारा को उन्होंने सबसे अधिक जुझारू बताया है। राजस्तुति के इस जमाने में जनता 'राजा भोज जस मूसर चंद' गाती थी। सामंत-विरोधी धारा को उजागर करने के लिए वे इस प्रकार का अनुमान लगाते हैं। शुक्लजी ने खुसरो और विद्यापति को भी ऐसे ही मुख-प्रचलित जनगीतों से रस ग्रहण करने वाला बताया है। यह भी कहा है कि जैन आचार्यों ने कहीं इन गीतों को यथावत् ग्रहण किया और कहीं इनके आधार पर स्वयं रचना की। इससे स्पष्ट है कि शुक्लजी साहित्य में उन विन्दुओं की तलाश कर रहे हैं जो सामान्य जनता की चित्तवृत्तियों के प्रतिबिंब हैं और जनता को भविष्य के लिए प्रेरणा देते हैं। इस तलाश के दरम्यान वे साधारण जनता को लौकिक सुख-संपन्नता के प्रयत्न में रत देखते हैं। ब्रह्म की चिन्ता उसे नहीं है। वह लोकजीवन में समानता और प्रेम चाहती है।

अब इस काल के उन विन्दुओं की तलाश करनी चाहिए जिन्हें ग्रहण करके कबीरदास ने 'जनता के बहुत बड़े भाग को ठीक मौके पर सँभाला' और उनमें 'आत्म-गौरव का भाव जगाया।' आत्म-गौरव प्रगति की मूल वृत्ति है, किन्तु इसकी उपलब्धि के लिए संघर्ष अनिवार्य तत्त्व है। शुक्लजी का मत है कि कर्मकाण्ड जब प्रबल हुआ, तब 'भगवान बुद्ध का अवतार हुआ।' धार्मिक-सामाजिक व्यवस्था से असंतुष्ट होकर 'बुद्ध ने नए धर्म का सूत्रपात किया जिसके

प्रेम और शांति ने एशिया खंड को प्रभावित किया। वज्रयान को इसका विकृत रूप कहा है।' निरीश्वरवादी बौद्ध धर्म से हट कर इसमें बोधिसत्त्वों एवं योगिनी शक्ति की अवधारणा की गयी तथा महासुखवाद की सिद्धि वामाचार द्वारा प्राप्त बतायी गयी। 'कर्पूरमंजरी' के भैरवानन्द का उदाहरण देकर शुक्लजी ने विकृति का स्वरूप स्पष्ट कर दिया है। तंत्र-मंत्र, रसायन और उपचार ने जनता को संघर्ष से उसी प्रकार अलग कर दिया जिस प्रकार ब्राह्मण धर्म ने अपने कर्मकाण्ड द्वारा किया था। फिर भी इसके कुछ तत्त्व शुक्लजी को प्रासंगिक लगते हैं। वे इस तथ्य का विशेष रूप से उल्लेख करते हैं कि जिस प्रकार गोपियाँ कृष्ण की ओर आकर्षित होती थीं, उसी प्रकार स्त्रियाँ सास-ननद की उपेक्षा करके कापालिक योगियों की ओर खिंचती थीं। शुक्लजी की इस व्याख्या का महत्त्व यह है कि वे इतना ही नहीं मानते कि सिद्ध संप्रदाय पर अन्य प्रकार से भागवत का प्रभाव है, यही धारा बल खाती हुई भक्ति-आंदोलन में बहती है, वरन् यह भी मानते हैं कि हिन्दी काव्य में नारी-समानता का यह प्रथम उद्घोष है जिसने कर्म के स्तर पर स्त्रियों को प्रेरणा दी। नारी और शूद्र दो ही दलित जातियाँ हैं। वेद में शूद्र को तप में नियुक्त करने के लिए कहा गया या पूर्व-मीमांसा के अनुसार इन्हें यज्ञ करने का अधिकार दिया गया, किन्तु वास्तविक जीवन में ये अधिकांशतः अशिक्षित थे तथा छोटे पेशे अपना कर जीवन-यापन करते थे। सिद्ध अधिकतर इसी वर्ग से आए थे, किन्तु अध्ययन-अध्यापन के जरिए उन्होंने अपनी स्थिति उच्चतर बना ली थी। शुक्लजी ने लिखा है कि ये संस्कृत में रचनाएँ करते थे तथा नालन्दा तथा विक्रमशिला जैसे प्रसिद्ध विद्यापीठों से संलग्न थे। इन्होंने बौद्ध धर्म की वर्णाश्रम-विरोधी धारा को वैचारिक स्तर पर ग्रहण किया। कर्म के स्तर पर इन्होंने दलित जातियों को यह प्रेरणा नहीं दी कि वे भी अध्ययन करके अपने पेशों को बदलें और ब्राह्मणवादी शिकंजे को दूर फेंक दें। शुक्ल जी का यह वाक्य विशेष रूप से प्रासंगिक है कि 'जाति-पाँति के खंडन तो वे आप ही थे।' 'तो', 'और', 'ही' शब्द महत्त्वपूर्ण हैं। अध्यापक साहित्यकार से यह उम्मीद की जाती है कि वह साधारण जनता को शिक्षित करके पेशों को बदलने और धार्मिक पाखंडों को तोड़ने की राह सुझाए। उक्त वाक्य में शुक्लजी की आशा और निराशा दोनों मुखर हैं। उन्होंने नाथ मत को वज्रयान से छँटकर निकला हुआ बताया है। गोरखनाथ ने पतंजलि के उच्च लक्ष्य, ईश्वर-भक्ति को लेकर हठयोग का प्रवर्तन किया। इसमें शिव-शक्ति की अवधारणा भी है। वामाचार हटा, किन्तु उसका स्थान मांसपेशियों एवं नाड़ियों की साधना ने ले लिया। शुक्लजी का उल्लेखनीय निष्कर्ष यह है कि इस मत ने धार्मिक-भावात्मक एकता का सूत्रपात किया। हिन्दू और मुसलमान दोनों ने यह मत ग्रहण किया। दलित जातियों को शिक्षित करने का प्रयास नाथों ने भी नहीं किया और केवल पंडितों को फटकार कर प्रगति की केवल एकतरफा भूमिका निभाई। पेशों के बदलाव में इतना ही अन्तर आया कि 'अलख निरंजन' मंत्र स्वयं पेशे के रूप में आ गया। चौरासी सिद्ध, नवनाथ स्वयं तो जानकार थे, किन्तु अशिक्षित जनता सुनी-सुनाई बातों से संतुष्ट होकर तांत्रिक उपचारों को ही जीवन का उपाय मानने लगी। ब्राह्मण धर्म के विधि-विधानों से ऊबी हुई जनता कुछ नया चाहती थी, किन्तु वह फिर समानान्तर पौरोहित्य में फँस गयी। फिर भी शुक्लजी उसे कर्मकाण्ड-प्रधान ब्राह्मण धर्म से अधिक महत्त्व देते हैं। इसका उदाहरण उनका यह वाक्य है, "अर्थशून्य बाहरी विधि-विधान, तीर्थाटन, पर्वस्नान आदि की निस्सारता का संस्कार फैलाने का जो कार्य वज्रयानी सिद्धों और नाथपंथी योगियों के द्वारा हुआ, उसका उल्लेख हो चुका। पर उनका उद्देश्य 'कर्म' को उस तंग गड्ढे से निकाल कर प्रकृत धर्म के

खुले क्षेत्र में लाना न था, बल्कि एकबारगी किनारे ढकेल देना था।" 'तंग गड्ढे' से निकालना बड़ा काम था, किन्तु अपने पैरों पर खड़ा कर देना भी जरूरी था। दोनों प्रकार के अतिवाद ने यथास्थितिवाद को कायम रखा। दूसरे प्रकार में आत्म-पीड़न भी था। इसी वृत्ति ने आगे चल कर जाति-व्यवस्था समाप्त करने के स्थान पर दो तीन और जातियों का सृजन किया। शून्य देश की यात्रा तथा तांत्रिक विधि से घट ही के भीतर परम तत्त्व ढूँढ़ने के प्रयास ने सामान्य जनता को परलोकवाद और कर्मफलवाद की यांत्रिकता के स्तर पर ही एक स्थिर, स्थायी और शाश्वत सौन्दर्य में कैद कर दिया।

सिद्धों-योगियों की रचनाओं को सांप्रदायिक कहने के बावजूद शुक्लजी अपनी व्याख्या में उनके प्रेमपक्ष मानव-समता तथा ईश्वरीय एकता जैसे तत्त्वों को महत्त्वपूर्ण मानते हैं। संस्कृत के विद्वान् होते हुए भी इन्होंने लोकभाषा अपनायी। इसे उल्लिखित करने के बाद वे इनके व्यापक अद्यतन प्रभाव का भी उल्लेख करते हैं। शुक्लजी ने रचना को केन्द्र में रखकर व्याख्या की है। कबीरदास ने वैष्णव मत तथा भावात्मक रहस्यवाद के साथ साधनात्मक रहस्यवाद की ये बातें भी ग्रहण कीं।

उस समय की सामान्य जनता जिस प्रकार के मुख-प्रचलित दोहे स्वयं कहती थी तथा जिस प्रकार के भावों की अपेक्षा विद्वानों से करती थी, उसका उदाहरण शुक्लजी ने जैन रचनाओं से दिया है। इन उदाहरणों को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि शुक्लजी सिद्ध-योगी की रचनाओं को 'धर्म-सम्बन्धी' क्यों कहा है और उन्हें 'शुद्ध साहित्य' के अंतर्गत क्यों नहीं लिखा। 'साहित्य' के अंतर्गत लेने से यह तो जाहिर है कि वे उन्हें भी साहित्य मानते हैं, पर 'शुद्ध' नहीं। लोक-सामान्य भावभूमि ही शुद्ध स्तर है, 'अलोक' या 'अदृश्य' नहीं। शुक्लजी के अनुसार अदृश्य का 'कोई ठीक ठिकाना नहीं।' वह विज्ञान का विषय है। स्वानुभूति भी उन्हीं बातों की हो सकती है जिनका अवस्थान रूपगत दृश्नों को देखते-देखते हमारी अंतस्संज्ञा में हो जाता है। किसी नयी अनदेखी बात पर कोई स्वानुभूति नहीं टिकती। शुक्लजी का यह मत आदिकाल में भी है और आधुनिक काल में भी। हेमचंद्र, सोमप्रभसूरि, मेरुतुंग, विद्याधर, शार्ङ्गधर आदि जैन कवियों की रचनाओं तथा मुख-प्रचलित दोहों में साधारण आदमी के हर्ष-विषाद, ईर्ष्या, वात्सल्य, प्रेम, करुणा, उत्साह आदि उन भावों का सजीव चित्रण है जिनका दैनिक जीवन एवं धारण-उपाय से सीधा लगाव है। लोकबाधा को पार करके प्रेम का सौन्दर्य बन्दी राजा को किस प्रकार साधारण मनुष्य की भावभूमि पर उतारता है, यह मुंज के दोहों में चित्रित है। शुक्ल जी ने इस चित्रण को महत्त्व दिया है। इसी प्रकार की दृष्टि शुक्लजी ने वीरगाथा काल में भी अपनायी है। शौर्य-प्रदर्शन, प्रतिकार, अहंकार, कन्याहरण, बहुविवाह करने वाले राजाओं के प्रति उन्हें कोई सहानुभूति नहीं है। रचना का मूल कारण शृङ्गार है, किन्तु वीर रस की उक्तियाँ अधिक होने के कारण इन्हें उन्होंने 'वीरगाथा' कहा। यह 'गाथा' ही है जिसमें सामंती मसाला भरा हुआ है। लाखों पुरस्कार देकर अपनी यशगाथा लिखवाने वाले विलासी खुशामदप्रिय राजाओं से उन्होंने कुछ समय बाद होने वाले शासक हुसेनशाह को अलग किया है जिसने धार्मिक एकता के लिए 'सत्यपीर' की कथा चलाई तथा कवि कुतबन से अनुरोध करके 'मृगावती' लिखवाया? इस लोकवादी दृष्टि का वीरगाथा काल में अभाव है। शुक्लजी को उस काल की कोई रचना पसंद आयी तो वह 'आल्हाखंड' है। इसने जनगीत का रूप लिया और इसकी व्याख्या करते समय शुक्लजी स्वयं कवि हो जाते हैं। सम्राट् पृथ्वीराज के विरुद्ध लड़ने वाले वीरों की यह कथा है जिसमें जनता ने अपनी रुचि के अनुकूल समय-समय पर बहुत कुछ जोड़ा। जाहिर है कि शुक्लजी जनता की

सामंत-विरोधी रुचियों को महत्त्व दे रहे हैं। भोज और पृथ्वीराज का चरित्र-चित्रण उनकी इस दृष्टि को और उजागर करता है। वह बाहरी आक्रमणों का भी काल था। भारतीय जनता में भारतीय मुसलमान भी थे। शुक्लजी का उल्लेखनीय वाक्य है—"बीसलदेव के सरदारों में ताजुद्दीन मियाँ भी मौजूद हैं।" वे यह बताना चाहते हैं कि आक्रमण के प्रतिरोध में हिन्दू-मुसलमान एकजुट थे। शुक्लजी ने यहाँ बसने वाले मुसलमानों और आक्रमणकारियों में भेद किया है। वे आक्रमणकारी वैसे ही सामंती समाज के प्रतिनिधि थे जैसे यहाँ के राजा। यहाँ के विलास-जर्जर हिन्दू राजा भी परस्पर छोटी-छोटी बातों के लिए धाक जमाने के उद्देश्य से लड़ा करते थे। बाह्य आक्रमण का यही कारण था और शुक्लजी ने परस्पर लड़ते रहने वाले स्वभाव को बार-बार रेखांकित किया है। यह भी बताया है कि आक्रमण का उद्देश्य प्रारंभ में केवल हीरे-जवाहरात बटोरना था। महमूद आदि आक्रमणकारियों का केवल आर्थिक उद्देश्य था। शुक्लजी ने भारत आने वाले मुसलमानों में से बहुत को 'नए बने हुए मुसलमान' कहा है। साहित्य के इतिहास में उन्होंने संक्षेप में अपेक्षित विवरण ही दिए हैं। 'जायसी-ग्रन्थावली' में सांस्कृतिक अन्तर्प्रक्रिया का विशद विवरण है। उनका पद्य-नाटक 'भारत और वसन्त' भी ऐतिहासिक दस्तावेज है। वहाँ उन्होंने पराधीनता के कारण की विवेचना करते हुए कहा है कि ब्राह्मण-श्रमण संघर्ष ने देश की राजनीति को भी कमजोर कर दिया और इस संघर्ष का मूल कारण ब्राह्मणों का द्वेष तथा हिंसा है।

आदिकाल का प्रथम प्रकरण खुसरो और विद्यापति की व्याख्या से प्रारंभ होता है और अंतिम चतुर्थ प्रकरण इन्हीं की व्याख्या से समाप्त होता है। इससे स्पष्ट होता है कि जन-जागरण के चतुर्दिक् विकास के लिए शुक्लजी के मानस में यही दो कवि अन्तर्भूत हैं। उन्होंने अन्य विचारकों की तरह विद्यापति को भक्त नहीं माना। जाहिर है, शुक्लजी भक्ति को जन-जागरण के लिए उस समय भी आवश्यक नहीं मानते। संसार में असक्त हुए बिना मनुष्य अपने सुख-वैभव की वृद्धि के लिए प्रयत्न नहीं करता। इसकी जमीन वे सात्त्विक शृंगार में मानते हैं। विद्यापति ने इस सक्रिय भागीदारी द्वारा भक्ति-आंदोलन को ठोस आधार दिया। खुसरो फारसी के विद्वान् थे, 'कई बादशाहों का जमाना देखा था।' किन्तु उस उच्च स्तर से नीचे उतर कर उन्होंने जनता के सुख-दुःख में हिस्सेदारी निभाई। शुक्लजी कहते हैं, "ये बड़े ही विनोदी, मिलनसार और सहृदय थे। इसी से जनता की सब बातों में पूरा योग देना चाहते थे।" यहाँ तक योग दिया कि प्रसिद्ध विद्वान् होते हुए भी अशिक्षित जनता जिस शैली को पहेली, मुकरी, पद्य, दोहे कहा करती थी, वही उन्होंने ग्रहण किया। सामान्य जनता के साथ एकाकार हो जाने को शुक्ल जी कविकर्म की पहली शर्त मानते हैं। इसी से वीरगाथा काल की रचनाएँ उन्हें चारण-काव्य लगीं और इसका प्रारंभ उन्होंने समानान्तर लोक-काव्यधारा के मूल्यांकन से किया।

ऊपर जो कुछ लिखा गया है, उससे स्पष्ट हो जाता है कि शुक्लजी प्रजा को राजा से एवं जन को शिष्ट से अलग करके उनके अंतर्विरोधों एवं विसंगतियों के समापन की संभावनाएँ भी ढूंढ़ते चलते हैं। 'अलोक' या शून्य में विश्राम जैसे समाधान अन्त में चलकर पुरोहिती सामंती हितों के पोषक हो जाते हैं। पंडितों एवं राजाओं को चुनौती देने वाली जनता का चित्रण करके शुक्लजी ने समतावादी समाज की स्थापना के लिए वास्तविक भागीदारों की मानसिकता की पहचान की है।

●

१२ बी, कस्तूरबा नगर,
सिगरा, वाराणसी

# इतिहास की नियति—शुक्ल जी

श्री गोकुलचन्द्र शुक्ल

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल [मेरे पिता जी] ने १९०८ में 'हिन्दी शब्दसागर'' के सम्पादन का कार्य सम्भाला। किसान, कारीगर और व्यापारियों के बीच प्रचलित शब्दों की बनावट और संस्कृति की खोज में वे उनसे सम्पर्क स्थापित करके शब्द-संग्रह करने में लगे। उनके मूल रूप के अध्ययन के लिए उन्होंने संस्कृत ग्रन्थों के अतिरिक्त प्रांतीय भाषाओं एवं बोलियों की छानबीन की। १९१० में बाबू श्यामसुन्दर दास कश्मीर-नरेश के यहाँ कार्यरत थे। शब्दकोश का कार्यालय जम्मू में स्थानांतरित हो जाने से शुक्लजी को भी जम्मू जाना पड़ा। कुछ महीनों बाद कोश कार्यालय-सहायकों की कमी के कारण पुनः काशी वापस आ गया। १९२२ में शब्दों का इतिहास तैयार हो गया। नागरी प्रचारिणी सभा की प्रबन्धकारिणी समिति ने इसके साथ 'भाषा का विकास' और 'साहित्य का विकास' भी प्रकाशित करना तय किया। 'भाषा का विकास' बिना किसी का नाम दिए 'शब्दसागर' में छप गया। किन्तु 'साहित्य का विकास' लिखते समय शुक्ल जी ने बाबू श्यामसुन्दर दास से बात कर ली कि इसमें शुक्लजी का नाम अवश्य जाय। कुछ आनाकानी के बाद बाबू श्यामसुन्दर दास ने स्वीकार कर लिया और शुक्लजी लिखने लगे। १९२८ में 'साहित्य का विकास' प्रकाशित होने लगा। प्रेस में जब अन्तिम प्रूफ गया, तब बाबू श्यामसुन्दर दास ने हरिऔध जी तथा कुछ अन्य लोगों से कहा कि शुक्लजी का नाम देने की जरूरत नहीं है। जैसे 'भाषा का विकास' गया, वैसे ही बिना नाम दिए इसे भी जाना है। यदि नाम ही देने का हठ हो तो मेरा और उनका संयुक्त नाम जायगा। शुक्लजी को सभा पहुँचने पर यह बात मालूम हो गयी। हरिऔध जी ने घर आकर भी इसी बात की पुष्टि की। शुक्लजी बहुत संकोची थे, इसलिए इसके पूर्व भी अपना नामांकन न होने पर वे चुप रह जाया करते थे। किन्तु मेरी माता जी ने घर में उपद्रव मचा दिया। मेरे सौतेले चाचा जगदीशचन्द्र और चचेरे भाई चन्द्रशेखर इस समय हमारे साथ थे। हम तीनों ने मिलकर माता जी को शान्त किया और प्रेस में जाकर बैठ गए। बारह घंटे लगातार हम तीनों बैठे रहे। मैंने वहाँ यह बात बतायी कि बाबू श्यामसुन्दर दास ने नाम देने की बात मान ली थी। इसलिए पिता जी ने इतने साल इतनी मेहनत की। शुक्लजी का नाम जब मुद्रित हो गया, तब हम लोग प्रेस से वापस आए। जगदीश ने आगे बढ़कर शुक्लजी को यह खबर दी। वे ''हूँ'' कहकर दूसरे काम में लग गए। किन्तु मेरी माताजी की प्रसन्नता देखते ही बनती थी। बाबू श्यामसुन्दर दास इस बात से हृदय से नाराज हो गए। वे मुझे बहुत मानते थे और पिताजी की ही तरह मुझे ''कत्थे'' कहते थे। मेरे विवाह और गौने में वे जबलपुर गए थे और मेरी पत्नी को महँगा उपहार भेंट किया था। किन्तु ईमानदारी के तकाज़े से मैं लाचार था। १९२९ में ''साहित्य का विकास'' ''हिन्दी साहित्य का इतिहास'' के नाम से पुस्तकाकार छापने की योजना बनायी गयी। मैंने बाबू श्याम-सुन्दर दास से अनुरोध किया कि इसी जिल्द में भाषा का विकास भी जाने दें, क्योंकि आखिर वह शुक्लजी के श्रम का ही फल है। बहुत हो तो भाषा वाले अंश में अपना भी नाम दे दें।

किन्तु उन्होंने स्वीकृति नहीं दी। वह अंश अनाम प्रकाशित हुआ था, इसलिए हमने हठ करना उचित नहीं समझा।

"इतिहास" छप गया और उसका स्वागत हुआ। जल्दी के कारण शुक्लजी ने उसमें संक्षिप्त परिचय तथा व्याख्याएँ दी थीं। कुछ अन्य पुस्तकें सामने आती जा रही थीं। कुछ आधुनिक कवि एक धारा से दूसरी धारा में बढ़ते जा रहे थे। इसलिए शुक्लजी इतिहास को सर्वांगपूर्ण बनाने के विचार से उसका परिवर्धन तथा संशोधन करना चाहते थे। जब-जब इतिहास के ऐसे संस्करण प्रकाशित करने के लिए शुक्लजी अपना प्रस्ताव 'सभा' में रखते थे, बाबू श्यामसुन्दर दास इसे स्थगित कर देते थे। शुक्ल जी की यह कथा धीरे-धीरे सबको मालूम हो गयी। इंडियन प्रेस के मालिक घोष बाबू ने शुक्ल जी से कहा कि वे नागरी प्रचारिणी सभा से अपना इतिहास वापस लेकर इंडियन प्रेस को दें। किन्तु सभा को एक बार दे दी गयी कृति को किसी भी कारणवश वापस लेकर दूसरे प्रकाशक को देना शुक्लजी ने उचित नहीं समझा। १९३७ तक बाबू श्यामसुन्दर दास सभा में रहे। उसके बाद श्री रामनारायण मिश्र के आ जाने पर शुक्लजी ने इतिहास के संशोधन-परिवर्धन का प्रस्ताव फिर दोहराया। मिश्र जी ने तत्काल यह प्रस्ताव मान लिया। शुक्लजी ने प्राचीन साहित्य से अर्वाचीन साहित्य तक पूरा आलेख तैयार करके प्रेस में भेज दिया। वह सामग्री प्रेस से किसी तरह लापता हो गयी। शुक्लजी दमा के मरीज थे, इसलिए वह लेटे-लेटे तकिया के ऊपर कागज रखकर पेंसिल से लिखा करते थे। टाइप की सुविधा नहीं थी, इसलिए वही कागज सीधे प्रेस में चला जाता था। दूसरी कापी न होने से एक बार का लिखा हुआ यदि किसी तरह से गायब हो जाता, तो उन्हें दूसरी बार वही लिखना पड़ता। वह संस्करण सभा से बहुत जल्दी निकलना था, इसलिए शुक्लजी को जब आलेख दूसरी बार तैयार करना पड़ा, तब उन्होंने पुराने कवियों पर थोड़ा-थोड़ा लिख डाला, किन्तु नए लेखकों और कवियों पर सामग्री नहीं तैयार कर सके। सभा ने इसी तरह के अपने वक्तव्य के साथ वह संस्करण निकाल दिया। अब शुक्लजी दुबारा लिखने लगे। निराला, महादेवी, पंत, दिनकर, नवीन, भारतीय आत्मा आदि अपना पूरा 'साहित्य' दे गए थे। नए लेखक भी अपनी किताबें दे गए थे। शुक्लजी ने सब की विवेचना बनारस और मिर्जापुर में बैठ कर लिख डाली। यह सब आलेख वे प्रेस में भेजने वाले थे। तभी उन्हें दो दिन के आवश्यक कार्यवश मिर्जापुर जाना पड़ा। जल्दी-जल्दी में सारी सामग्री मेज पर ही छोड़ कर चले गए। घर में एक अल्पवयस्क नौकर विन्ध्याचल था। उसने समझा कि यह सब रद्दी पड़ी है। अखबार बेचते समय उसने वह सब बेच दिया और उस पैसे से मिठाई खा ली। वापस आने पर जब शुक्लजी ने यह घटना सुनी तो वे उस दूकान पर स्वयं गए। लेकिन तब तक दुकानदार ने सबकी पुड़िया बाँध कर ग्राहकों को दे दी थी। अब शुक्लजी ने कुछ ग्राहकों के यहाँ भी आदमी भेजे, पर सब कागज नष्ट हो चुके थे। इसी समय पंजाब से कुछ लोग आये और उन्होंने शुक्लजी से अनुरोध किया कि पुस्तक की कीमत वे चार रुपये से अधिक नहीं बढ़ा सकते। इसलिए शुक्लजी संक्षेप में लेखकों-कवियों पर लिखकर छोटा संस्करण बना दें। शुक्लजी ने एक सप्ताह में संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखकर उस संस्करण के लिए भेज दीं। वे अब तीसरी बार अद्यतन विशद विवेचना में लग गए। दूसरे कई नए कवियों और लेखकों ने अपनी किताबें उन्हें समर्पित कीं। अब तक उनके शिष्यों ने भी कुछ कविताएँ एवं प्रबन्ध लिख लिये थे। शुक्लजी ने मुझसे कहा कि इस बार इन सब को शामिल कर रहा हूँ। नए लोगों को भी प्रोत्साहन मिलना चाहिए। उन्होंने लगभग डेढ़ सौ पृष्ठ लिख डाले। प्रतिदिन करीब पन्द्रह पृष्ठ लिखते थे। दिसम्बर की छुट्टियों में मैं बनारस आया और वह सामग्री सरसरी निगाह से

देखी। शुक्लजी ने कहा कि फरवरी-मार्च में अब महोत्सव संस्करण आ रहा है। मेरे बड़े भाई कानपुर में सप्लाई अफसर थे और मैं मझौली राज देवरिया में प्रधानाचार्य। हम दोनों ने चैन की साँस ली, क्योंकि बहुत बाधाओं के बाद अब इतिहास पूरा हो रहा था। किन्तु नियति को कुछ और मंजूर था। दो फरवरी को शुक्लजी की हृदयगति रुक गयी। मेरे बड़े भाई दूसरे दिन दोपहर को बनारस पहुँच गए, और मैं अपराह्न में पहुँचा। घर में मेरी माँ आँगन में बेहोश पड़ी थीं। छोटे चाचा बच्चों की तरह रो रहे थे। शुक्लजी के शयनगृह, बरामदे तथा हाते में उनके मित्रों तथा शिष्यों की भीड़ थी। आलेखों की उनकी पेटी उनके पलंग के नीचे पड़ी थी और मेज पर किताबें, कागज, कलम, पेंसिल, चश्मा बिखरे पड़े थे। सामान पर किसी का ध्यान नहीं था। छप्पन वर्ष का प्रौढ़ जवान घर से चला गया था और सब अर्ध-विक्षिप्त थे। हम लोग दाह-संस्कार करके घर वापस आए। अब हम लोगों ने उनका सामान सहेजना शुरू किया। आलेखों को ढूँढ़ने लगे। दिसम्बर में हम लोगों ने नए लेखकों और कवियों की विवेचना तथा हर काल में बढ़ायी जाने वाली सामग्री जिस पेटी में रखी थी, वह पेटी खाली थी। शुक्लजी के निधन के समय घर में केवल स्त्रियाँ थीं। पुरुष के नाम पर मेरे एक चाचा कृष्णचंद ही थे जो ऐसे दुःख के समय स्त्रियों से भी अधिक आत्म-विस्मृत हो जाते थे। रात ही से उनके शिष्यों का आना प्रारम्भ हो गया था। पुत्रों की अनुपस्थिति में उनके आलेखों की हिफाजत का दायित्व उनके शिष्यों पर था। पूछताछ करने पर शिष्यों ने अपनी अनभिज्ञता प्रकट कर दी। पिता के वियोग का जितना दु.ख था, उतना ही दुःख हमें आलेखों के वियोग का था। हिन्दी साहित्य के इतिहास की वह बहुमूल्य सामग्री ऐसी दुःखदायी परिस्थिति में कौन ले गया, यह आज तक मालूम नहीं हो पा रहा है। अन्त में सभा ने पंजाब संस्करण की संक्षिप्त सामग्री ही लेकर वह संस्करण भी प्रकाशित कर दिया। वह इतिहास उसी रूप में प्रचलित हो गया जिसे शुक्लजी अधूरा कहते थे। निराला जी और पंत जी से मेरी मुलाकात हुई तो वे मुझसे उस सामग्री के विषय में पूछने लगे। मैं स्वयं नहीं जानता कि उसे कौन ले गया। मिश्रजी ने एक बार मुझसे कहा कि मैंने वह सामग्री पढ़ी थी, इसलिए मैं उसे लिखकर इतिहास में जोड़वा दूँ। मेरी स्मृति में उनकी लिखी बातें यथावत् नहीं रह गयीं। मैं अपने को नए ढंग से सामग्री लिखने योग्य नहीं पाता। किन्तु शुक्लजी के इतिहास को अद्यतन बनाना भी जरूरी है। नियति ने अनेक प्रकार से अनेक बार कुचक्र रचा है और 'इतिहास' पर ही यह कुचक्र टूटा है।

(डायरी की टिप्पणियों पर आधारित और चंद्रवती शुक्ल के सौजन्य से प्राप्त)।

●

चन्द्रावती शुक्ला से प्राप्त
१२बी, कस्तूरबा नगर,
सिगरा, वाराणसी

# आचार्य शुक्ल की इतिहास-दृष्टि

●

डॉ० सूर्यप्रसाद दीक्षित

हिन्दी साहित्य के हजार वर्षों के इतिहास को लेकर छोटे-बड़े, छात्रोपयोगी और मौलिक लगभग ढाई सौ इतिहास-ग्रन्थ लिखे जा चुके हैं। इतिहासों का यह इतिहास भी लगभग डेढ़ सौ वर्ष पुराना है। इस अवधि में 'इतिहास-दर्शन' विषय का परिविस्तार तक हो गया है, पर इसके बावजूद आचार्य शुक्ल का इतिहास ही आज सर्वाधिक प्रयोजनीय बना हुआ है जो अत्यन्त आश्चर्यपूर्ण, किन्तु एक ऐतिहासिक सत्य है।

शुक्लजी के इतिहास-लेखन के पूर्व बहुत व्यवस्थित ऐतिहासिक संपदा नहीं प्राप्त होती। अब तक प्राप्त प्रमाणों के अनुसार हिन्दी साहित्य का प्रथम इतिहास है—गार्सां द तासी-कृत 'इस्तार द ला लितरेत्यूर ऐन्दुई ए ऐन्दुस्तानी' (१८३९)। इसमें न काल-विवेचन है और न युग-प्रवृत्तियों का विश्लेषण। लेखक ने समूची साहित्य-परंपरा को आख्यान, आदिकाव्य, इतिहास और काव्य—इन चार खण्डों में बाँट दिया है और वर्णक्रमानुसार कवियों की नाम गणना करा दी है जिसमें अनेक हिन्दीतर कवि हैं। आचार्य शुक्ल ने इस ग्रन्थ को अपना आधार नहीं बनाया है। उन्होंने हिन्दी-उर्दू-विवाद पर तासी से असहमति व्यक्त करने के अतिरिक्त इस इतिहास-ग्रन्थ का कहीं संदर्भ तक नहीं दिया है। शुक्लजी के अनुसार तो हिन्दी साहित्य का प्रथम वृत्त-संग्रह है—'शिवसिंह सरोज'। सन् १८८३ में विरचित इस ग्रन्थ में पहली बार १००३ कवियों का अकारादि क्रम से वृत्तान्त दिया गया है जो किंचित् अविश्वसनीय तथ्यों के बावजूद व्यापक शोध-सर्वेक्षण पर आधारित एक महान् आकर ग्रन्थ है। इसी क्रम में १९०८ में जार्ज ग्रियर्सन कृत 'द मॉडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर ऑफ नार्दन हिन्दुस्तान' प्रकाशित हुआ जिसमें ९५२ कवि-लेखकों की नामावली देते हुए उनका कालक्रमानुसार विवेचन है, साथ ही युग-प्रवृत्तियों की व्याख्या भी। अंग्रेजी में लिखा होने के कारण उस समय यह इतिहास-ग्रन्थ हिन्दी पाठकों का केन्द्र तो नहीं बन सका, पर शुक्लजी का आधार अवश्य बना। शुक्लजी का काल-विभाजन और युग-प्रवृत्तियों का विवेचन निश्चय ही इससे प्रेरित है। यह अवश्य है कि शुक्लजी ने इसे भी कविवृत्त-संग्रह ही कहा है। यही नहीं, उन्होंने १९१३ में प्रकाशित 'मिश्रबन्धु विनोद' को भी 'कविवृत्त-संग्रह' ही कहा है, यद्यपि उसमें पहली बार ५००० रचनाकारों का विवरण आया है, अनेक अज्ञात कवियों का उल्लेख हुआ है और कई कालखण्डों में उनकी पारस्परिक समीक्षा भी की गई है। शुक्लजी ने स्वीकार किया है कि 'कवियों के परिचयात्मक विवरण मैंने प्रायः 'मिश्रबन्धु विनोद' से ही लिए हैं।'

इन मूल इतिहास-ग्रन्थों के अतिरिक्त आचार्य शुक्ल ने काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित खोज रिपोर्टों का आवश्यकतानुसार उपयोग किया है और 'हिन्दी कोविद-रत्नमाला', 'कविता कौमुदी' तथा 'ब्रजमाधुरीसार' जैसे तीन आधार ग्रन्थों का भी। स्पष्ट है कि शुक्लजी के समक्ष आधारभूत सामग्री पर्याप्त नहीं थी। शुक्लजी की प्रवृत्ति भी अज्ञात कवियों के शोध में अपेक्षाकृत कम थी। जनश्रुतियों से उन्हें परहेज था और प्रामाणिकता के परीक्षण के लिए यथेष्ट समय नहीं था। उन्होंने अपने इतिहास-ग्रन्थ के प्रथम संस्करण के वक्तव्य में स्वीकार भी किया

है कि 'यह पुस्तक जल्दी में तैयार करनी पड़ी है' और यह भी कि 'पुस्तक मूल रूप से छात्रों के उपयोग के लिए है।' शुक्लजी का उद्देश्य था—प्राप्त विवरणों को शृंखलाबद्ध इतिहास में परिणत कर देने का, युग-प्रवृत्तियों के अनुसार सुसंगत काल-विभाजन करने का और परिस्थिति के अनुसार जन-समूह की बदलती हुई मनःस्थिति के विश्लेषण का। इनमें निस्सन्देह उन्हें अभूतपूर्व सफलता मिली। वस्तुतः आचार्य शुक्ल के इतिहास का अपना वैशिष्ट्य है। उनका इतिहास विधेयवादी इतिहास-दृष्टि, काव्य-मूल्यों की युगसम्मत प्रतिष्ठा और उसके वैज्ञानिक बोध से प्रेरित प्रथम साहित्य-इतिहास है। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने उनकी व्यावहारिक वस्तुनिष्ठ समीक्षा, उनके कलानैपुण्य और सहृदय तत्त्व के सामंजस्य पर विचार करते हुए यह स्वीकार किया है कि शुक्लजी ने इससे हिन्दी की अर्द्धजागृत साहित्य-चेतना को दिशा दी है। तात्पर्य यह कि शुक्लजी के इतिहास का ऐतिहासिक महत्त्व तो असंदिग्ध है ही, यों विकासात्मक और तुलनात्मक दृष्टि से भी उनके इतिहास की ये उपलब्धियाँ विचारणीय हैं—

१. आचार्य शुक्ल का इतिहास एक विकसनशील इतिहास है जो हिन्दी शब्दसागर की भूमिका, नागरी प्रचारिणी पत्रिका में प्रकाशित शोधपत्र और अन्ततः पुस्तकाकार रूप में प्रकट होता रहा है। इसका लेखन १६२६ से १६४० तक निरन्तर होता रहा है। जैसे—'कविता क्या है' नामक लेख को शुक्लजी १६०६ से १६२६ तक अपने विचार-मंथन द्वारा बारबार लिखते रहे हैं, उसी प्रकार द्वितीय संस्करण तक इस ग्रन्थ में बराबर परिवर्तन-परिवर्द्धन करते रहे हैं। अभी तक सम्भवतः उनकी समस्त टिप्पणियाँ प्राप्त नहीं हो पायी हैं, अन्यथा इसकी परिपूर्णता में और वृद्धि हो जाती।

२. इस इतिहास की बहुत बड़ी विशेषता है—अपुष्ट नामों या कृतियों का निषेध। ज्ञातव्य है कि शुक्लजी के पूर्व 'मिश्रबन्धु विनोद' में ५००० तक रचनाकारों की प्रविष्टि हो चुकी थी (भले ही उनमें अनेक नाम जनश्रुतियों पर आधारित हैं), पर शुक्लजी ने भारी भीड़ का लोभ-संवरण करके उन्हें कई छन्नों से छानकर मात्र लगभग ८०० रचनाकारों को ही प्रविष्टि दी। हिन्दी की प्राचीनता सिद्ध करने के लिए भी उन्होंने बौद्धिक व्यायाम नहीं किया। यह उनकी वस्तुनिष्ठ इतिहास-दृष्टि का विरल उदाहरण है।

३. आचार्य शुक्ल का इतिहास-लेखन ऐसी विकासवादी संरचना पर आधारित है जिसमें उतार-चढ़ाव या क्रिया-प्रतिक्रिया दोनों का योग है। उन्होंने समाज-मनोविज्ञान के सहारे विभिन्न परिस्थितियों का विश्लेषण करते हुए युग-प्रवृत्तियों के प्रवर्तन और विवर्तन का विशद विवेचन किया है। वे स्पष्ट रूप से घोषित करते हैं कि जब कोई प्रवृत्ति हद के बाहर हो जाती है तो वह स्वतः तिरोहित हो जाती है। यहाँ इतिहास-बोध के ऐसे कई महत्वपूर्ण सूत्र हैं।

४. इस-इतिहास ग्रन्थ द्वारा आचार्य शुक्ल ने प्रकारान्तर से ऐतिहासिक आलोचना की नींव डाली है और इतिहास-दर्शन जैसे अनुशासन की स्थापना कर दी है। उन्होंने पहली बार कहा है कि इतिहास न कविकीर्तन है, न जीवनीपरक ग्रन्थ और न साहित्य का रूपवादी लेखा-जोखा। उन्होंने ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में भाषा में अंकित जातीय स्मृति का आकलन करते हुए अपने मत स्थिर किए हैं। इसी दृष्टि से उन्होंने वीरगाथाओं के सामंती शील और आधुनिक काल के उपनिवेशी चरित्र को व्याख्यायित किया है।

५. आचार्य शुक्ल का इतिहास विवरण-संग्रह या ऐतिहासिक अभिलेख (डाक्यूमेन्टेशन) की अपेक्षा विवेचन को प्रश्रय देता है। वे रुचिकर प्रसंगों में 'जमकर चिंतन' करते हैं। भक्ति की

पृष्ठभूमि और गद्य का विकास ऐसे ही प्रसंग हैं। इसी सघन चिंतन द्वारा उन्होंने तुलसी, सूर, जायसी आदि पर निर्णायक मत दे दिए हैं।

६. शुक्लजी का इतिहास नई-नई खोजों की ओर सचेष्ट रहा है। जायसी तो उनके ही आविष्कार हैं। भक्तिकाल को 'जनप्रवृत्ति का प्रवाह' कहना और काल को उसका प्रवर्तक मानना उनकी विशिष्ट खोज और नई अर्थापत्ति है।

७. इतिहास-लेखन द्वारा एक स्थायी मानक की प्रतिष्ठा का उपक्रम करना भी शुक्लजी का ध्येय रहा है। इसी उद्देश्य से 'रामचरितमानस' उनका अभीष्ट प्रतिमान बना है जिसमें शक्ति, शील, सौन्दर्य, लोकमंगल, रस और प्रकृति-परिवेश के मर्मोद्घाटन से परिपूर्ण प्रबन्ध-विधान आदि कई घटक हैं। भारतेन्दु को भी उन्होंने नए युग-मानक रूप में प्रतिष्ठित किया है।

८. शुक्लजी के इतिहास को एक असाधारण सफलता यह मिली है कि वह तथ्यात्मक होते हुए भी सर्जनात्मक कृति की भाँति रोचक है। इसका कारण है भाषा-शैली की जीवंतता और उससे भी अधिक उनकी विचारोत्तेजना।

९. इस इतिहास में वैचारिक दृढ़ता अपने प्रकर्ष पर है। शुक्लजी का यह मनोबल उनके स्वाध्याय और चिन्तन-सामर्थ्य की उपज है। उनकी इस वैचारिक प्रखरता के पीछे उनके संस्कार भी सक्रिय रहे हैं। उन्होंने इतिहासकार को सर्जना का अनुगामी न स्वीकार करके दिशा-दर्शक सिद्ध किया है। इसीलिए उनका इतिहास मूल्यांकन और शास्त्र की मिली-जुली भूमिका निभा रहा है। मूल्यांकन में जहाँ साहित्य-सिद्धान्तों का निर्वचन है, वहीं व्यावहारिक प्रतिपादन भी। अपनी वैचारिक दृढ़ता और बौद्धिक पूँजी के कारण शुक्लजी पश्चिमी साहित्य से आयातित मतवाद (जैसे व्यक्तिवाद, कलावाद, समाजवाद, यथार्थवाद आदि) से प्रभावित नहीं हुए और इसीलिए उनके वैष्णव-भाव अथवा 'धर्म की रसात्मक अनुभूति' वाले सिद्धान्त पर भौतिकवादी विचारधारा हावी नहीं हो पायी। साहित्येतर अवधारणाओं के आतंक से बचने के लिए उन्होंने फ्रायड, मार्क्स, लेनिन, सार्त्र, डंटन, टाल्सटाय, अरविन्द, टैगोर गांधी आदि तक का साहसपूर्ण निषेध किया है और लोकमान्य तिलक के कर्मयोग तथा स्वामी विवेकानन्द के 'ज्ञानयोग' की प्रतिस्पर्धा में अपने 'भावयोग' को स्थापित कर दिया है। पाश्चात्य साहित्यालोचन का सदुपयोग करते हुए भी वे उनके सनसनीखेज तर्कों से पराभूत नहीं हुए, क्योंकि वे एक सुदीर्घ राष्ट्रीय सांस्कृतिक संपदा को सँजोए हुए स्वतंत्रता-आन्दोलन के माहौल में एक प्रतिपक्षी उपनिवेशवादी विचारधारा से बौद्धिक स्तर पर जूझ रहे थे। दूसरी ओर वे साहित्य को राजनीति, अर्थशास्त्र आदि से अनाक्रांत रखकर उसे स्वतःपूर्ण या स्वायत्त 'सिस्टम' के रूप बनाए रखने के लिए कृतसंकल्प थे और निश्चय ही अनुदिन बढ़ते हुए आर्थिक और राजनीतिक विचारधाराओं के इस खतरे से वे अवगत थे कि इससे कवि-विवक्षा बाधित होगी और सच्चा साहित्य भी ओझल हो जाएगा।

१०. शुक्लजी का इतिहास उनके प्रबल आत्म से प्रेरित होकर भी आत्मविज्ञापन से नितान्त परे है। उन्होंने आलोचना, निबन्ध आदि विधाओं के विकास-क्रम में स्वयं को प्रस्तुत नहीं होने दिया है जो आत्मोपेक्षा का एक दुर्लभ अपवाद है। उनके इतिहास में स्थान पाने के लिए जहाँ समकालीन साहित्यकारों में आपाधापी मची हुई थी, वहीं स्वयं को अपने प्राप्य स्थान पर न रखना केवल उनका लोकशील ही नहीं है, बल्कि यह उनकी सख्त चयन-प्रक्रिया का भी प्रमाण है।

इन विशेषताओं के कारण आचार्य शुक्ल के इतिहास के साथ इतने प्रकार के 'मिथ' जुड़

गए हैं कि उसका एक 'लीजेण्ड्री करेक्टर' सा दिखने लगा है। वह हिन्दी साहित्य का अभिलेखागार-सा बन गया है। आज तक प्रचलित विवाद उसकी इस असामान्य लोकप्रियता के हेतु हैं और साक्षी भी हैं।

किन्तु उपर्युक्त विशेषताओं से अभिमण्डित होते हुए भी आचार्य शुक्ल का इतिहास-लेखन अनेक सीमाओं से ग्रस्त भी है जिनका उल्लेख करना साहित्यिक न्याय का एक तकाजा है—

१. शुक्लजी के इतिहास में शोधपरक सर्वेक्षण की प्रवृत्ति बहुत कम दिखाई देती है। उन्होंने खोज-रिपोर्टों का उपयोग भी संकोचपूर्वक किया है और अपने लेखन-काल तक हल कर दिये जाने वाले विवादों में भी रुचि नहीं ली है, शायद इसीलिए उन्होंने पृथ्वीराजरासो, बीसलदेवरास आदि का अवमूल्यन किया, रीतिकाल के कई कवियों का उल्लेख नहीं किया और यहाँ तक कह दिया कि इसमें 'जितने कवि दिए हैं, वे ही ज्यादा हैं', जबकि इतिहासकार का यह नैतिक दायित्व होता है कि वह अभीष्ट स्तर तक के समस्त रचनाकारों को यथास्थान प्रतिष्ठित कर दे। उसे वरण की स्वतंत्रता (यूज ऐण्ड सेलेकट) का अधिकार नहीं है। अनुग्रह भाव से नहीं, बल्कि अकादमिक न्यायनिष्ठा, वैज्ञानिक विजन और लोकमत के अनुकूल स्थान-निर्धारण के लिए वह बाध्य है। शुक्लजी ने कुछ तो अपर्याप्त सामग्री के कारण, कुछ छात्रोपयोगी दृष्टि के कारण और कुछ प्रमाद-प्रेरित त्वरा के कारण छोड़ा अधिक, ग्रहण कम किया है, जैसे इतिहास में प्रवेश देने के पूर्व वे भरसक प्रतिरोध कर रहे हों, इस प्रतिज्ञा के साथ कि वह पहले मुझे पराभूत करे "तब पैठे घर माँहि"। इसी कठोर प्रतिबन्ध से उर्दू-जैसी भगिनी भाषा तथा अवधी, भोजपुरी जैसी विभाषाओं को न उन्होंने स्वीकार किया और न लोकसाहित्य को। इनके अभाव में किसी भी इतिहास को पूर्ण नहीं कहा जा सकता।

२. शुक्लजी का इतिहास-बोध कहीं-कहीं दुराग्रहग्रस्त भी हो गया है। उन्हें पश्चिमी विचारधारा नापसंद थी। कहानी और समीक्षा के अतिरिक्त कोई और पश्चिमी विधा भी उन्हें सहर्ष स्वीकार नहीं हुई, किन्तु वादों के विचार-क्रम में रहस्यवाद को विदेशी, अतएव त्याज्य मान लेना न्यायोचित नहीं था। इसी प्रकार मजदूरों को जमींदारों-किसानों से बेहतर मानकर बोल्सेविक मजदूर-क्रान्ति का निषेध करना भी समयोचित नहीं कहा जाएगा। प्रगतिवाद-जैसे आन्दोलन की उपेक्षा करना क्या साधारण ऐतिहासिक भूल है ?

३. आचार्य शुक्ल के चिन्तन की मौलिकता निर्विवाद है, पर उनकी कई स्थापनाएं कालान्तर में असिद्ध हो गई हैं जैसे भक्तिकाल को पराभव की देन मानना ऐतिहासिक तथ्यों पर आधारित नहीं है। भक्ति-आन्दोलन द्वारा समानान्तर धर्मतंत्र स्थापित करने की प्रवृत्ति की ओर उनका ध्यान नहीं गया, शायद अपनी समकालीन परास्त मनोभूमि के कारण। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की नस्लवादी व्याख्या द्वारा इसकी काफी क्षतिपूर्ति हुई है। इसी प्रकार निर्गुण मत को विदेशी कह देना, छायावाद को बँगला के माध्यम से आगत विदेशी विधर्मी प्रभाव मानना, प्रसाद को मात्र विलास का कवि कहना, निराला की भाषा में शब्दार्थ के असामंजस्य, आडम्बर और छन्द-प्रयोग में व्यर्थता का आरोप करना, माखनलाल चतुर्वेदी तथा नवीन जी को बलिपंथी राष्ट्रीय धारा से काटकर मात्र स्वच्छन्दतावादी स्वीकार करना तर्कसिद्ध नहीं है।

३. इतिहास रचनाकारों, कृतियों और प्रवृत्तियों की सूची तो नहीं है, किन्तु 'डाक्यूमेन्टेशन' करते समय 'संग्रह त्याग न बिनु पहचानें' की इतनी छूट भी नहीं होती। शुक्लजी ने कहीं-कहीं स्वेच्छानुसार चयन कर लिया है जिससे नितान्त गौण रचनाकारों को अनावश्यक महत्त्व मिल गया है और श्रेष्ठ साहित्यकार स्थान पाने से वंचित रह गए हैं, जैसे एकांकीकारों में धर्मप्रकाश

आनंद, कवियों में तुलसीराम शर्मा 'दिनेश', पुरोहित प्रतापनारायण आदि की फालतू भर्ती हो गई है और दूसरी ओर यशपाल, इलाचंद जोशी, अमृतलाल नागर, हजारीप्रसाद द्विवेदी, रामवृक्ष बेनीपुरी, शिवपूजन सहाय, मुंशी अजमेरी, बेढब बनारसी, हरिशंकर शर्मा, उपेन्द्रनाथ अश्क, नंद-दुलारे वाजपेयी, शिवमंगल सिंह 'सुमन', सोहनलाल द्विवेदी, नागार्जुन आदि कितने ही १९४० तक सुविख्यात साहित्यकारों का नामोल्लेख नहीं हुआ है। उन्होंने सनेही-युग, राष्ट्रीय काव्यधारा, हालावादी-मधुकाव्य-परम्परा और प्रगतिवादी आन्दोलन तक की शिनाख्त नहीं की। प्राचीन काव्यधारा में योगसिद्ध साहित्य उपेक्षित रह गया। आदि सूफी कवि मुल्ला दाऊद यहाँ अनुपस्थित हैं। तात्पर्य यह है कि उन्होंने परिस्थिति के आग्रह और अपने प्रबल रुचिबोध के अनुसार यदि ये प्रविष्टियाँ न दी होतीं तो उनका इतिहास-लेखन इस असाधारण विश्लेषण के कारण सचमुच एक 'कालपात्र' सिद्ध होता।

४. अपने प्रखर साहित्य-विवेक के बावजूद शायद उसी से उत्पन्न रुचिभेद के कारण शुक्लजी ने अनेक विधाओं, प्रवृत्तियों और कृतियों का चाहे-अनचाहे अवमूल्यन भी किया है; जैसे—चंद बरदाई उनकी दृष्टि में व्यर्थ का कवि है, वीसलदेवरास असफल कृति है, विद्यापति मात्र शृङ्गारी-दरबारी कवि हैं, कबीर आदि निर्गुणियों में काव्य का पूर्ण अभाव है, केशव हृदयहीन हैं, रीतिकाल मात्र विलास का उद्गार है, महावीरप्रसाद द्विवेदी का लेखन सतही है, प्रेमचंद अधिकांशतः प्रोपैगण्डिस्ट हैं, इत्यादि। ये मान्यताएँ कालक्रम में खण्डित हो गई हैं और खण्डशः प्रणाली से उनका अधिकांश इतिहास भी।

५. शुक्लजी मूलतः काव्य में केन्द्रित रहे हैं, इसलिए काव्येतर गद्य की अनेक विधाएँ अनुद्घाटित रह गई हैं। उन्होंने नाटक को तो काव्य-रूप में रखा ही है, उपन्यास तक को काव्योपम बनाने का सुझाव दिया है। रेखाचित्र, संस्मरण, जीवनी, आत्मकथा, रिपोतार्ज आदि विधाओं के प्रारम्भिक रूप से अवगत होकर भी उन्होंने इनकी सम्भावनाओं को महत्त्व नहीं दिया, जबकि 'गद्य युग' की बड़ी गहरी पहचान उन्हें थी।

६. साहित्य के इतिहास में आपेक्षिक अनुपात का निर्वाह बहुत आवश्यक होता है, किन्तु आचार्य शुक्ल चूँकि प्रकृत्या भावुक थे, इसलिए मनोनुकूल प्रसंगों में चित्त के रम जाने के कारण; भावों के प्रवाह में बहुत दूर तक बहते चले जाते थे। यह समीक्षा का तो गुण हो सकता है, पर इतिहास का नहीं। क्योंकि उसमें तुलनात्मक और सापेक्षिक स्थान-निर्धारण किया जाता है। समकालीन कवियों में शुक्लजी ने सुमित्रानंदन पंत की एक-एक पंक्ति व्याख्या करते हुए चौदह मुद्रित पृष्ठ रखे हैं, जबकि निराला पर तीन और महादेवी पर मात्र अर्धपृष्ठ। दिनकर, बच्चन, माखनलाल चतुर्वेदी, सियारामशरण गुप्त, नवीन, नरेन्द्र शर्मा, अंचल, भगवतीचरण वर्मा आदि को उन्होंने एक-दो पंक्तियों में ठूंस दिया है। हाँ, श्यामनारायण पाण्डेय की खड़ीबोली कविता, दुलारेलाल भार्गव की ब्रजभाषा कविता, ठाकुर जगमोहन की भाषा-शैली, महाराज कुमार रघुबीर सिंह के निबन्ध और कृष्णशंकर शुक्ल की आलोचना उन्हें सर्वोपरि लगी है। दुलारेलाल तो उन्हें बिहारी के ढाँचे (स्ट्रेचर) के कवि प्रतीत हुए हैं। कई रचनाकारों के साथ उन्होंने 'सुपर-लेटिव' डिग्री में अनन्यता या सर्वश्रेष्ठता के फतवे जोड़ दिये हैं। प्रमचन्द, प्रसाद, गुलेरी आदि की प्रकाशित कहानियों के बावजूद और स्वयं 'ग्यारह वर्ष का समय' लिख लेने के बाद भी चण्डी-प्रसाद हृदयेश की कहानियों को सर्वश्रेष्ठ कहना इसीलिए आश्चर्यजनक है। निःसंदेह यहाँ न्यायिक सूत्र कुछ विकलांग हो गया है। समीक्षकों और इतिहासकारों के कुछ ऐसे ही स्वेच्छाचार से प्रतिक्रिया-प्रेरित होकर कालान्तर में सर्जक साहित्यकारों ने आलोचक की मध्यस्थता को चुनौती

देकर आत्मसमीक्षा या गुटपरक समीक्षा की गलत नींव डाल दी जिससे दोनों वर्गों में द्वन्द्व की स्थिति आ गई है।

७. आचार्य शुक्ल का ध्यान तथ्यान्वेषण से कहीं अधिक मूल्यांकन पर रहा है, अर्थात् उनके आलोचक से उनका इतिहासकार आक्रान्त है। इन दोनों में एक सजग अन्तर्विरोध होता है। आलोचक रुचिग्राही होता है, जबकि इतिहासकार को सर्वग्राही होना पड़ता है, क्योंकि उस पर तथ्य के संधान और काल के वस्तुनिष्ठ अंकन का गुरुतर दायित्व होता है। राग-विराग से मुक्त हुए बिना कोई समीक्षक श्रेष्ठ इतिहासकार नहीं बन सकता। शुक्लजी व्यक्तियों के विचार-क्रम में अन्तर्विरोध से घिर गये हैं, जैसे छायावाद, रहस्यवाद, स्वच्छन्दतावाद न्यूनाधिक समानान्तर भाव हैं। उनकी दृष्टि में श्रीधर पाठक, मुकुटधर पाण्डेय, रामनरेश त्रिपाठी आदि स्वछन्दतावादी कवि हैं। पर इन्हीं की परम्परा में विकसित छाया और रहस्य धारा विदेशी देन है। शुक्लजी बिंबमयी, चित्रात्मक भाषा के कायल, स्वयं अनुभूतिप्रवण कवि रहे हैं। वे लक्षणा शक्ति, वक्रता, चमत्कार, मूर्तिविधान और कोमल पदन्यास की यत्र-तत्र सराहना करते हैं, पर रीतिकाव्य और छायावाद के प्रसंग में वे कहते हैं कि सीधी-सादी बात को रूपकों और पहेलियों द्वारा कहना अनुचित है, जबकि द्विवेदी युग के सन्दर्भ में वे सपाटबयानी का विरोध करते हैं। वे रूमानी इतिहास, प्राकृतिक रोमांस और मिथकों की रूमानियत के प्रशंसक हैं, लेकिन इनका आधुनिकीकरण उन्हें स्वीकार्य नहीं है, जबकि सामन्ती रूढ़ियों और पौराणिक आस्थाओं से वे असहमत हैं। पाश्चात्य साहित्य से प्रेरित होकर वे उसके गम्भीर अध्येता रहे हैं, किन्तु उसके अधिकतर साहित्यिक वादों तथा सिद्धान्तों के अनवरत विरोधी भी रहे हैं। इसलिए उन्होंने अँग्रेजी की तर्ज में प्रचलित नामों तक को मान्यता नहीं दी और प्रगतिवाद की जगह 'लोकहित-वाद', यथार्थवाद के स्थान पर 'यथातथ्यवाद', व्यक्तिवाद-प्रभाववाद के लिए 'स्वायत्ततावाद', सौन्दर्यबोध (एस्थेटिक्स) के लिए 'अभिव्यंजनावाद' और आधुनिकीकरण के लिए 'विराट परिवर्तनवाद' जैसे शब्दों का प्रयोग किया है। यह नामांतरण शायद आचार्यत्वजन्य दुर्निवार आग्रह का परिणाम था, इसलिए लोकग्राह्य नहीं हो सका।

८. इतिहास-ग्रन्थ में काल-विभाजन और युगों के नामकरण का बड़ा महत्त्व होता है। इन प्रश्नों पर यथेष्ट पक्षापक्ष-विमर्श हो चुका है। इन सबका आनुपातिक निष्कर्ष यही है कि शुक्ल-इतिहास में युगों का नामकरण निर्दोष नहीं है और यत्र-तत्र काल-निर्धारण भी दूषित है। उदाहरणार्थ, भारतेन्दु की अनुपस्थिति में भारतेन्दु-युग का विस्तार मान लेना इसी प्रकार का कालदोष है।

इन सीमाओं के कई कारण हो सकते हैं, जैसे—तब तक यथेष्ट सामग्री की अनुपलब्धि, शुक्लजी की लम्बी अस्वस्थता, समयाभाव, उनके एकाकी नाम से इस इतिहास-ग्रन्थ के छपने की द्विविधा या अनिश्चितता, वरिष्ठ आचार्यों के निर्देश, समकालीन साहित्यिकों के आग्रह-अनुरोध, वैयक्तिक रुचि-भेद, परिस्थिति की क्रिया-प्रतिक्रिया, आदि। इन कारणों से उनका इतिहास अन्तिम और अन्यतम भले ही न बन पाया हो, लेकिन अभूतपूर्व अवश्य है और है एक श्रेष्ठ प्रस्थान।

●

रीडर, हिन्दी विभाग,
लखनऊ विश्वविद्यालय

# आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के निबंध और व्यक्तित्व

●

डॉ० कैलाशचन्द्र भाटिया

'निबंध' शब्द को परिभाषा में बाँधने का प्रयत्न अनेक पाश्चात्य तथा भारतीय विद्वानों ने किया है। इन समस्त परिभाषाओं में डॉ० जानसन की परिभाषा 'निबंध मस्तिष्क की सहसा उठी हुई अनियन्त्रित, विश्रृंखल, उन्मुक्त कल्पना-शक्ति का परिणाम है' विशेष महत्त्व रखती है। यही कारण है कि निबंध के जन्मदाता मोनटेन से लेकर आज तक के ललित निबंधकार यह स्वीकार करते हैं कि निबंधों में मर्मस्पर्शिता व मौलिक व्यक्तित्व की छाप होनी चाहिए। सुप्रसिद्ध आलोचक हडसन ने तो 'व्यक्तिगत निबंध' को ही यथार्थ निबंध माना है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी 'हिन्दी साहित्य के इतिहास' (पृ० ५०५) में अपने विचार व्यक्त करते हुए लिखा है, "आधुनिक पाश्चात्य लक्षणों के अनुसार निबंध उसी को कहना चाहिए जिसमें व्यक्तित्व या व्यक्तिगत विशेषता हो। व्यक्तिगत विशेषता का यह मतलब नहीं कि उसके प्रदर्शन के लिए विचारों की श्रृंखला रखी ही न जाय या जानबूझकर जगह-जगह तोड़ दी जाय।× × ×एक ही बात को लेकर किसी का मन किसी संबंध-सूत्र पर दौड़ता है, किसी का किसी पर। इसी का नाम है कि एक ही बात को भिन्न-भिन्न दृष्टियों से देखना। व्यक्तिगत विशेषता का मूल आधार यही है।" इसी बात को सुप्रसिद्ध आलोचक डॉ० सत्येन्द्र ने स्पष्ट करते हुए लिखा, "निबंध के संबंध में यह बात आज निश्चित-सी मान ली गई है कि वह आत्माभिव्यक्ति का ही साधन है। अतः चाहे कोई विषय हो या विषय की शाखा हो, उसमें व्यक्तिपरकता अवश्य होनी चाहिए।" राबर्टसन ने सत्साहित्य के संबंध में तीन तत्त्व स्वीकार किये हैं—(१) शैली तत्त्व, (२) व्यक्तित्व का प्रभाव तथा (३) उद्देश्य। शैलीतात्त्विक दृष्टि से भाषाचिन्तन के माडल पर सर्वप्रथम शोधप्रबंध डॉ० कृष्णकुमार गोस्वामी ने 'आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की भाषा का शैलीवैज्ञानिक अध्ययन' मेरठ विश्वविद्यालय में सन् १९७१ में प्रस्तुत किया जिसके संबंध में स्वयं शोधार्थी ने कहा, 'अपनी सीमाओं के होते हुए भी इस संरचनात्मक विश्लेषण से शैलीविज्ञान की नई दिशा सामने आई है।' वैसे लांजाइनस ने 'सर्वोत्तम शैली को सर्वोत्तम व्यक्तित्व की प्रतिध्वनि' माना है।

इस सम्बन्ध में स्वयं आचार्य शुक्ल की 'चिन्तामणि' के निवेदन की निम्नलिखित पंक्तियाँ विचारणीय हैं—

' इस पुस्तक में मेरी अन्तर्यात्रा में पड़ने वाले कुछ प्रदेश हैं। यात्रा के लिए निकलती रही है बुद्धि, पर हृदय को भी साथ लेकर। अपना रास्ता निकालती हुई बुद्धि जहाँ कहीं मार्मिक या भावाकर्षक स्थलों पर पहुँची है, वहाँ हृदय थोड़ा-बहुत रमता और अपनी प्रवृत्ति के अनुसार कुछ-कुछ कहता गया है। इस प्रकार यात्रा के श्रम का परिहार होता रहा है। बुद्धि-पथ पर हृदय भी अपने लिए कुछ-न-कुछ पाता रहा है। इस बात का निर्णय विज्ञ पाठकों पर छोड़ता हूँ कि निबन्ध विषयप्रधान हैं कि व्यक्तिप्रधान।"

अभी तक शुक्लजी के निबन्ध साहित्य का 'व्यक्तित्व' की दृष्टि से कोई पृथक् शोध-प्रबन्ध देखने में नहीं आया है। उनका व्यक्तित्व ही तो शैली को वह विशिष्टता प्रदान कर सका कि पं० सीताराम चतुर्वेदी ने स्पष्ट रूप से कहा, 'सच पूछा जाय तो हिन्दी साहित्य-संसार में शुक्लजी को छोड़कर और कोई भी न तो शैली का मर्म ही समझ सका और न विशिष्ट शैली का निर्माण ही कर सका।' उनके व्यक्तित्व की अनोखी छाप उनके निबन्धों में गुम्फित है। 'व्यक्तित्व' की ओर उनका इतना अधिक ध्यान था कि अन्यत्र (चिन्तामणि-भाग २) उन्हें लिखना पड़ा, "ऐसे प्रकृत निबन्ध, जिनमें विचार-प्रवाह के बीच लेखक के व्यक्तिगत वाग्वैचित्र्य तथा उसके हृदय के भावों की अच्छी झलक हो, हिन्दी में अभी कम देखने में आ रहे हैं।" इस आरोप का उत्तर शुक्लजी ने स्वयं अपने निबन्धों के माध्यम से दिया। उस योगदान के कारण आप उस युग में अपवाद-स्वरूप हैं। इसी परम्परा का विकास आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने किया और आज डॉ० विद्यानिवास मिश्र, श्री कुबेरनाथ राय, डॉ० विवेकी राय, डॉ० कृष्ण बिहारी मिश्र आदि विकसित कर रहे हैं। इतना सब कुछ होते हुए भी आज के शोधार्थी लिख देते हैं, 'भावात्मक शैली में शुक्लजी ने कोई निबन्ध नहीं लिखा' (हिन्दी निबन्धों का शैलीगत अध्ययन—डॉ० मु० ब० शहा, पृ० ३००) जबकि उसी ग्रन्थ के पृ० ३०९ पर स्वीकार किया, 'शुक्लजी की वैचारिक शैली में भावात्मकता का योग है।' शुक्लजी के विचार भावात्मक निबन्धों के सम्बन्ध में क्या हैं, यह जानने का कष्ट नहीं किया।

शुक्लजी ने दो पुस्तकों की महत्त्वपूर्ण भूमिकाएँ लिखी थीं : १. प्रेमघन-सर्वस्व २. शेष स्मृतियाँ (रघुबीर सिंह)। प्रेमघन को तो आधुनिक युग में हिन्दी का मोनटेन कहा गया। प्रेमघन से उनका प्रगाढ़ सम्बन्ध था। उनके द्वारा सम्पादित 'आनन्द कादम्बिनी' में वह लिखते रहते थे और वहाँ उनके साथ काम भी किया। प्रेमघन ने गद्य-लेखन को कला के रूप में ग्रहण किया और उनके निबन्धों में सजीवता और मधुरता भरपूर थी। निश्चित रूप से उसका अप्रत्यक्ष प्रभाव उन पर पड़ा होगा। उनके सम्बन्ध में दिये गये इस उद्धरण 'और कभी-कभी ऐसे पेंचीले मजबून बाँधते थे कि पाठक एक-एक, डेढ़-डेढ़ कालम के लम्बे वाक्य में रह जाता था' से काफी सीखा होगा। विस्तार से आचार्य शुक्ल ने उनके 'कविता-खंड' पर आधारित भूमिका लिखी। काश, वे द्वितीय भाग पर भी अपने विचार प्रकट कर पाते तो व्यक्तिगत निबन्धों के सम्बन्ध में उनके और अधिक विचार खुलकर आ जाते।

'शेष स्मृतियाँ' (सन् १९३८) की लम्बी भूमिका 'प्रवेशिका' शीर्षक से ४६ पृष्ठों में लिखी थी। इस भूमिका के माध्यम से भावात्मक निबन्धों पर उनके विचार बड़े स्पष्ट शब्दों में व्यक्त हुए हैं—

"भावात्मक निबन्धों की दो शैलियाँ देखी जाती हैं—धारा-शैली और तरंग-शैली। इन निबन्धों की तरंग-शैली है जिसे विक्षेप-शैली भी कह सकते हैं। यह भावाकुलता की उखड़ी-पुखड़ी शैली है। इसमें भावना लगातार एक ही भूमि पर समगति से नहीं चलती रहती; कभी इस वस्तु को, कभी उस वस्तु को पकड़ कर उठा करती है। इस उठान को व्यक्त करने के लिए भाषा का चढ़ाव-उतार अपेक्षित होता है। हृदय कहीं वेग से उमड़ उठता है, कहीं वेग को न सँभाल सकने के कारण शिथिल पड़ जाता है, कहीं एकबारगी स्तब्ध हो जाता है। ये सब बातें भाषा में झलकनी चाहिए। × × कहीं कुछ दूर तक सम्बद्ध और बीच-बीच में उखड़े हुए वाक्य, कहीं छूटे हुए शून्य स्थल, कहीं अधूरे छूटे प्रसंग, कहीं वाक्य के किसी मर्मस्पर्शी शब्द की आवृत्ति, ये सब लक्षण भावाकुल मनोवृत्ति का आभास देते हैं। इन्हें हम भाषा की भावभंगि कह सकते

हैं। एक अन्य प्रवृत्ति की ओर भी ध्यान आकर्षित किया, "भावात्मक लेखों में शब्द की सब शक्तियों से काम लेना पड़ता है। लक्षण के द्वारा वाग्वैचित्र्य का सुन्दर और आकर्षक विधान प्रस्तुत पुस्तक में जगह-जगह मिलता है जिससे भाषा पर बहुत अच्छा अधिकार प्रकट होता है। काव्य तथा भावप्रधान गद्य में आजकल लक्षणा का पूरा सहारा लिया जाता है। आधुनिक अभिव्यंजना-प्रणाली की सबसे बड़ी विशेषता यही है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इसके द्वारा हमारी भाषा में बहुत कुछ नई लचक, नया रंग और नया बल आया है। लाक्षणिक प्रयोग बहुत तथ्यों का मूर्त रूप में प्रत्यक्षीकरण करते हैं जो अधिक प्रभावपूर्ण और मर्मस्पर्शी होते हैं। पर जैसे और सब बातों में, वैसे ही इसमें भी अति से बचने की आवश्यकता होती है। वाच्यार्थ का लक्ष्यार्थ के साथ कई पक्षों से अच्छा सामंजस्य देखकर तथा उक्ति की अर्थ-व्यंजकता और उसके मार्मिक प्रभाव को नाप-जोख कर ही कुशल लेखक चलते हैं।"

(संस्करण १९५१, पृष्ठ ४०-४१)

जिन लाक्षणिक प्रयोगों की ओर यहाँ संकेत किया गया है, उस पर आचार्य शुक्ल विस्तार से उन दिनों लिखना चाहते थे, जैसा कि 'रस-मीमांसा' शीर्षक ग्रन्थ में दिये गये परिशिष्ट 'शब्दशक्ति' से प्रकट होता है। इन टिप्पणियों को (अंग्रेजी-हिन्दी) पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने पुस्तक के अन्त में जोड़ दिया है। 'भाषा में शब्दों का चयन करने', 'उनका निर्माण, व्याकरण के आधार पर करने' तथा 'उन्हें सुसंस्कृत बनाने' की ओर उन्होंने जगह-जगह 'चिन्तामणि' में संकेत दिये हैं।

शुक्लजी के निबन्धों में 'उनका व्यक्तित्व' ही तो प्रधान है जिसकी ओर संकेत करते हुए उनके शिष्य डॉ० जगन्नाथप्रसाद शर्मा ने लिखा, "किसी स्थान से दस-पाँच पंक्तियाँ निकालकर अन्यत्र रख दी जायें, तो वे पुकार कर कहेंगी कि उस प्रौढ़ लेखनी की रचनाएँ हैं जिसने हिन्दी गद्य का व्यापक और प्रौढ़तम उत्कृष्टता का वर्तमान रूप एक निर्दिष्ट स्थान पर स्थिर कर दिया था।" अब देखना है कि वे कौन से तत्त्व हैं जो व्यक्तित्व का निर्माण करते हैं। प्राय: शुक्लजी को 'गंभीर व्यक्तित्व' के रूप में समझा जाता रहा है और यह स्वाभाविक भी है क्योंकि उनकी नियुक्ति हिन्दू विश्वविद्यालय में अनिवार्य रूप से 'हिन्दी निबन्ध' की शिक्षा देने के निमित्त सन् १९१९ में हुई और बाद में सन् १९२१ में बाबू श्यामसुन्दरदास को जब हिन्दी विभागाध्यक्ष बनाया गया तो उनके सहायक रूप में की गई। विश्वविद्यालय के अध्यापक के नाते चाहे गंभीरता हो, पर उनके निबन्धों में यत्र-तत्र बिखरे हुए हास्य-व्यंग्य के पुट कुछ और ही बात कहते हैं। अमृतराय जी के ललित निबन्धों के संग्रह 'रम्या' में 'व्यक्तित्व' को स्पष्ट किया गया—(१) उन्मुक्त ठहाकों वाला, (२) स्नेहभरी चुटकियों वाला, (३) परलुत्फ़, (४) जिन्दादिल। कुछ-कुछ यही व्यक्तित्व इस धीर-गंभीर कहलाने वाले आचार्य शुक्लजी के निबन्धों में उद्घाटित होता है।

## स्नेहभरी चुटकियों से युक्त व्यंग्य :

जो प्रकृति से वास्तविक प्रेम नहीं रखते, उन पर कटाक्ष करते हुए आचार्य शुक्ल ने लिखा :

"कंकरीले टीलों, ऊसर पठारों, पहाड़ के ऊबड़-खाबड़ किनारों या बबूल-करौंदे के झाड़ों में क्या आकर्षित करने वाली कोई बात नहीं होती? जो फ़ारस की चाल के बगीचों के गोल, चौखूंटे कटान की सीधी-सीधी रविशें, मेंहदी के बने गद्दे, हाथी, घोड़े काट-छाँटकर सुडौल किए हुए सरों के पेड़ों की कतारें, एक पंक्ति में फूली हुई गुलाब आदि को देखकर ही वाह-वाह करना जानते

हैं, उनका साथ सच्चे भावुक सहृदयों को वैसा ही दुःखदायी होगा, जैसा सज्जनों को खेलों का।" (चिन्तमणि, भाग २, पृष्ठ ६ )

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि प्रकृति के प्रति प्रेम, पशु-पक्षियों के प्रति प्रम उन्हें बचपन से ही हो गया था। जब वह मिर्जापुर में रहे और प्रेमघन जी के लता-पताकाओं से युक्त घर पर प्रायः जाना हुआ तो और बढ़ गया। यही कारण है कि प्रकृति का वर्णन करते-करते 'कविता क्या है ?' शीर्षक निबन्ध में उन्हें अपने बचपन का स्मरण हो उठता है :

"बाल्य या कौमार्य अवस्था में जिस पेड़ के नीचे हम अपनी मण्डली के साथ बैठा करते थे, चिड़चिड़ी बुढ़िया की जिस झोपड़ी के पास से होकर हम आते-जाते थे, उसकी मधुर स्मृति हमारी भावना को बराबर लीन करती है। बुड्ढी की झोपड़ी में न कोई चमक-दमक थी, न कला-कौशल का वैचित्र्य। मिट्टी की दीवारों पर फूस का छप्पर पड़ा था, नींव के किनारे चढ़ी हुई मिट्टी पर सत्यानासी के नीलाभ-हरित कँटीले, कटावदार पौधे खड़े थे जिनके पीले फूलों के गोल सम्पुटों के बीच लाल-लाल बिन्दियाँ झलकती थीं।" (चिन्तामणि—पहला भाग)

यही कारण था कि वह यत्र-तत्र शहरी लोगों पर फब्तियाँ कसते चलते हैं :

"बरसात के दिनों में जब सुरखी-चूने की कड़ाई की परवा न करके हरी-हरी घास पुरानी छत पर निकल पड़ती है, तब मुझे उसके प्रेम का अनुभव होता है। वह मानो हमें ढूँढ़ती हुई आती है और कहती है कि तुम मुझसे क्यों दूर-दूर भागते फिरते हो।"

उक्त उदाहरण में व्यंग्य भी है और उल्लास की तरंग भी। अनुभूति और भावुकता की पहचान है—प्रकृति के प्रति प्रेम। यही कारण है कि उनका भावुक हृदय माहुओं की गंध पर मुग्ध हो जाता है और झाँकती हुई घास बिछड़े मित्र की भाँति सुख देती है। इस सम्बन्ध में उनकी महुओं वाली घटना, जिसमें उनके मित्र का कहना कि 'महुआ' लेने मात्र से लोग देहाती समझेंगे, विशेष तौर पर उल्लेखनीय है क्योंकि शहरी सभ्यता पर करारा तमाचा है :

"वसन्त का समय था। महुए चारों ओर टपक रहे थे। मेरे मुँह से निकला—'महुआ की कैसी मीठी महक आ रही है।' इस पर लखनवी महाशय ने मुझे रोक कर कहा—'यहाँ महुए-सहुए का नाम न लीजिये, लोग देहाती समझेंगे।' मैं चुप हो गया; समझ गया कि महुए का नाम जानने से बाबूपन में बड़ा भारी बट्टा लगता है।" (चिन्तामणि—प्रथम भाग)

एक सुप्रसिद्ध महाकवि के प्रति फ़बती का आनन्द लीजिए :

"सूखी रोटी की उत्प्रेक्षाओं के लिए—एक छोटी-सी रोटी की हक़ीकत ही कितनी, उस पर पहाड़ के सहित जमीन का बोझा लाकर रख दिया। उपमाएँ यदि न मिलीं, तो बस 'शेष शारदा' पर फिरे, उनकी इज्जत लेने पर।"

देश-प्रेम का दावा करने वालों पर चुटकी का रसास्वादन कीजिए :

"भाइयो ! बिना रूप-परिचय का यह प्रेम कैसा ? जिनके दुःख-सुख के तुम कभी साथी नहीं हुए, उन्हें तुम सुखी देखा चाहते हो, यह कैसे समझें ? उनसे कोसों दूर बैठे-बैठे, पड़े-पड़े या खड़े-खड़े तुम विलायती बोली में 'अर्थशास्त्र' की दुहाई दिया करो; पर प्रेम का नाम उसके साथ न घसीटो। प्रेम हिसाब-किताब नहीं है। हिसाब-किताब करने वाले भाड़े पर भी मिल सकते हैं, पर प्रेम करने वाले नहीं।" (चिन्तामणि—दूसरा भाग)

कुत्ता-प्रेमियों पर व्यंग्य कैसा गुम्फित किया है :

"मैंने कुत्ते के कई शौकीनों को अपने कुत्ते की बदतमीजी पर शरमाते देखा है।"

लोभियों को कभी फटकारते हैं और कभी उनसे विनोद में बात करते हैं। व्यंग्यात्मक शैली में कह उठते हैं :

"वे शरीर सुखाते हैं, अच्छे भोजन, अच्छे वस्त्र आदि की आकांक्षा नहीं करते, लोभ के अंकुश से अपनी सम्पूर्ण इन्द्रियों को वश में रखते हैं। लोभियो ! तुम्हारा अक्रोध, तुम्हारा इन्द्रिय-निग्रह, तुम्हारी मानापमान-समता, तुम्हारा तप अनुकरणीय है, तुम्हारी निष्ठुरता, तुम्हारी निर्लज्जता, तुम्हारा अविवेक, तुम्हारा अन्याय विगर्हणीय है। तुम धन्य हो !"

## हास/उपहास का पुट :

पश्चिम के सिद्धान्तों को बिना कसौटी पर कसे स्वीकार करने वालों की प्रवृत्ति का उपहास करते हुए आपने लिखा :

"आजकल पाश्चात्य वाद-वृक्षों के बहुत पत्ते—कुछ हरे, नोचे हुए; कुछ सूखकर गिरे पाये हुए—जहाँ पारिजात-पत्र की तरह प्रदर्शित किये जाने लगे हैं जिससे साहित्य के उपवन में बहुत गड़बड़ी दिखाई देने लगी है। इन पत्तों को परख के लिए अपनी आँखें खुली रखने और उन पेड़ों की परीक्षा करने की आवश्यकता है जिनके वे पत्ते हैं।" (चिन्तमणि—दूसरा भाग)

बड़ी सफ़ाई के साथ नकलचियों की हँसी उड़ाते हैं :

"वाणी और कार्य-प्रणाली की नकल की जाती है और बड़ी सफ़ाई से की जाती है। हितोपदेश के गदहे ने तो बाघ की खाल ओढ़ी थी, पर ये लोग बाघ की बोली भी बोल लेते हैं।"
(चिन्तामणि—प्रथम भाग)

## विनोदप्रियता :

गंभीर विचारप्रधान निबन्धों के मध्य में भी वह अपने विचार प्रकट करते चलते हैं। 'शील' पर गंभीरता से विचार प्रकट करते-करते 'झूठ' की बात आ जाने पर इस प्रकार हल्की-फुल्की शैली में लिखने लगते हैं :

"झूठ बोलने से बहुधा बड़े-बड़े अनर्थ हो जाते हैं, इसी से उसका अभ्यास रोकने के लिए यह नियम कर दिया गया कि किसी अवस्था में झूठ बोला ही न जाय। पर मनोरंजन, खुशामद और शिष्टाचार आदि के बहाने संसार में बहुत-सा झूठ बोला जाता है जिस पर कोई समाज कुपित नहीं होता।" (चिन्तामवि—प्रथम भाग)

शाब्दिक देश-प्रम के प्रति उन्होंने जो चोट की, वह उनकी विनोदप्रियता का ज्वलन्त उदाहरण है :

"रसखान तो किसी की 'लकुटी और कामरिया' पर तीनों पुरों का राज-सिंहासन तक त्यागने को तैयार थे; पर देश-प्रेम की दुहाई देनेवालों में से कितने अपने किसी थके-माँदे भाई के फटे-पुराने कपड़ों पर रीझकर—या कम से कम खीझकर—बिना मन मैला किये कमरे का फ़र्श मैला होने देंगे ? मोटे आदमियो ! तुम जरा से दुर्बल हो जाते—अपने अन्देशे से ही सही—तो न जाने कितनी ठठरियों पर मांस चढ़ जाता।" (चिन्तामणि)

उनका व्यक्तित्व हास्य-परिहास, विनोदप्रियता, चुटकी-व्यंग्य तक ही सीमित नहीं था, वरन् आवश्यकता पड़ने पर वह रोष भी प्रकट कर सकते थे। पाखण्ड के प्रति उनका रोष स्वाभाविक है। 'सहानुभूति' पर विचार करते हुए इस शब्द के निरर्थक प्रयोग पर आक्रोशमयी शैली में कहते हैं :

"शिष्टाचार में इस शब्द का प्रयोग इतना अधिक होने लगा है कि यह निकम्मा-सा हो गया है। अब प्रायः इस शब्द से हृदय का कोई सच्चा भाव नहीं समझा जाता है। सहानुभूति के तार, सहानुभूति की चिट्ठियाँ लोग यों ही भेजा करते हैं। यह छद्म-शिष्टता मनुष्य के व्यवहार-क्षेत्र से सच्चाई के अंश को क्रमशः चरती जा रही है।" (चिन्तामणि—प्रथम भाग)

"काव्यक्षेत्र में किसी 'वाद' का प्रचार धीरे-धीरे उसकी सार-सत्ता को ही चर जाता है।"

"राजधर्म, आचार्यधर्म, वीरधर्म सब पर सोने का पानी फिर गया, सब टका धर्म हो गये।"

आचार्य शुक्लजी के निबन्धों में बुद्धि और हृदय दोनों का समान योग है, तब ही तो रोचकता लाने के लिए कहीं-कहीं लोक-प्रचलित कथाओं को गूँथा है, तो कहीं अपने जीवन से घटनाओं, दृश्यों आदि का प्रसंग देकर विषय को स्पष्ट किया है। साथ ही शैली में अद्भुत वक्रता, तीक्ष्णता, कथन की विचित्रता, अर्थशक्ति से नीरसता को तो दूर किया ही है, जरूरत पड़ने पर चोट करने से नहीं चूकते। उनके निबन्धों में प्राप्त व्यंग्य-आक्षेप, हास-परिहास तथा वक्रोक्ति की त्रिवेणी में पाठक सहज भाव से अवगाहन करता चलता है। विचारों की गहराई के बीच व्यक्तिगत बातों और व्यंग्य-विनोद से व्याख्या भी रुचिकर हो गई है। यही उनका व्यक्तित्व है, जो उनकी रचनाओं में भरपूर समाया हुआ है।

●

प्रोफेसर
लालबहादुर शास्त्री राष्ट्रीय प्रशासन अकादमी,
मसूरी-२४८१७९

# निबन्ध और आचार्य शुक्ल

●

डॉ० शशिभूषण सिंहल

हमें आचार्य रामचन्द्र शुक्ल को निबन्धकार के रूप में देखने पर विचार करना है। इस प्रसंग में पहले, निबन्ध के स्वरूप, उसके प्रमुख अवयवों तथा निबन्धकार के व्यक्तित्व की व्याख्या करनी आवश्यक है। निबन्ध गद्यरचना है। निबन्धकार इसमें जीवन के किसी प्रकरण को लेकर उसकी व्याख्या-विवेचना करते हुए सम्प्रेषण में सीधे, पाठक से संवाद स्थापित करता है। पाठक को सम्बोधित करते समय वह विचारक की मुद्रा धारण कर लेता है। ऐसा लगता है, प्रबुद्ध श्रोताओं को वह व्याख्यान दे रहा है। व्याख्यान विचार-प्रधान होता है। उपयुक्त मार्मिक स्थलों पर वह भावुक भी हो उठता है। भावुक हो उठने पर पाठकों को अपने रंग में रँगने के लिए वह अपना भावोच्छ्वास भाषणकर्ता की भाँति व्यक्त करता है। भाषण भाव-प्रधान होता है। इन दोनों विशेषताओं से युक्त होकर, अपने प्रत्यक्ष सम्बोधन के कारण निबन्धकार सहज ही पाठक के निकट आत्मीयता स्थापित करके अभिव्यक्ति में सरसता ले आता है।

निबन्ध आकार में बहुत बड़ा नहीं होता। निबन्ध ही क्या, अन्य किसी साहित्यिक विधा का आकार बिल्कुल निश्चित करना कठिन है। निबन्ध अपने विषय-विशेष तथा रचयिता की प्रवृत्ति के अनुसार आकार में घट-बढ़ सकता है। फिर भी, उसकी रचना-प्रवृत्ति को ध्यान में रखते हुए, उसके विस्तार-आकार को, मोटे तौर पर ही सही, परिभाषित किया जाना सम्भव है। कह सकते हैं कि निबन्ध विस्तार में इतना होना चाहिए कि जिसे सुविधापूर्वक एक बैठक में पढ़कर समाप्त किया जा सके। पाठक की सुविधाजनक बैठक प्राय: आधे घण्टे तक ही हो सकती है। पाठक रस ले-लेकर धीरे-धीरे निबन्ध पढ़ता है तो औसतन दो मिनट के समय में प्रति पृष्ठ पढ़ सकता है। इस प्रकार निबन्ध का आकार, लेखन की दृष्टि से छपे हुए लगभग पन्द्रह पृष्ठों का होता है। निबन्ध पन्द्रह से कम और अधिक पृष्ठों में पाए जाते हैं, किन्तु यह औसत उसके सामान्य आकार का सुनिश्चित बोध कराने के लिए यहाँ दिया गया है।

'निबन्ध' शब्द का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ है—'कसा हुआ, बन्ध' अथवा व्यवस्थित रचना। इसमें विषय को केन्द्र बनाकर रचयिता अपनी बात सुसम्बद्ध ढंग से कहता चलता है और ध्यान रखता है कि कहीं भटक कर अतिविस्तार में न जाए। निबन्ध की विशेषता है संक्षिप्तता। संक्षिप्तता का अर्थ है विषय का समुचित प्रतिपादन, जहाँ न अतिविस्तार है और न इतना संकोच कि बात ही स्पष्ट न होने पाए। संक्षिप्तता के अर्थ को स्पष्ट करने के लिए अंग्रेजी का वाक्यांश 'टु द पाइंट' प्रयुक्त करना युक्ति-संगत है। 'पाइंट' है—विषय की नोक। इसे ध्यान में रखते हुए सब कुछ कहा जाए; विषय को छोड़कर जो कुछ कहा जाएगा, वह असम्बद्ध और अतिविस्तार होगा। अत:, निबन्ध हुआ—किसी विषय का समुचित निरूपण।

निबन्ध का अनिवार्य लक्षण है—उसमें निबन्धकार का व्यक्तित्व होना। व्यक्तित्व का सामान्य अर्थ है व्यक्ति के सोचने-समझने, भाव ग्रहण करने और उसकी अभिव्यक्ति का अपना ढंग। उसके जैसे विचार और भाव होते हैं, उन्हीं के अनुरूप शैली ढल जाती है। दूसरे शब्दों में, शैली से व्यक्ति के विचारों और भावों को पहचाना जा सकता है और विचारों-भावों से

व्यक्ति की पहचान होना सम्भव है। इसीलिए सूक्ति प्रचलित है, 'शैली ही व्यक्तित्व है' (स्टाइल इज़ द मैन)। यदि कोई लेखक अन्यत्र से सामग्री संकलित कर व्यवस्थित ढंग से प्रस्तुत कर देता है, तो ऐसी रचना को हम सही अर्थों में निबन्ध की संज्ञा नहीं दे सकते। उसे लेख कहना उचित होगा। लेख में लेखक अपने विचारों की मौलिकता, अनुभूति की ताजगी और शैली के अपनेपन का दावा नहीं कर सकता।

निबन्ध में निबन्धकार के अपने विचार रहते हैं। वैसे, कोई विचार किसी का सर्वथा अपना है, यह कहना सम्भव नहीं। जीवन-सम्बन्धी विविध विषयों पर कहीं-न-कहीं प्रायः सभी प्रकार के विचार, किसी-न-किसी रूप में, व्यक्त किए जा चुके हैं। विचार-परम्परा यदि पहले से वर्तमान है तो उसमें निबन्धकार मौलिकता क्या लाता है, यह प्रश्न किया जा सकता है। मौलिकता, अर्थात् नयापन पूर्वप्रचलित विचारों को अपने ढंग से ग्रहण करने तथा अपने ही ढंग से व्यक्त करने में सन्निहित रहता है। विचार आमूल नया नहीं होता, उसकी ताजगी में नयापन होता है और ताजगी आती है विचारक के द्वारा उसे पेश करने के नये ढंग से। अच्छे निबन्धकार बहुत कुछ पढ़ और देख चुके होते हैं। पढ़े-देखे को फिर वे गुनते हैं। गुनने का अर्थ हुआ मनन करना और उस सब चिन्तन को जीवन के प्रासंगिक सन्दर्भों से जोड़ना। जीवन से जोड़ते समय कोई भी चिन्तन या चिन्तन-सूत्र कथन मात्र का कलेवर धुलाकर, नयी अर्थ-दीप्ति देने लगता है। गुनने के फलस्वरूप अनुभव होता है कि जो अभी तक शब्द-बोध ही था, वह कहीं जीवन में उतर गया है।

विचार-सम्बन्धी प्रतिक्रिया चक्राकार होती है। इसमें स्थिति पर 'क्यों और कैसे' के प्रश्न-चिह्न लगाकर और उनके उत्तर पाकर उन्हें क्रम दिया जाता है। इस क्रम में कारण-कार्य-सम्बन्ध देखने का प्रयत्न रहता है। इसलिए चिन्तन में आगा-पीछा देखा जाता है। भाव में मन परिस्थिति पर तत्काल सीधे आवेगमय प्रतिक्रिया करता है। भाव में आगा-पीछा नहीं देखा जाता। मन एकाएक आन्दोलित होकर हमें सक्रिय कर देता है। विचार में तर्क-वितर्क है और भाव में आवेग है। इस आवेग का घनीभूत रूप अनुभूति है।

निबन्धकार किसी विषय को लेकर जब अपने ढंग से तर्क-वितर्क करता है, वहाँ उसका चिन्तन तत्त्व-प्रधान रहता है। चिन्तन की कोई पूर्व-निर्धारित दिशा नहीं होती। निबन्धकार का जैसा व्यक्तित्व होता है, वैसी ही चिन्तनधारा वह ग्रहण करता है। ठीक कहा गया है कि जैसे पत्ते के भीतर अलग-अलग दूर-दूर तक उसकी नसों का जाल-सा बिछा रहता है और जाल की रेखाओं में परस्पर सम्बन्ध भले न दीखता हो, किन्तु उनमें सूक्ष्म अन्तःसम्बन्ध अनिवार्यतः रहता है। उस सम्बन्ध के अन्तर्गत नसें व्यवस्थित और क्रमबद्ध रहती हैं। इसी प्रकार निबन्ध में निबन्धकार की चिन्तन-शैली के अनुसार विषय पर प्रतिक्रियास्वरूप विचार-पर-विचार आते-जाते हैं। विचार कभी-कभी भले ही ऊपर से बिखरे दीख पड़ें, किन्तु उनकी तह में एक योजना या मूल संगति अवश्य रहती है।

निबन्ध में व्यक्तित्व का दूसरा तत्त्व है—भाव। अनुभूति के अन्तर्गत कवि जीवन की प्रतिक्रिया मन की तरलता और आवेग या भावोच्छ्वास द्वारा प्रस्तुत करता है। जीवन और जगत् के अनेकानेक विषयों पर अगणित रचयिता अब तक भाँति-भाँति की आवेगात्मक प्रतिक्रियाएँ व्यक्त कर चुके हैं। किसी विषय पर निबन्धकार की नयी या निश्छल अनुभूति तभी मानी जायेगी जब वह पहले कही गयी उक्तियों से प्रभावित होकर नहीं लिखता; वह अपने विषय को अपनी आँखों से देखता है और प्रतिक्रिया सहज उसके मन में उभरती है, उसी को अपने ढंग से व्यक्त करता है।

व्यक्तित्व का अन्य महत्त्वपूर्ण अंग है कल्पना। निबन्धकार अनुभूति को रूपायित करते समय कल्पना का आश्रय लेता है। कल्पना भाव को बिम्ब के रूप में अनूदित करती है। बिम्ब का साधारण अर्थ है चित्र। मन में उभरने वाला चित्र दृश्य के रूप में हो सकता है। इसके अतिरिक्त, अन्य इन्द्रियों के द्वारा प्राप्त साक्षात् बोध भी बिम्बात्मक गिना जा सकता है। जैसे पढ़ते-पढ़ते रचना में किसी ध्वनि, स्वाद अथवा स्पर्श का जीवन्त अनुभव होना। बिम्ब की साधन-सामग्री जीवन के विविध अवयवों से ग्रहण की जाती है। साधन, साधन ही है। उन्हें रूप देने का सामर्थ्य कल्पनाशक्ति में है। कल्पना का सीधा-सादा अर्थ है सूझ। सूझ से निबन्धकार बिम्ब बनाता है।

निबन्धकार की कल्पना या सूझ ललित निबन्धों में विशेष द्रष्टव्य है। ललित निबन्ध की विशेषताएँ आगे यथास्थान बतायी जायेंगी। यहाँ उसकी मूल विशेषता सूझ का किंचित् विश्लेषण करना अभीष्ट है। सूझ के अन्तर्गत निबन्धकार का प्रकरण-वैचित्र्य, उसकी प्रसंगोद्भावना और उसकी चपल भंगिमा, ये बातें आती हैं। वह निबन्ध के शीर्षक के अन्तर्गत किसी विषय को छेड़ता है। फिर विषय के सहारे अनेक प्रकरणों की बात चलाता है। ये प्रकरण अलग-अलग दीख पड़ने पर भी अपना मूल प्रभाव एक ही रखते हैं। अपनी बात को समझाने और पुष्ट करने के लिए वह तरह-तरह के प्रसंगों को जन्म देता है। फलतः उसके विवेचन में प्रवाह और चपलता आती है। लगता है, वह विशेष मुखर हो उठा है और उसकी कल्पना के घोड़े दौड़ने लगे हैं। ऐसे निबन्धों में इन कारणों से सरसता अधिक आ जाती है। आभास होने लगता है कि पाठक जीवन के विविध क्षेत्रों में विचरने लगा है और वह सांस्कृतिक-पौराणिक सन्दर्भों में आज के जीवन को नयी दृष्टि से पढ़ रहा है। इन सबसे अनुभव होता है कि उसके मानसिक श्रम का परिहार हो रहा है और ज्ञानवर्धन में भी वह सक्रिय है। ऐसे निबन्धों में निबन्धकार पाठक से विशेष आत्मीयता उत्पन्न करने के लिए अपने व्यक्तिगत जीवन के अनुभवों को प्रसंग-रूप में रुचिपूर्वक बताता चलता है। वक्तव्य में व्यक्तिगत स्पर्श देने के लिए वह छद्म ढंग से निजी प्रसंगों का भी उपयोग आवश्यकतानुसार करना अनुपयुक्त नहीं समझता।

निबन्ध में निबन्धकार का व्यक्तित्व किस प्रकार आये, यह प्रश्न बड़े महत्त्व का है। इसके आधार पर निबन्ध के दो प्रमुख प्रकारों का भी निर्णय किया जा सकता है। एक प्रकार के निबन्ध वे हैं जिनमें निबन्धकार का व्यक्तित्व प्रत्यक्ष रहता है। और, दूसरे प्रकार के निबन्धों में उसका व्यक्तित्व परोक्ष स्थान पाता है। पहले हम प्रत्यक्ष व्यक्तित्व वाले निबन्धों को विचारार्थ लेंगे। प्रत्यक्ष व्यक्तित्व से आशय है जहाँ निबन्धकार निबन्ध के शीर्षक को विषय-रूप में ग्रहण न करके, विषय को व्यक्तित्व के उद्घाटन का निमित्त-मात्र बनाकर चलता है। अंग्रेजी के एक सुप्रसिद्ध निबन्धकार ने कहा है कि निबन्ध का विषय उसके लिए एक खूंटी के समान है जिस पर कैसी भी टोपी टाँगी जा सकती है। स्पष्ट है, इस कथन में खूंटी विषय के निमित्त-मात्र होने की सूचक है और भाँति-भाँति की टोपियाँ विविध निबन्धकारों के अलग-अलग व्यक्तित्व हैं। एक ही विषय पर अनेक निबन्धकार अपने-अपने ढंग से लिखकर अलग-अलग व्यक्तित्वों का प्रकाशन कर सकते हैं।

व्यक्ति-प्रधान निबन्ध में निबन्धकार विषय-प्रतिपादन की सीधी-सरल रेखा को विषयान्तरों से काटते-पीटते हुए अपने व्यक्तित्व को प्रत्यक्ष ले आता है। उसमें कल्पना अथवा सूझ तथा चपलता का बाहुल्य देखा जाता है। हिन्दी में हजारीप्रसाद द्विवेदी, विद्यानिवास मिश्र, कुबेरनाथ राय तथा शिवप्रसाद सिंह के निबन्ध इसी प्रकार के हैं। व्यक्ति-प्रधान निबन्ध का एक

कल्पित उदाहरण यहाँ दिया जा रहा है। निबन्ध का शीर्षक है 'पंखा एक पहेली।' निबन्धकार लिखता है कि "कमरे में घूम रहा यह सीलिंग फैन, फैन नहीं, अहा ! साक्षात् जीवन-चक्र है। यह जीवन चक्र न जाने कब से घूम रहा है और न जाने कब तक घूमता रहेगा। देखने वाले इसका रहस्य नहीं समझ पाए और इसे घुमाने वाला कहीं छिपा बैठा है।" फिर निबन्धकार लोक-परलोक और आध्यात्मिक रहस्यों के विविध प्रकरण छेड़ देता है। बीच-बीच में बताता चलता है कि स्वयं उसने अपने जीवन में क्या-क्या देखा, भोगा और झेला है जिसके कारण जीवन के विषय में उसकी कुछ धारणाएँ बनी हैं।

निबन्ध काफी खिंच जाने पर निबन्धकार एकाएक स्मरण कराता है कि वह तो पंखे की बात कर रहा था। फिर कहता है कि हां, पंखा गर्मियों में बहुत चलता है। गर्मियाँ भी कैसी पड़ती हैं। अमुक वर्ष में गर्मी लगातार इतनी पड़ी, लगा सूरज का गोला चटककर गिर पड़ेगा। तब उसने पर्वत-यात्रा की थी। पर्वतीय प्रदेश के अनुभवों को वह सुनाने लगता है। पर्वत की सुरम्य प्रकृति और वहाँ के लोगों के जीवन की सरसताओं और विडम्बनाओं के रहस्यों से ओतप्रोत व्यक्तिगत प्रकरणों को वह विचार-तरंगों में प्रस्तुत करता चलता है। फिर कहता है कि वह तो पंखे की बात कर रहा था। अब वह शब्द-साम्य के आधार पर पंखे को चिड़िया के पंखों से जोड़कर गगन-विचरण की बात करता है। गगन-विहार की कल्पना से धरती पर उतरते ही उसे फिर पंखे का ध्यान आता है और निबन्ध समाप्त। इस निबन्ध में विषय पंखा, जहाँ का तहाँ रह गया है। वह तो एक बहाना है। उसके व्याज से निबन्धकार ने जीवन, अध्यात्म, पर्वतीय प्रदेश की चर्चा करते हुए अपने जीवन के सच्चे और गढ़े हुए अनेक अनुभव कह डाले हैं। इस बहाने धर्म, संस्कृति और नित्यप्रति के व्यावहारिक जीवन के प्रकरण एक स्थान पर आ जुटे हैं।

**व्यक्ति-प्रधान निबन्ध** को, वैयक्तिक निबन्ध या **ललित निबन्ध** भी कह सकते हैं। ऐसे निबन्ध में विषय की अवहेलना और कल्पना की सरस चपलता के कारण ऊपर-ऊपर से विचारों का बिखराव दीख सकता है। इसीलिए अंग्रेजी के सुप्रसिद्ध आलोचक सेम्युअल जानसन ने निबन्ध की परिभाषा में उसके उखड़ेपन को ही रेखांकित किया है। वे लिखते हैं कि निबन्ध है : 'मुक्तमन की मौज, अनियमित, न कि नियमबद्ध और व्यवस्थित कृति।' अंग्रेजी में निबन्ध के लिए शब्द 'एसे' (Essay) का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ है, 'प्रयास'। 'प्रयास' में भी ध्वनि है कि निबन्धकार प्रकारान्तर से अनेक प्रयत्नों द्वारा विषय के विवेचन और अपने व्यक्तित्व के प्रकाशन का प्रयास-मात्र करता है।

**विषय-प्रधान निबन्धों** की स्थिति भिन्न है। इनमें निबन्धकार पूरा ध्यान रखता है कि शीर्षक-रूप में जो विषय दिया गया है, उसके विवेचन में क्रम भंग नहीं होना चाहिए। विषय की परिभाषा देकर उसके अंगों का विश्लेषण-विवेचन करते हुए फिर वह कही बात का सार-संचय करता है। और मन्तव्य को स्पष्ट करने के लिए आवश्यकतानुसार, मिलते-जुलते अथवा प्रतिकूल विषयों से प्रासंगिक तुलना करता चलता है। उदाहरण में दिए गये निबन्ध के विषय पंखे पर, इस प्रकार का निबन्ध और ढंग से विचार करेगा। इसमें निबन्धकार बतायेगा कि पंखा नाम कैसे पड़ा, पंखा होता क्या है, पंखे के प्रकार कितने हैं, पंखे का जीवन में उपयोग क्या है। पंखे के बनाने और प्रयोग करने का इतिहास क्या है और पंखा हमारे जीवन से गहरा जुड़ता कहाँ है। इस विवेचन को सरस और साहित्यिक बनाने के लिए वह जीवन के विविध प्रासंगिक उदाहरणों से मन्तव्य को पुष्ट करेगा और उक्तियों में सरसता लायेगा। साथ ही,

विवेचन को यान्त्रिकता से बचाने के लिए और अपनी पसन्द जतलाने के लिए जहाँ-तहाँ विषयान्तर भी कर सकता है। विवेचन-क्रम में, किसी सूत्र पर ठहरकर उसे अधिक पल्लवित करना ही ऐसे निबन्ध में विषयान्तर कहलाएगा। पल्लवन के बाद तुरन्त दूसरे क्षण वह मुख्य विषय को तत्परतापूर्वक पकड़ लेगा। मर्यादित विषयान्तर ऐसे निबन्धों में चलता है। जैसे, पंखे के प्रकार बताते समय हवाई जहाज के आगे चलने वाले पंखों का भी उल्लेख हो, उन पंखों की कार्यप्रणाली का वर्णन करते हुए निबन्धकार किसी हवाई यात्रा और उस यात्रा में पंखे फेल हो जाने के कारण हवाई दुर्घटना का उल्लेख कर सकता है। हवाई दुर्घटना के फलस्वरूप यात्रियों की दारुण मृत्यु और उसके करुण परिणामों का भाव-विह्वल कर देने वाला चित्र भी कुछ क्षण खींच सकता है। वह जीवन की हड़बड़ी, अति महत्वाकांक्षा और उसकी नश्वरता पर भी चलते-चलते कुछ वाक्य कह सकता है। बस, प्रकरण वहीं समाप्त। वह लौटकर पुनः पंखे के दूसरे प्रकारों का वर्णन करने में तुरन्त जुट जाएगा। विषयप्रधान निबन्ध में विषयान्तर होते हुए भी विषय सदैव प्रधान रहता है, किन्तु व्यक्तिप्रधान निबन्ध में विषयान्तर ही विषयान्तर रहते हैं। यह तथ्य दोनों के बीच भेदक रेखा के समान है।

विषयप्रधान निबन्ध में गम्भीरता का अनुशासन रहता है। इस क्षेत्र में **आचार्य रामचन्द्र शुक्ल** का लेखन मानदण्ड स्थापित करता है। शुक्लजी के 'चिन्तामणि' में संकलित मनोविकार-संबन्धी निबन्ध अपनी वैचारिक देन के कारण सदैव स्मरण किए जाएँगे। शुक्लजी की निबन्ध-विषयक मान्यता इस प्रकार के निबन्धों को दृष्टि में रखकर व्यक्त हुई है। उसके समय में उपर्युक्त लक्षणों से युक्त ललित कोटि के निबन्ध लिखे भी अधिक नहीं गये थे। उस समय बंगला के प्रभाव से युक्त विक्षेप शैली में भावावेश व्यक्त करने वाले निबन्ध थे। शुक्लजी को वे रुचिकर नहीं थे, यह बात उनके हिन्दी साहित्य के इतिहास में उनके विचारों द्वारा प्रकट हुई।

शुक्लजी की निबन्ध-विषयक मान्यता उसे सुसम्बद्ध, व्यवस्थित और सन्तुलित देखना चाहती है। वे गद्य-लेखन में निबन्ध को उसके प्रतिनिधि रूप में स्वीकार करते हैं। वे अपने साहित्य के इतिहास में लिखते हैं—'यदि गद्य कवियों या लेखकों की कसौटी है तो निबन्ध गद्य की कसौटी है। भाषा की पूर्ण शक्ति का विकास निबन्धों में ही सबसे अधिक सम्भव होता है। इसीलिए गद्यशैली के विवेचक उदाहरणों के लिए अधिकतर निबन्ध ही चुना करते हैं। शुक्लजी निबन्ध में व्यक्तित्व-प्रकाशन के नाम पर विचारों की विशृंखलता को स्वीकार नहीं करते; लिखते हैं—"आधुनिक पाश्चात्य लक्षणों के अनुसार निबन्ध उसी को कहना चाहिए जिसमें व्यक्तित्व अर्थात् व्यक्तिगत विशेषता हो। बात तो ठीक है यदि ठीक तरह से समझी जाए। व्यक्तिगत विशेषता का यह मतलब नहीं कि उसके प्रदर्शन के लिए विचारों की शृंखला रखी ही न जाए या जानबूझ कर जगह-जगह से तोड़ दी जाए।"

विषय-प्रधान निबन्ध को शुक्लजी ने विचारात्मक श्रेणी में गिना है। उनका मत है, "शुद्ध विचारात्मक निबन्धों का चरम उत्कर्ष वहीं कहा जा सकता है जहाँ एक-एक पैराग्राफ में विचार दबाकर कसे गये हों और एक-एक वाक्य किसी सम्बद्ध विचारखण्ड को लिए हो", शुक्लजी ने स्वयं अपने निबन्धों में चिन्तन को जिस कलात्मक ढंग से प्रस्तुत किया है, उसे ध्यान में रखते हुए लिखा है—"विश्वविद्यालयों के उच्च शिक्षाक्रम के भीतर हिन्दी साहित्य का समावेश हो जाने के कारण उत्कृष्ट कोटि के निबन्ध की—ऐसे निबन्धों की, जिसकी असाधारण शैली या गहन विचारधारा पाठकों को मानसिक श्रमसाध्य नूतन उपलब्धि के रूप में जान पड़े—जितनी ही आवश्यकता है, उतने ही कम वे हमारे सामने आ रहे हैं।"

शुक्लजी के हिन्दी साहित्य के इतिहास से विषय-प्रधान अथवा विचारात्मक निबन्धों के जो प्रमुख लक्षण ऊपर संकलित किए गए हैं, वे सब उनके निबन्धों पर पूरे घटते हैं। शुक्लजी ने **'चिन्तामणि'** की भूमिका में स्वीकार किया है कि उन निबन्धों में यात्रा के लिए निकलती रही है बुद्धि, किन्तु भावात्मक स्थलों पर कुछ टिक कर श्रम का परिहार करती चली है। वे विषय को विधिवत् बाँधते हैं और उनका विवेचन निरन्तर मर्यादित रहता है। उनके प्रिय विषय हैं इतिहास-बोध, प्रकृति-प्रेम और देश-प्रेम। इन विषयों का प्रसंग जहाँ कहीं छिड़ता है, वे विवेचन-क्रम को कुछ समय के लिए स्थगित कर इन्हीं सूत्रों पर अधिक टिककर, विषयान्तर करने लगते हैं। इन विषयान्तरों से उनका व्यक्तित्व अधिक प्रकाश में आता है। उनके निबन्धों में, प्रकरण-वैभिन्न्य, चपलता और बिखराव के लक्षण नहीं।

× × ×

अब हम **'चिन्तामणि'** में संकलित आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के निबन्धों पर विचार करेंगे। 'चिन्तामणि' के दो खण्ड सामान्यतः उपलब्ध हैं। उक्त दो खण्डों में संकलित रचनाओं को मोटे तौर पर तीन प्रकारों में विभाजित किया जा सकता है। ये हैं क्रमशः भाव-सम्बन्धी निबन्ध, आलोचनात्मक निबन्ध तथा आलोचनात्मक प्रबन्ध। **'चिन्तामणि'** के प्रथम भाग में आरम्भिक दस निबन्ध मनोभाव-सम्बन्धी हैं, शेष निबन्ध आलोचनात्मक हैं; द्वितीय भाग में तीन आलोचनात्मक प्रबन्ध हैं। इसी प्रकार 'त्रिवेणी' शीर्षक के अन्तर्गत प्रकाशित उनके क्रमशः जायसी, सूरदास और तुलसीदास पर आलोचनात्मक प्रबन्ध हैं। निबन्ध, आलोचनात्मक निबन्ध तथा आलोचनात्मक प्रबन्ध विधाओं के पार्थक्य पर आगे यथास्थान प्रकाश डाला जाएगा। यहाँ सर्वप्रथम शुक्लजी के मनोभाव-सम्बन्धी निबन्धों पर सविस्तार विचार करना अभिप्रेत है।

**'चिन्तामणि' (प्रथम खण्ड)** का प्रथम निबन्ध भाव या मनोविकार के स्वरूप तथा मानव-जीवन और काव्य में उसकी भूमिका पर प्रकाश डालता है। यह निबन्ध शेष नौ निबन्धों के लिए भूमिका-स्वरूप है। इसमें बताया गया है कि शिशु में सुख और दुःख की दो मूल अनुभूतियाँ होती हैं। आगे चलकर यही, जीवन के विविध प्रकरणों से जुड़ कर कारण-कार्य-बोध के अनुसार अलग-अलग भावों का रूप धारण करती हैं। भावों की सामान्य अभिव्यक्ति मनुष्य की शारीरिक क्रियाओं अथवा अनुभवों के द्वारा होती है। किन्तु, इनकी अधिकतम प्रभावशाली अभिव्यक्ति उक्ति या कथनों द्वारा हो सकती है। भावों का मार्मिक उक्ति-कथन कविता में होता है। मनुष्य-कर्म को प्रेरित-संचालित करने वाले भाव ही हैं। अतः मनुष्य को अच्छी दिशा में प्रेरित करने के लिए कविता से बढ़कर साधन नहीं। जीवन को सार्थक बनाने के लिए किए जाना वाला कर्तव्य—कर्म व धर्म है। धर्म या कर्तव्य-निर्धारण में विचारों की प्रधानता रहती है और जब इन विचारों को भावना का सरस और प्रेरक रूप दिया जाता है, तो ये भक्ति का रूप धारण कर लेते हैं। निष्कर्ष रूप में निबन्ध के अन्त में कहा गया है कि भक्ति धर्म की रसात्मक अनुभूति है।

इन दस निबन्धों में विविध भावों या मनोविकारों का विवेचन किया गया है। यह विषय मनोविज्ञान के क्षेत्र का है। अतः प्रश्न हो सकता है, क्यों न इन निबन्धों को मनोवैज्ञानिक कहा जाए। हम मान आए हैं कि ये निबन्ध विषयप्रधान हैं, इनका क्षेत्र मनोविज्ञान होने के कारण ऐसा प्रश्न उठना अप्रासंगिक नहीं। उत्तर है—शुक्लजी का उद्देश्य मनोविज्ञान के सिद्धान्तों का ज्ञान-मात्र कराना नहीं। वे इस विषय को साक्षात् जीवन का व्यावहारिक संदर्भ देकर इसकी विशिष्ट छवि पाठक के मन में अंकित करना चाहते हैं। वे **'श्रद्धा-भक्ति'** में कहते हैं, "व्यक्ति सम्बन्धहीन सिद्धान्त मार्ग से निश्चयात्मिका बुद्धि को चाहे व्यक्त हो, पर प्रवर्तक मन तो अव्यक्त

रहते हैं।" इसीलिए इन निबन्धों में सिद्धान्त-मात्र का विवेचन नहीं है, वरन् निबन्धकार ने अपनी रुचि और उद्देश्य के अनुसार इन्हें जीवन के प्रसंग में देखा-दिखाया है। उनने मनोभावों का सर्जनात्मक उपयोग किया है। 'सर्जना' का अर्थ है अध्ययन-अवलोकन द्वारा जीवन का सार-तत्त्व संचित करके, उसकी नव (जीवन) बिम्ब में परिणति। बिम्ब-ग्रहण वहीं होता है जहाँ कवि सूक्ष्म निरीक्षण द्वारा वस्तुओं के अंग-प्रत्यंग, वर्ण, आकृति तथा उनके आस-पास की परिस्थिति का परस्पर संश्लिष्ट विवरण देता है। बिना अनुराग के ऐसे सूक्ष्म ब्यौरों पर न दृष्टि जा ही सकती है, न रम ही सकती है।—(कविता क्या है ?)।

इन निबन्धों में शुक्लजी ने लोकहित की दृष्टि से मनोभावों की व्याख्या के आधार पर, वांछित जीवन की विवेचना (परिकल्पना) प्रस्तुत की है। वे उपदेशक नहीं हैं। उन्होंने अपने निबन्ध-लेखन का उद्देश्य स्पष्ट किया है—"मिलकर कोई कार्य करने से उसका साधन अधिक या सुगम होता है, यह बतलाना 'पर उपदेश कुशल' नीतिज्ञों का काम है, मेरे विचार का विषय नहीं। मेरा उद्देश्य तो मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्तियों की छान-बीन है जो निश्चयात्मिका वृत्ति से भिन्न है। मुझे यह कहना है कि इन-इन अवस्थाओं में मेल की प्रवृत्ति होती है।"—(लोभ और प्रीति)।

'चिन्तामणि' के विविध भाव-विषयक निबन्ध क्रमशः इस प्रकार हैं—उत्साह, श्रद्धा-भक्ति, करुणा, लज्जा और ग्लानि, लोभ और प्रीति, घृणा, ईर्ष्या, भय तथा क्रोध। 'चिन्तामणि' प्रथम भाग के अन्त में 'मंजूषा' शीर्षक से टिप्पणी देते हुए डॉ० विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने इन निबन्धों के विषयों के चयन के आधार पर विचार किया है। उनके अनुसार, नौ रसों के ये नौ स्थायीभाव माने गए हैं—रति, शोक, उत्साह, निर्वेद, क्रोध, विस्मय, हास, भय, जुगुप्सा। इनमें से 'चिन्तामणि' में केवल यह छह का ही विश्लेषण किया गया है—उत्साह, करुणा (शोक), घृणा (जुगुप्सा), भय, क्रोध, प्रीति (रति) का। निर्वेद विस्मय और हास का विचार नहीं किया गया है। यदि निर्वेद को (आचार्यों में से कुछ के नाटक में शान्तरस को न मानने के कारण) पृथक् कर दें, तो केवल विस्मय, हास ही विचारणीय शेष रह जाते हैं। ये क्रमशः अद्भुत और हास्यरस के स्थायी भाव हैं। ये दोनों एक प्रकार से सहायक होते हैं। इस प्रकार, प्रमुख स्थायी भावों का विस्तार से ( अपने ढंग से ) शुक्लजी ने विश्लेषण उपस्थित कर दिया है। किन्तु डॉ० मिश्र ने शेष मनोभाव-विषयक निबन्धों के विषयों के चयन का कारण खोजने का प्रयत्न नहीं किया।

हम अपने विनम्र मत के अनुसार, शुक्लजी द्वारा निबन्धों के विषय-चयन का कारण समझने का प्रयत्न करेंगे। शुक्लजी की लेखकीय चेतना की तह में राष्ट्रीय जागरण और स्वातन्त्र्य-संग्राम के लिए अपेक्षित संघर्ष-क्षमता को उद्बुद्ध करने की अदम्य कामना है। इसके लिए वे व्यक्ति को जगाकर उसे समाजधारा का सक्रिय अंग बनाना चाहते हैं। व्यक्ति और समाज के समन्वित हित-चिन्तन से नैतिक बोध से सम्पन्न नैतिक चेतना ने स्वभावतः इन विषयों को लेखनीगत किया है। वे लोक-कल्याण के निमित्त वांछित भावों को ही निबन्ध का विषय बनाते हैं और उनमें इसी तत्त्व की खोज में सदैव तत्पर रहते हैं। यह तथ्य इन निबन्धों के मूल संदर्श को रेखांकित करके आगे स्पष्ट किया जा रहा है।

शुक्लजी प्रारम्भिक निबन्ध 'भाव या मनोविकार' में कह आए हैं कि भक्ति धर्म की रसात्मक अभिव्यक्ति है। भक्ति मात्र-भावातिरेक नहीं है, उसका वैज्ञानिक या आधुनिक पक्ष भी है। भक्ति-भाव बनता है श्रद्धा और प्रेम के योग से। वे जन-श्रद्धा की सामाजिक गठन में अभिनव उपयोगिता को रह-रहकर जतलाते चलते हैं। यही श्रद्धा प्रेम का योग पाकर सक्रिय होती है और

अपने बल से समाज को बदल सकती है। तब हम इसे भक्ति कहते हैं। श्रद्धा के संयोजक तत्त्व प्रेम को शुक्लजी ने प्रसंगवश और तुलनात्मक रूप में चर्चित किया है। प्रेम के व्यक्तिपरक अनुभव को आँकने में उनका मन नहीं रमा है। प्रेम की महिमा काव्य में अनवरत गायी गई है, उसकी अनुभूति को लेकर क्या नहीं लिखा गया। प्रेम की गहराई, उसमें प्रेमी-प्रिया के खोये रहने और उनके स्वप्निल लोक का विवेचन निबन्धकार को कहीं-से-कहीं तक ले जा सकता है, किन्तु इस प्रसंग ने शुक्लजी को कहीं भी नहीं छुआ है। यह बात ध्यान देने योग्य है। इससे उनके विषय-चयन और दृष्टि का भली प्रकार पता लगता है।

वे **श्रद्धा और भक्ति** दोनों की मंगलकारी सत्ता का इस मनोहर रूपक में चित्र खींचते हैं, "जिस समय में किसी ज्योतिष्मान् शक्ति-केन्द्र का उदय होता है, उस समाज में भिन्न-भिन्न हृदयों से शुभ भावनाएँ मेघ-खण्डों के समान उड़कर तथा एक ओर एकसाथ अग्रसर होने के साथ परस्पर मिलकर, इतनी घनी हो जाती हैं कि उनकी घटा-सी उमड़ पड़ती है और मंगल की ऐसी वर्षा होती है कि सारे दुःख और क्लेश बह जाते हैं।" आगे चलकर उन्होंने बताया है कि श्रद्धा का मुख्य विषय मनुष्य का समाजोपयोगी चरित्र, शील है। शील का गुण, महत्त्व में, साधन-सम्पत्ति और प्रतिभा से बढ़कर है।

**'लोभ और प्रीति'** में शुक्लजी ने बताया है कि लोभ सामान्योन्मुख होता है, प्रेम विशेषोन्मुख। लोभ के साधारण भाव से प्रेम के दिव्य भाव तक कैसे पहुँचा जाए, इस प्रश्न का उत्तर खोजते हुए वे इस भाव की व्यापकता पर बल देते हैं : "वह लोभ धन्य है जिससे किसी के लोभ का विरोध नहीं और लोभ की जो वस्तु अपने सब लोभियों को एक-दूसरे का लोभी बनाए रहती है, वह भी परमपूज्य है। घर का प्रेम, पुर या ग्राम का प्रेम, देश का प्रेम इसी पवित्र लोभ के क्रमशः विस्तृत रूप हैं।" देश तक पहुँचने के लिए प्रेम की आवश्यकता है और बिना परिचय के प्रेम सम्भव नहीं। वे इसी निबन्ध में लिखते हैं : "परिचय प्रेम का प्रवर्तक है। बिना परिचय के प्रेम नहीं हो सकता। यदि देश-प्रेम के लिए हृदय में जगह करनी है तो देश के स्वरूप से परिचित और अभ्यस्त हो जाओ।" उन्होंने बताया है कि देश के वर्तमान प्रकृत रूप से परिचित होने के साथ, उसके इतिहास से अवगत होकर ही हमारा उसके प्रति प्रेम पक्का होगा।

प्रेम के विषय में वे बताते हैं : "दो हृदयों की यह अभिन्नता अखिल जीवन की एकता के अनुभव-पथ का द्वार है, प्रेम का यह एक रहस्यपूर्ण महत्त्व है।" यहाँ उनका ध्यान व्यक्ति के प्रेम-विषयक अनुभूति-पक्ष पर नहीं। प्रेम की आत्मपरक अनुभूति की विवेचना वे साफ बचा गए हैं। प्रेम का उदात्त तत्त्व व्यक्ति को किस प्रकार समाजसापेक्ष बनाता है : "जिस प्रकार का रंजनकारी प्रभाव विद्वान् की बुद्धि, कवि की प्रतिभा, चित्रकार की कला, उद्योगी की तत्परता, वीर के उत्साह तक बराबर फैली दिखाई दे, उसे हम भगवान का अनुग्रह समझते हैं। मानव-भक्ति के लिए प्रेम की यही पद्धति समीचीन मानते हैं।"

वे दूसरों की ओर द्रवित करने वाली हृदय की दो कोमल वृत्तियाँ पाते हैं : करुणा और प्रेम। करुणा को उन्होंने मनुष्य की प्रकृति में शील और सात्त्विकता का आदि संस्थापक मनोविकार पाया है, क्योंकि दूसरों के दुःख से दुःखी होने का नियम व्यापक है, जबकि दूसरों के सुख से सुखी होने का नियम उसकी अपेक्षा परिमित है। करुणा में हम दूसरों के दुःख से दुःखी होकर उस दुःख को दूर करने के लिए सक्रिय होते हैं। तब हमारे मन में उत्साह का भाव आता है। उत्साह कर्मठता को जगाता है : "कर्म-सौन्दर्य के उपासक ही सच्चे उत्साही कहलाते हैं।" प्रयत्न और कर्म-संकल्प उत्साह नामक आनन्द के लिए लक्षण हैं। उत्साह की व्याख्या करते हुए

उन्होंने देशवासियों की कर्म के लाघव की वासना पर चिन्ता व्यक्त की है : "श्रीकृष्ण के कर्म-मार्ग से फलासक्ति की प्रबलता हटाने का बहुत ही स्पष्ट उपदेश दिया, पर उनके समझाने पर भी भारतवासी इस वासना से ग्रस्त होकर कर्म से तो उदास हो बैठे और फल के इतने पीछे पड़े कि गर्मी में ब्राह्मण को एक पेठा देकर पुत्र की आशा करने लगे, धन-धान्य की वृद्धि तथा और भी न जाने क्या-क्या चाहने लगे।"—(उत्साह)

अब तक के निबन्धों में मनोभावों का ग्राह्य एवं करणीय पक्ष प्रस्तुत किया गया। उनका अकरणीय पक्ष शेष पाँच निबन्धों में है। शुक्लजी कहते हैं : "यदि राम हमारे काम के हैं तो रावण भी हमारे काम का है।" ('श्रद्धा-भक्ति')। तात्पर्य है करणीय का आलोक, अकरणीय का अंधकार पृष्ठभूमि में रहने के कारण अलग दीख पड़ता है। वे बताते हैं कि अच्छी और बुरी वृत्तियों की भिन्नता के बीच से जो मार्ग निकल सकेगा, वही लोक-रक्षा का मार्ग होगा—वही धर्म का चलता हुआ मार्ग होगा। बुराई से अच्छाई की ओर जाने के लिए वे 'लज्जा और ग्लानि' में बताते हैं : "हम बुरे हैं, जब तक यह न समझेंगे, तब तक अच्छे नहीं हो सकते।" संकल्प या प्रवृत्ति हो जाने पर बुराई से बचाने वाले तीन मनोविकार हैं : सात्त्विक वृत्ति वालों के लिए ग्लानि, राजसी वृत्ति वालों के लिए लज्जा और तामसी वृत्ति वालों के लिए भय। विशुद्ध लज्जा अपने विषय में दूसरों की भावना पर दृष्टि रखने से होती है। अपनी बुराई, मूर्खता, तुच्छता इत्यादि का एकान्त अनुभव करने से वृत्तियों में शैथिल्य आता है, उसे ग्लानि कहते हैं। आत्मसुधार के लिए ग्लानि-बोध लज्जानुभव की अपेक्षा श्रेयस्कर है।"

मनुष्य को सही मार्ग पर कायम रखने के लिए उसमें आत्मबोध आवश्यक है। यह उसे भीतर से जगाता है और भय उसे केवल बाहर से रोकता है। 'भय' में वे बताते हैं कि अति भय और भयकारक का सम्मान असभ्यता के लक्षण हैं। अशिक्षित होने के कारण अधिकांश भारतवासी भी भय के उपासक हो गए हैं। निर्भयता के सम्पादन के लिए दो बातें अपेक्षित हैं—पहली तो यह कि दूसरों को हमसे किसी प्रकार का भय या कष्ट न हो, दूसरी यह कि दूसरे हमको कष्ट या भय पहुँचाने का साहस न कर सकें।

वैर का आधार व्यक्तिगत होता है, घृणा का सार्वजनिक। 'घृणा' में शुक्ल जी बताते हैं कि वे कौन से विषय हैं जिन्हें धारण करने वाले के प्रति प्रायः सब मनुष्य घृणा करने के लिए विवश हैं।

देश में फैली हुई आत्महीनता और अकर्मण्यता के कारण उत्पन्न पारस्परिक कटुता के मूल में ईर्ष्या है। ('ईर्ष्या')। ईर्ष्या से किसी का भला नहीं होने वाला। इसीलिए शुक्लजी ने ईर्ष्या से ध्यान हटाने के लिए उसकी तुलना में स्पर्धा की बात छेड़ी है। वे बताते हैं कि ईर्ष्या व्यक्तिगत होती है और स्पर्धा मनुष्य को अपने उन्नति-साधन में तत्पर करती है। इसे, कोई संसार को सच्चा समझने वाला बुरा नहीं कहता। दोनों के बीच स्पष्ट अन्तर बताते हुए वे लिखते हैं : "स्पर्धा में दुःख का विषय होता है, मैंने उन्नति क्यों नहीं की? और ईर्ष्या में दुःख का विषय होता है कि उसने उन्नति क्यों की।" ईर्ष्या सामाजिक जीवन की कृत्रिमता से उत्पन्न एक विष है। इसके प्रभाव से हम दूसरे की बढ़ती से अपनी कोई वास्तविक हानि न देखकर भी व्यर्थ दुःखी होते हैं। फलतः, जिस जाति में, इस छोटाई-बड़ाई का अभियान जगह-जगह जमकर दृढ़ हो जाता है, उसके भिन्न-भिन्न वर्गों के बीच स्थायी ईर्ष्या स्थापित हो जाती है और संघ-शक्ति का विकास बहुत कम अवसरों पर देखा जाता है। अतः ईर्ष्या की सबसे अच्छी दवा है उद्योग और आशा। जिस वस्तु के लिये उद्योग और आशा निष्फल हो, उस पर से अपना ध्यान हटाकर दृष्टि की अनन्तता से लाभ उठाना चाहिए।

क्रोध को दुनिया बुरा कहती है, इसका विष-जैसा प्रभाव मन पर पड़ता है। पर यह भी सच है कि विष ही विष की ओषधि है। शुक्लजी "क्रोध" में बताते हैं कि सामाजिक जीवन में क्रोध की जरूरत बराबर पड़ती है। यदि क्रोध न हो, तो मनुष्य दूसरों के द्वारा पहुँचाए जाने वाले बहुत से कष्टों की चिरनिवृत्ति का उपाय ही न कर सके। यह सब मनोविकारों से फुरतीला है। इसी से अवसर पड़ने पर यह और मनोविकारों का साथ देकर उनकी तुष्टि का साधक होता है। रक्षा का काम क्रोध करता है, पर नाम दया का होता है। पीड़ितों के दुःख देखकर, कर्ता को, क्रोध ही अत्याचारी के दमन के लिए उत्तेजित करता है। इस पर लोग यही कहते हैं कि उसने पीड़ितों को दया करके बचा लिया। क्रोधोत्तेजक दुःख जितना ही अपने समर्थक से दूर होगा, उतना ही लोक में क्रोध का स्वरूप सुन्दर और मनोरम दिखाई देगा। क्षमा जहाँ से श्रीहत होती है, वहीं से क्रोध के सौन्दर्य का आरम्भ होता है। राम का कालाग्नि-सदृश क्रोध ऐसा ही है। वह सात्त्विक तेज है, तामस ताप नहीं।

अब हम 'चिन्तामणि' प्रथम भाग के सात आलोचनात्मक निबन्धों पर विचार करते हैं। इनमें 'कविता क्या है ?', 'काव्य में लोक-मंगल की साधनावस्था', 'साधारणीकरण और व्यक्ति-वैचित्र्यवाद' तथा 'रसात्मक बोध के विविध रूप' निबन्ध काव्य के विश्लेषण-मूल्यांकन के मानदण्डों पर विचार करते हैं। ये सैद्धान्तिक हैं। अधिक सूक्ष्मता में जाने पर इनमें शोध का तत्त्व परिलक्षित होता है। शोध का, संक्षेप में, अर्थ है—किसी रचना या सिद्धान्त की निर्मिति की प्रक्रिया को उद्‌घाटित करना। आलोचना और शोध के सूक्ष्म भेद में अधिक जाने का यहाँ अवसर नहीं। इतना कहना पर्याप्त होगा कि ये निबन्ध सैद्धान्तिक पक्ष को प्रस्तुत करने वाले तथा आलोचना के मार्ग को प्रशस्त करने में समर्थ हैं। इनमें 'कविता क्या है ?', 'काव्य में लोकमंगल की साधनावस्था' तथा 'रसात्मक बोध के विविध रूप' निबन्ध अपनी मौलिक स्थापनाओं के लिए आज भी उल्लेखनीय एवं मननीय हैं। संकलन के शेष दो निबन्ध 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र' तथा 'तुलसी का भक्ति-मार्ग' परिचयात्मक अधिक हैं।

'कविता क्या है ?' के आरम्भ में ही शुक्लजी ने केवल एक अनुच्छेद में जीवन, जगत्, मुक्त हृदय तथा कविता जैसे गूढ़ विषयों की सुलझे हुए ढंग से सूत्रात्मक परिभाषाएँ की हैं। वे बताते हैं कि मनुष्य अपने शरीर को प्रमुखता देने के कारण उसी के नाते शेष संसार से अपने-पराये का सम्बन्ध बनाता है। उसका मन इन बन्धनों से बँधा रहता है। किन्तु जिस क्षण कहीं मार्मिक प्रसंगों में, अपना आपा भुलाकर वह खो जाता है, उस समय उसका मन मुक्तावस्था में होता है। शुक्लजी कहते हैं—"हृदय की इसी मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द-विधान करती आई है, उसे कविता कहते हैं।" फिर वे बताते हैं कि किसी विषय को भावात्मक बनाने के लिए उसे बिम्ब या कल्पना में रूप देना होता है। ये रूप जितने प्रकृति और परिचित जीवन से सँजोए जायँगे, उतने अधिक मार्मिक होंगे और कविता में ग्राह्य होंगे। इन्हें उन्होंने 'मूल व्यापार' कहा है। वे कहते हैं कि ज्यों-ज्यों सभ्यता बढ़ेगी, त्यों-त्यों मनुष्य का जीवन जटिल होगा और उस पर सभ्यता के आवरण पड़ते जायेंगे। मनुष्य को सहज बनाने के लिए ऐसी स्थिति में कवियों को भाव का आश्रय लेना होगा। मनुष्य की अन्तःप्रकृति को प्रभावित और संतुलित करने के लिए बाह्य प्रकृति या मूल व्यापारों के चित्रण की आवश्यकता कविता में बनी रहेगी।

'काव्य में लोकमंगल की साधनावस्था' में उन्होंने जीवन में आनन्द-तत्त्व के महत्त्व को स्पष्ट किया है। वे बताते हैं कि स्वार्थ और शोषण-वृत्ति के कारण समाज में दुःख छाया रहता

है। उसी के भीतर से, संघर्ष कर तेजस्वी जन आनन्द का विधान करते हैं। आनन्द की साधनावस्था तथा सिद्धावस्था के काव्य के आधार को उन्होंने खूबी से स्थापित किया है। उन्होंने 'रामचरितमानस' जैसे साधनावस्था के काव्य को वरीयता दी है।

'रसात्मक बोध के विविध रूप' में शुक्लजी ने बताया है कि हम इस दृश्य संसार को अपनी चेतना में तीन प्रकार से ग्रहण करते हैं। एक है—प्रत्यक्ष, आँख से देखकर, अपने अनुभव में लाकर। दूसरा है—स्मृत, देखे हुए की अनुपस्थिति में उसे याद करना। तीसरा है—कल्पित, देखे-समझे के आधार पर कुछ नवीन की योजना करना। कल्पित रूप-विधान साहित्य के माध्यम से प्रस्तुत होता है। साहित्य-चिन्तकों ने कल्पित रूप-विधान या साहित्य के माध्यम से ही रसात्मक बोध की उन संभावनाओं पर विचार किया है। प्रत्यक्ष रूप-विधान के अन्तर्गत वे रसात्मक बोध की संभावना स्वीकार नहीं करते। शुक्लजी ने गहन दृष्टि से सोदाहरण सिद्ध किया है कि प्रत्यक्ष अनुभव-प्रक्रिया में भी हम जिस समय अपने-पराये का भाव भूलकर विशेष तल्लीन होते हैं, वहाँ हमें रसात्मक बोध होता है। उन्होंने स्मृत रूप-विधान के अन्तर्गत बताया है कि रागात्मक स्मरण में हम अपनी भावात्मक सत्ता को वर्तमान से अतीत में ले जाकर आत्म-प्रसार करते हैं या आत्ममय हो जाते हैं और आत्मा के सहज गुण आनन्द या रस की प्राप्ति करने लगते हैं। उन्होंने आगे बताया है कि कभी-कभी स्मृति के अभाव से ही हमारी कल्पना सक्रिय होकर रसात्मक अनुभव प्राप्त करती है। इसका आनन्द सहृदय जानते हैं। अन्त में शुक्ल जी ने, प्रसंगवश, मनुष्य की अतीतप्रियता, स्मारक बनाकर छोड़ने की प्रवृत्ति और अतीत के विषम पक्षों के विषय में सूक्ष्मता और भाव-प्रवणता से लिखा है, उस अंश को हम गद्य में रचित उच्चकोटि का काव्य कह सकते हैं।

× × ×

शुक्लजी अपनी मान्यताओं के प्रति आश्वस्त ही नहीं, आग्रहशील भी हैं। शुक्लजी ने स्थापित सिद्धान्तों पर विचार करते समय जहाँ उन्हें अपनी धारणा के विरुद्ध पाया है, तीव्र प्रतिक्रिया भी व्यक्त की है। जैसे पण्डितराज जगन्नाथ द्वारा की गई काव्य की परिभाषा में 'रमणीय' शब्द पर उन्हें घोर आपत्ति है। 'रमणीय' का अर्थ उन्होंने 'मनोरंजन' कर लिया है और काव्य की आत्मा 'मनोरंजन' होने की कल्पना से ही वे उग्र हो उठे हैं। उन्होंने यह सोचने की आवश्यकता नहीं समझी कि 'रमणीय' का अर्थ है—जो मन को रमाता है। जो मन को रमायेगा, वह भाव-प्रधान या रसात्मक होगा। ऐसी ही, पाश्चात्य सिद्धान्तों में व्यक्ति-वैचित्र्य की धारणा उन्हें ऐसी खटकी कि वे उस पर प्रहार करते थकते नहीं।

क्रोचे के अभिव्यंजनावाद में अभिव्यंजना का अर्थ बाह्य अभिव्यक्ति या उक्ति कर लेने पर, उन्होंने उसकी जम कर आलोचना की है। और, 'चिन्तामणि' (द्वितीय भाग) में संकलित तत्संबंधी निबन्ध में वे इस पर प्रहार करते हुए सन्तुलन ही खो बैठे हैं। वास्तव में, अभिव्यंजनावाद कलाकार की अन्तश्चेतना की मानसिक बिम्ब के रूप में परिणति की सूक्ष्म प्रक्रिया का गहन विश्लेषण करता है।

प्रोफे० एवं अध्यक्ष,
हिन्दी विभाग,
**महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय,**
रोहतक (हरियाणा)

# आचार्य शुक्ल की समीक्षा में मिथक-तत्त्व

●

श्री अनिलकुमार तिवारी

पाश्चात्य साहित्य में उन्नीसवीं शती के मध्यकाल से व्हिस्ट्लर द्वारा प्रस्थापित यह मत पूर्णतः प्रसिद्धि प्राप्त कर चुका था कि सौन्दर्यानुभव एक भिन्न प्रकार का अनुभव होता है और इसका दूसरे अनुभवों से कोई सम्बन्ध नहीं होता है। अंग्रेजी में इसके प्रबल पोषक ब्रैडले महोदय थे। उन्होंने अपने 'ऑक्सफोर्ड लेक्चर्स ऑन पोएट्री' में कविता की उत्तमता की परख के लिए बाहरी मूल्यों का निषेध करते हुए उसके भीतर से गुजरने की बात कही थी। उनकी दृष्टि में 'कविता की दुनिया ही निराली है; उसकी प्रकृति या सत्ता न तो प्रत्यक्ष जगत् का कोई अंग है, न अनुकृति'। इसका प्रत्याख्यान करते हुए आई० ए० रिचर्ड्स ने जो वक्तव्य दिया था, उसका एक अंश आचार्य शुक्ल ने अपने इतिहास-ग्रन्थ में ज्यों का त्यों उद्धृत किया है।[1]

शुक्लजी द्वारा उद्धृत रिचर्ड्स का यह वक्तव्य दो दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। एक तो यह कि रिचर्ड्स ने भी कविता के प्रति भीतरी लगाव को ही महत्त्वपूर्ण तो माना, लेकिन उसके साथ यह बात भी जोड़ दी कि जो काव्यानुभव होता है, वह जीवन से ही होकर आता है, और शेष जगत् से भिन्न उसकी कोई पृथक् अलौकिक सत्ता नहीं होती है। 'सर्वग्राह्यता' उसकी सबसे बड़ी विशेषता है। इस वक्तव्य के महत्त्व का दूसरा कारण कम से कम यह सिद्ध करने में सहायक होना है कि शुक्लजी 'मिथ' शब्द से भलीभाँति परिचित थे और इसके प्रति उनकी अपनी एक विशेष अवधारणा थी।

रिचर्ड्स के उक्त मत की मीमांसा करते हुए आचार्य शुक्ल ने अपने यहाँ के सम्पूर्ण काव्य-क्षेत्र की अन्तःप्रकृति की छानबीन की है और उसके भीतर निहित जीवन के अनेक पक्षों और जगत् के नाना रूपों के साथ मनुष्य-हृदय के गूढ़ सामंजस्य को आरेखित किया है। उनके अनुसार 'जीवन के और साधनों की अपेक्षा काव्यानुभव में विशेषता यह होती है कि यह एक ऐसी रमणीयता के रूप में होता है जिसमें व्यक्तित्व का लय हो जाता है। बाह्य जीवन और अन्तर्जीवन की कितनी उच्चभूमियों पर इस रमणीयता का उद्घाटन हुआ है; किसी काव्य की उच्चता और उत्तमता के निर्णय में इसका विचार अवश्य होता आया है, और होगा।'[2] शुक्ल जी के इस कथन में संकेतित काव्यानुभव की जिस 'रमणीयता' में 'व्यक्ति का लय' होता है, वह मिथक के मूल में निहित सर्वग्राह्य समष्टि-चित्त की सार्वभौमिक एवं सार्वकालिक एकतानता ही है, कोई दूसरी वस्तु नहीं। इस विन्दु पर शुक्लजी रिचर्ड्स से एकमेक हो जाते हैं, लेकिन इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि वे उनका अन्धानुकरण करते हैं। समग्र पाश्चात्य एवं भारतीय मतों का गम्भीर मन्थन करने के बाद ही उन्होंने स्वयं एक मौलिक आलोचना-दृष्टि विकसित की थी।

आचार्य शुक्ल के समूचे सैद्धान्तिक विवेचन में 'अन्तःप्रवृत्ति', 'भीतरी प्रवृत्ति', 'रागात्मिका वृत्ति', 'परम्परागत दीर्घ वासना' जैसी शब्दावलियों की बार-बार आवृत्ति हुई है। स्थान-स्थान पर वे अतीत से गहरा लगाव भी प्रदर्शित करते हुए मिलते हैं। उन्होंने लिखा है कि 'काव्य के लिए अनेक स्थलों पर हमें भावों के विषयों के मूल और आदिम रूपों तक जाना होगा जो मूर्त और गोचर होंगे। जब तक भावों से सीधा और पुराना लगाव रखने वाले मूर्त

और गोचर रूप न मिलेंगे, तब तक काव्य का वास्तविक ढाँचा खड़ा न हो सकेगा।'[3] शुक्लजी की दृष्टि में भावों के इन आदि रूपों और व्यापारों में, वंशानुगत वासना की दीर्घ परम्परा के प्रभाव से, भावों के उद्‌बोधन की गहरी शक्ति संचित रहती है। अतः इन्हीं आदि रूपों और व्यापारों द्वारा श्रावक या पाठक के हृदय में वास्तविक एवं स्वाभाविक रस-परिपाक सम्भव होता है। कहना न होगा कि मिथक भी वंशानुगत वासना की दीर्घ परम्परा के ही परिणाम होते हैं और उनका भी आधार भावों के आदि रूपों और व्यापारों में ही सन्निहित होता है। समष्टि-चित्त की सार्वभौम एवं सार्वकालिक एकता के ही कारण आचार्य शुक्ल यह भी कहते हैं कि 'भावों के विषयों और उनके द्वारा प्रेरित व्यापारों में जटिलता आने पर भी उनका सम्बन्ध मूल विषयों और मूल व्यापारों से भीतर-भीतर बना है और बराबर बना रहेगा।'

आचार्य शुक्ल द्वारा निर्धारित सहृदय भावुक की परिभाषा उसे आदिम मनुष्य के साथ जोड़ने वाली है। उनके मतानुसार केवल असाधारणत्व की रुचि सच्ची सहृदयता की पहचान नहीं है। शोभा और सौन्दर्य की भावना के साथ जिनमें मनुष्य जाति के उस समय के पुराने सहचरों की वंशपरम्परागत स्मृति वासना के रूप में बनी हुई है, जब वह प्रकृति के खुले क्षेत्र में विचरती थी, वे ही पूरे सहृदय भावुक कहे जा सकते हैं।[4] उनके द्वारा कविता के विवेचन में अनेक 'संस्कार', 'वंशानुगत वासना की दीर्घ परम्परा', 'अन्तस्संज्ञावर्तिनी अव्यक्त स्मृति', 'अन्तःकरण में निहित वासना', 'रागात्मिका वृत्ति', 'जन्मगत वासना', 'अतीत का दीर्घ पटल', 'अतीत की प्रीतिस्निग्ध जागृत स्मृति' जैसे समीक्षात्मक मुहावरों का प्रयोग भी मिथक और काव्य की पारस्परिकता को रेखांकित करने वाला है।

आचार्य शुक्ल की विचारणा में कविता को यों ही उड़ान भरना नहीं होता, उसे अनुभूति या रागात्मिक वृत्ति के आदेश पर चलना पड़ता है। यह रागात्मिक वृत्ति उस आदिम परिवेश के बीच, जिसमें आज का मनुष्य भी अपना जीवन व्यतीत करता है, उसके प्रति प्रेमभावपूर्ण साहचर्य के प्रभाव से संस्कार या वासना के रूप में हम सभी के अन्तःकरण में निहित रहती है। उसके मतानुसार पूर्वजनों की दीर्घ परम्परा द्वारा चली आती हुई जन्मगत वासना के अतिरिक्त जीवन में भी बहुत से संस्कार प्राप्त किये जाते हैं जिनके कारण कुछ वस्तुओं के प्रति विशेष भाव अन्तःकरण में प्रतिष्ठित हो जाते हैं। इसीलिए पशुत्व से ऊपर उठा हुआ मनुष्य उस कोटि की पहुँची हुई सत्ता है जो उस अल्प क्षण में ही आत्म-प्रसार को बद्ध रखकर सन्तुष्ट नहीं हो सकती जिसे वर्तमान कहते हैं। यह अतीत के दीर्घ पटल को भेदकर अपनी अन्वीक्षण बुद्धि को ही नहीं, रागात्मिका वृत्ति को भी ले जाती है। यही कारण है कि शुक्लजी की सम्मति में हमारे 'भावों' के लिए भूतकाल का क्षेत्र अत्यन्त पवित्र है।[5] यहाँ यह स्पष्ट कर देना अप्रासंगिक न होगा कि मनुष्य का यह 'भूतकाल का पवित्र क्षेत्र' उसके सामूहिक अवचेतन में दीर्घ काल से चली आ रही पवित्र मिथकीय परम्परा में ही सुरक्षित रहता है।

आचार्य शुक्ल के अनुसार मनुष्य जितना सुख-सौन्दर्य इस जगत् में देखता है, उतने से ही उसकी भावना परितृप्त नहीं होती, वह सुख-सौन्दर्य को अधिक पूर्ण रूप में देखना चाहता है। मनुष्य की भावना या कल्पना को इस पूर्णता के अवस्थान के लिए शुक्लजी चार क्षेत्रों का संकेत करते हैं[6] : (i) इस भूलोक के बाहर, पर व्यक्त जगत् के भीतर ही किसी अन्य लोक में; (ii) इस भूलोक के भीतर ही, पर अतीत के क्षेत्र में; (iii) इस भूलोक के भीतर ही, पर भविष्य के गर्भ में; तथा (iv) इस गोचर जगत् के परे अभौतिक और अव्यक्त के क्षेत्र में। आगे इसकी व्याख्या करते हुए उन्होंने लिखा है कि इनमें से प्रथम क्षेत्र की ओर मनुष्य जाति का ध्यान

स्वभावत: सबसे पहले गया । पृथ्वी पर रहकर भी मनुष्य ने व्यक्त जगत् की अनन्तता का प्रत्यक्ष अनुभव किया । द्वितीय क्षेत्र में सुख-सौन्दर्य की पूर्णता की भावना उस समय से हुई जब प्राचीन इतिहास, कथा-पुराण आदि का मौखिक प्रचार मनुष्य जाति के बीच हुआ । इन दोनों क्षेत्रों में शुक्लजी का संकेत क्रमश: मिथकीय कल्पना के भव्य अलौकिक तथा जातीय निष्ठा से युक्त स्वरूप की ओर है । उनके द्वारा सुख-सौन्दर्य की पूर्णता की भावना का उपरिलिखित तीसरा क्षेत्र एकदम आधुनिक है । इसका प्रादुर्भाव मनुष्य जाति की स्थिति पर व्यापक दृष्टि से विचार करने की वर्तमान प्रवृत्ति के साथ-साथ हुआ है । शुक्लजी के अनुसार यह सुख-स्वप्न 'भविष्य की उपासना' या 'भविष्य का प्रेम' है; पर उनकी दृष्टि में, यह कहना कि 'भूत के प्रेम' के स्थान पर 'भविष्य के प्रेम' ने घर कर लिया है, एक प्रकार की रूढ़ि या बनावट ही है । यहाँ वे एक बार पुन: हृदय की उस वंशपरम्परागत वासना का उल्लेख करते हैं जिसके संघटन में इतिहास, कथा, आख्यान आदि का भी बहुत कुछ योग रहता है ।

आचार्य शुक्ल मनुष्य के हृदय में अवस्थित 'अतीत के प्रति अनुराग' की विस्तृत व्याख्या न करते हुए अपने को केवल शुद्ध कला की दृष्टि से मनुष्य की रागात्मक प्रकृति के स्वरूप तक ही सीमित रखते हैं । 'अतीत के राग' को उन्होंने एक बहुत ही प्रबल भाव कहा है जिसकी सत्ता का अस्वीकार हम कभी भी, किसी भी दशा में नहीं कर सकते, क्योंकि स्वयं उन्हीं के शब्दों में, "अतीत का और हमारा साहचर्य बहुत पुराना है । उसे हम जानते हैं, पहचानते हैं, इसलिए प्यार करते हैं । भविष्य को हम नहीं जानते, उसकी हमारी जान-पहचान तक नहीं । उसके साथ प्रेम कैसा ? परिचय के बिना प्रेम हम नहीं मानते । प्रेम के लिए परिचय चाहिए; चाहे पूरा, चाहे अधूरा ।"[७] प्रकट है कि अतीत के प्रति उनका अनुराग बहुत गहरा है और यह अतीत मिथकीय धरोहर होता है । इसे हम मिथकों के माध्यम से ही पीढ़ी-दर-पीढ़ी एक-दूसरे को स्थानान्तरित करते हुए प्राप्त करते हैं । शुक्लजी कविकर्म पर विचार करते समय उसके मूल में निहित दिव्य काव्यानुभूति की सत्ता के महत्त्व को विशेष रूप से रेखांकित करते हैं । उनके मत में यह दिव्य अनुभूति समय-समय पर सबको हुआ करती है, अर्थात् मिथकीय अनुभूति की ही तरह यह भी सार्वजनीन होती है । प्रेमियों के प्रेम-व्यापार, दु:खियों के दु:ख, अत्याचारियों की क्रूरता देख-सुनकर जो रति, करुणा और क्रोध जागृत होता है, छूटे हुए स्वदेश की अतीत काल के दृश्यों की जो प्रीतिस्निग्ध स्मृति जाग्रत होती है, लोकरंजक महात्माओं के प्रति जिस श्रद्धा या भक्ति का उदय होता है, उन सबकी अनुभूति 'शुद्ध भावक्षेत्र' की अनुभूति है । जब तक इस प्रकार की अनुभूति में कोई लीन रहे, तब तक उस पर अव्यक्त काव्य का आवेश समझना चाहिए ।[८] शुक्लजी द्वारा निर्दिष्ट यह 'अव्यक्त काव्य' और उससे सम्पृक्त 'आवेश' एक वैश्वक एवं सामष्टिक अवधारणा है जिससे अल्पाधिक मात्रा में प्रत्येक मनुष्य सम्बद्ध रहता है ।

कविता भावों की वस्तु है । आदिम युग से ही यह हृदय के भावों से ही उत्थित होती आ रही है । इस सम्बन्ध में शुक्लजी का कहना है कि प्रेम, उत्साह, आश्चर्य, करुणा आदि की व्यंजना के लिए ही आदिम कवियों ने अपना स्निग्ध कण्ठ खोला था । तब से आज तक संसार की प्रत्येक सच्ची कविता की तह में भावानुभूति आत्मा की तरह चली आ रही है । इसका स्पष्टीकरण करती हुई उनकी ये रूपकाश्रयी मिथकीय पंक्तियाँ ध्यान देने योग्य हैं, "कविता देवी के अन्त:पुर में 'सुन्दर', 'प्रिय' होकर ही प्रवेश कर सकता है । जो 'सुन्दर' प्रेम का आलम्बन होता है, जिसकी ओर हमारी रागात्मिका वृत्ति प्रवृत्त होती है, जिसका स्मरण आने पर हृदय द्रवीभूत हो सकता है—चाहे वह व्यक्ति या वस्तु हो, चाहे प्रकृति का कोई खण्ड—वही काव्य का असली अंग हो सकता है ।"[९]

आचार्य शुक्ल के अनुसार जो लोग सभ्यता की ज्ञानसत्ता-प्रधान विस्तृत परिधि के अनुरूप अपने हृदय-क्षेत्र का विस्तार नहीं कर पाते और मूल प्राकृतिक व्यापारों को छोड़कर मनुष्य-प्रवर्तित व्यापारों में पड़कर रह जाते हैं, उनका हृदय इतना कुण्ठित हो जाता है कि उनमें उन सामान्य प्राकृतिक परिस्थितियों में, जिनमें अत्यन्त आदिम कल्प में मनुष्य जाति ने अपना जीवन व्यतीत किया था तथा उन प्राचीन मानव-व्यापारों में, जिनमें वन्य दशा से निकल कर वह अपने निर्वाह और रक्षा के लिए लगी, लीन होने की वृत्ति दब गयी। इसी को शुक्लजी इस रूप में भी कहते हैं कि उनमें करोड़ों पीढ़ियों को पार करके आने वाली अन्तस्संज्ञावर्तिनी वह अव्यक्त स्मृति नहीं रह गयी जिसे वासना या संस्कार कहते हैं।[10] अपने अतीत से एकदम विच्छिन्न मनुष्य को आचार्य शुक्ल ने मात्र एक तमाशबीन, थोथा चमत्कारी और यहाँ तक कि मरे हुए हृदय वाला भी घोषित कर दिया है। स्पष्ट है कि वे किसी भी स्तर पर अतीत को छोड़ने के पक्ष में नहीं हैं। विभिन्न विद्वानों ने मिथक को आदिम मस्तिष्क की रचना या धारणा बताया है जो मानव-समाज को आदिम युग से अब तक शुक्लजी द्वारा निर्दिष्ट अतीत की वंशपरम्परागत स्मृति वासना के रूप में करोड़ों पीढ़ियों को पार करते हुए एक अमूल्य धरोहर की तरह प्राप्त होती आ रही है।

आचार्य शुक्ल ने अपनी सभी समीक्षा-कृतियों में 'अतीत की स्मृति' पर बार-बार बल दिया है; क्योंकि उसमें मनुष्य के लिए स्वाभाविक आकर्षण होता है। हृदय के लिए अतीत एक मुक्तिलोक है जहाँ वह अनेक प्रकार के बन्धनों से छूटा रहता है और अपने शुद्ध रूप में विचरता है। यहाँ शुक्लजी का लक्ष्य सम्भवतः यह संकेतित करना है कि मनुष्य के हृदय को शुद्ध रूप में उन्मुक्त एवं स्वच्छन्द विचरण का यह अवसर मिथकीय लोक में ही प्राप्त होता है, किसी अन्य लोक में नहीं। आगे उनका विचार और स्पष्ट रूप में सामने आता है और वे दृढ़तापूर्वक यह घोषित करते हैं कि "वर्तमान हमें अन्धा बनाए रहता है; अतीत बीच-बीच में हमारी आँखें खोलता रहता है। मैं तो समझता हूँ कि जीवन का नित्य स्वरूप दिखाने वाला दर्पण मनुष्य के पीछे रहता है; आगे तो बराबर खिसकता हुआ दुर्भेद्य परदा रहता है।.........बीती बिसारने का अभिप्राय है जीवन की अखण्डता और व्यापकता की अनुभूति का विसर्जन; सहृदयता और भावुकता का भंग—केवल अर्थ की निष्ठुर क्रीड़ा।"[11]

मिथक में किसी भी जाति के समष्टि-चित्त की समूहगत भावनाएँ, आस्था और विश्वास अभिनिविष्ट होते हैं। आचार्य शुक्ल ने भी अनेक स्थलों पर कहीं प्रत्यक्ष रूप में तो कहीं परोक्ष रूप में इसकी व्याख्या की है। कविता के सम्बन्ध में सदा ही उनकी धारणा रही है कि वह एक ऐसी साधना है जिसके द्वारा शेष सृष्टि के साथ मनुष्य के शुद्ध रागात्मक सम्बन्ध की रक्षा और निर्वाह तथा उसके हृदय का प्रसार और परिष्कार होता है। उनके मत में काव्य का लक्ष्य है जगत् और जीवन के मार्मिक पक्ष को गोचर रूप में लाकर सामने रखना जिससे मनुष्य अपने व्यक्तिगत संकुचित घेरे से अपने हृदय को निकाल कर उसे विश्वव्यापिनी और त्रिकालवर्तिनी अनुभूति में लीन करे। इसी लक्ष्य के भीतर जीवन के ऊँचे से ऊँचे उद्देश्य आ जाते हैं। इसी लक्ष्य की साधना से मनुष्य का हृदय जब विश्वहृदय, भगवान् के लोकरक्षक और लोकरंजक हृदय से जा मिलता है, तब वह भक्ति में लीन कहा जाता है। यह जगत् ब्रह्म का व्यक्त स्वरूप है और समष्टि रूप में शाश्वत और अनन्त है।[12] यद्यपि शुक्लजी के समय में पाश्चात्य जगत् में भी मिथकीय समीक्षा का कोई विशेष प्रचलन नहीं था, लेकिन जो बातें उन्होंने उस समय कह दी थीं, उसे ही आज का मिथ-समीक्षक भी दुहराता है। उसकी भी यही मान्यता है कि सामष्टिक मिथकीय सत्ता शाश्वत और अनन्त होती है।

शुक्लजी के मतानुसार समष्टि-रूप में ही काव्य-दृष्टि समस्त जीवन-क्षेत्र को अपना विषय बना सकती है, क्योंकि विच्छिन्न दृष्टि की अपेक्षा ऐसी दृष्टि में अधिक व्यापकता और गम्भीरता रहती है। इस प्रकार रचित काव्य ही हृदय को प्रकृत दशा में लाता है। भावायोग की सबसे उच्च कक्षा पर पहुँचे हुए मनुष्य का जगत् के साथ पूर्ण तादात्म्य हो जाता है, उसकी अलग भावसत्ता नहीं रह जाती, उसका हृदय विश्वहृदय हो जाता है। उसकी अश्रुधारा में जगत् की अश्रुधारा का, उसके हास-विलास में जगत् के आनन्द-नृत्य का, गर्जन-तर्जन में जगत् के गर्जन-तर्जन का आभास मिलता है।[१३] कविता के माध्यम से कवि की समस्त जगत् से इस प्रकार की एकतानता मिथकीय कल्पना के द्वारा ही सम्भव होती है और तभी वह 'विश्वहृदय' बनकर अपने स्वर को सार्वदेशिक एवं सार्वजनीन काव्यमयी अभिव्यक्ति दे पाता है।

विभावन-व्यापार के सम्बन्ध में भी आचार्य शुक्ल ने 'समष्टि-चित्त' अथवा 'सामग्र्य-भाव' का उल्लेख किया है। आधुनिक होते हुए भी वे मूलतः रसवादी आलोचक ही थे; अतः उन्होंने रस को ही काव्य में प्रधान वस्तु माना है और उसका आधार खड़ा करने वाले विभावन-व्यापार को कल्पना का सबसे बड़ा प्रधान कार्यक्षेत्र कहा है। उनके कथनानुसार रागात्मिका वृत्ति के आदेश पर चलने वाली कल्पना को ऐसे स्वप्न खड़े करने पड़ते हैं जिनके द्वारा रति, हास, शोक, क्रोध इत्यादि का स्वयं अनुभव करने के कारण कवि जानता है कि श्रोता या पाठक भी उनका वैसा ही अनुभव करेंगे। अपनी अनुभूति की व्यापकता के कारण मनुष्य मात्र की अनुभूति तथा उनके विषयों को अपने हृदय में रखने वाले ही ऐसे स्वरूपों को अपने मन में ला सकते हैं और कवि कहे जाने के अधिकारी बन सकते हैं।[१४] शुक्लजी की दृष्टि में ऐसे कवियों की काव्यभूमि उतनी ही अधिक विस्तृत है जितना की यह जगत् और मानव-जीवन। व्यक्त और गोचर कवि-कल्पना समष्टि-रूप में ही शाश्वत और अनन्त हो पाती है। इसी प्रकार श्रोता या पाठक मनुष्य भी जब तक इस पुनीत भावभूमि में रहता है, तभी तक वह अनन्त काव्य के भावुक श्रोता या पाठक या द्रष्टा के रूप में रह पाता है। ऐसा न होने पर वह काव्यानुभव से विच्छिन्न हो जाता है।[१५] इस प्रकार आचार्य शुक्ल कवि और पाठक या श्रोता दोनों को हृदय की स्वाभाविक प्रवृत्ति के द्वारा अपने वैभवपूर्ण अतीत, सम्पूर्ण चराचर तथा विश्व के साथ एकता बनाए रखने का सुझाव देते हैं। मिथक इस एकता का एक महत्त्वपूर्ण माध्यम होता है।

कविता में निहित समष्टि-भावना को व्याख्यायित करते हुए आचार्य शुक्ल ने लिखा है कि "कविता ही मनुष्य के हृदय को स्वार्थ-सम्बन्धों के संकुचित मण्डल से ऊपर उठाकर लोक-सामान्य भावभूमि पर ले जाती है जहाँ जगत् की नाना गतियों के मार्मिक स्वरूप का साक्षात्कार और शुद्ध अनुभूतियों का संचार होता है। इस भूमि पर पहुँचे हुए मनुष्य को कुछ काल के लिए अपना पता नहीं रहता। वह अपनी सत्ता को लोकसत्ता में लीन किये रहता है। उसकी अनुभूति सबकी अनुभूति होती है या हो सकती है। इस अनुभूति के योग के अभ्यास से हमारे मनोविकारों का परिष्कार तथा शेष सृष्टि के साथ हमारे रागात्मक सम्बन्ध की रक्षा और निर्वाह होता है।"[१६] अपनी समष्टि-प्रधान दृष्टि के कारण ही शुक्लजी मनुष्येतर प्रकृति के बीच के रूप-व्यापार को भी समष्टि-चित्त के भीतर भावों या तथ्यों से सम्पृक्त बताते हुए कहते हैं कि सामान्य दृष्टि भी वर्षा की झड़ी के पीछे उनके हर्ष और उल्लास को; ग्रीष्म के प्रचण्ड आतप में उसकी शिथिलता और म्लानता को; शिशिर के कठोर शासन में उनकी दीनता को; मधुकाल में उनके रसोन्माद, उमंग और हास को; प्रबल वात के झकोरों में उनकी विकलता को; आकाश के प्रति उनकी ललक को देख सकती है। अपने इधर-उधर हरी-भरी लहलहाती प्रफुल्लता का

विधान करती हुई नदी की अविराम जीवन-धारा में हम द्रवीभूत औदार्य का दर्शन करते हैं। पर्वत की ऊँची चोटियों में विशालता और भव्यता का; वात-विलोड़ित जल-प्रसार में क्षोभ और आकुलता का तथा बिजली की कँपाने वाली कड़क और ज्वालामुखी के ज्वलन्त स्फोट में भीषणता का आभास मिलता है। ये सब विश्व-रूपी महाकाव्य की भावनाएँ या कल्पनाएँ हैं। स्वार्थ-भूमि से परे पहुँचे हुए सच्चे अनुभूति-योगी या कवि इनके द्रष्टा मात्र होते हैं।[१७]

आचार्य शुक्ल ने प्रेम को एक बीज-भाव मानते हुए उसके मूल वासनात्मक रूप 'राग' का उल्लेख किया है जो मनुष्य की अन्तःप्रकृति में निहित रहकर सम्पूर्ण सजीव सृष्टि के साथ किसी गूढ़ सम्बन्ध की अनुभूति के रूप में समय-समय पर जगा करता है। उनकी दृष्टि में मनुष्य की प्रकृति के भीतर अव्यक्त रूप में यह रागात्मक सम्बन्ध-सूत्र चर-अचर सारे प्राणियों के साथ जुड़ा हुआ है। इसी प्रकार 'आप्त' शब्द या इतिहास पर आधारित स्मृत्याभास कल्पना के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए उनका कहना है कि जैसे अपने व्यक्तिगत अतीत जीवन की मधुर स्मृति मनुष्य में होती है, वैसे ही समष्टि-रूप में अतीत नर-जीवन की भी एक प्रकार की स्मृत्याभास कल्पना होती है जो इतिहास के संकेत पर जागती है। मानव-जीवन की चिरकाल से चली आती हुई अखण्ड परम्परा के साथ तादात्म्य की यह भावना आत्मा के शुद्ध रूप की नित्यता, अखण्डता और व्यापकता का आभास देती है।[१८]

विभिन्न प्राकृतिक तत्त्वों, ऋतुओं तथा अन्य प्राकृतिक परिवर्तनों के साथ मिथकों की गहरी सम्बन्धमयता होती है। विभिन्न ऋतुओं, दिन-रात, सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी, अग्नि, जल, वायु, पर्वत, सरिता आदि के विभिन्न रहस्यों का उद्घाटन करने वाले अनेक मिथक विश्व में प्रसिद्ध हैं। इन मिथकों के मूल में मनुष्य की सामष्टिक भावना सर्वत्र एकसमान विद्यमान पायी जाती है। इन सबके साथ मनुष्य मात्र के भीतर छिपी परम्परागत रागात्मक भावना जुड़ी रहती है। आचार्य शुक्ल ने भी इस तथ्य की ओर बार-बार संकेत किया है।[१९] ऐसा करते समय उनका उद्देश्य मनुष्य की उन आदिम प्रवृत्तियों की सार्वकालिक एवं सार्वभौमिक जीवन्तता को रेखांकित करना होता है जो मनुष्य के चिर-सहचर आदि रूपों और व्यापारों में वंशानुगत वासना की दीर्घ परम्परा के प्रभाव से आज भी हमारे सामूहिक अवचेतन में अवस्थित हैं।

आचार्य शुक्ल के अनुसार मनुष्येतर प्रकृति के बीच के रूप-व्यापार कुछ भीतरी भावों या तथ्यों की भी व्यंजना करते हैं। मनुष्य शेष प्रकृति के साथ अपने रागात्मक सम्बन्ध का विच्छेद करने से अपने आनन्द की व्यापकता को नष्ट करता है; क्योंकि उनके प्रति आकर्षण का कारण हमारे अन्तःकरण में निहित वासना होती है। कोई असाधारण चमत्कार या अपूर्व शोभा इसका कारण नहीं होती। देशप्रेम को शुक्लजी मनुष्य और मनुष्येतर प्रकृति के साथ प्रेम का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण बताते हैं; क्योंकि इसका आलम्बन सारा देश, अर्थात् मनुष्य, पशु, पक्षी, नदी, नाले, वन, पर्वत सहित सारी भूमि होता है। जो हृदय संसार की जातियों के बीच अपनी जाति की स्वतन्त्र सत्ता का अनुभव नहीं कर सकता, वह देशप्रेम का दावा नहीं कर सकता। शुक्ल जी की विचारणा में प्रकृति के विभिन्न उपकरण हमारे पुराने सहचर हैं और हमारे हृदय के प्रसार के लिए बने हुए हैं। इनके प्रति युग-युगादि का संचित प्रेम, जो मनुष्य की दीर्घ वंशपरम्परा के बीच वासना-रूप में निहित चला आ रहा है, उसकी अनुभूति के उद्बोधन में ही मनुष्य की रागात्मिका प्रकृति का पूर्ण परिष्कार और मनुष्य के कल्याण-मार्ग का अबाध प्रसार दिखाई पड़ता है।[२०] प्रकृति के आदिम स्वरूप के प्रति श्रद्धा दर्शाती आचार्य शुक्ल की यह टिप्पणी भी विशेष रूप से ध्यातव्य है, "ज्यों-ज्यों मनुष्य अपनी सभ्यता की झोंक

में इन प्राचीन सहचरों से दूर हटता हुआ अपने क्रिया-कलाप को कृत्रिम आवरणों से आच्छन्न करता जा रहा है, त्यों-त्यों उसका असली रूप छिपता चला जा रहा है। इस असली रूप का उद्घाटन तभी हुआ करेगा जब वह अपने बुने हुए घने जाल के घेरे से निकलकर कभी-कभी प्रकृति के अपार क्षेत्र की ओर दृष्टि फैलाएगा और अपने इन पुराने सहचरों के सम्बन्ध का अनुभव करेगा।"[२१] उनका यह वक्तव्य हमें एक मिथक-समीक्षक की याद दिलाता है, क्योंकि आज की स्वार्थान्ध एकोन्मुखता तथा तर्क और बुद्धिवाद की आतंकग्रस्तता से मुक्ति के लिए वह भी सहज रागात्मक मूल्यों का आग्रही है।

'रसमीमांसा' में भी आचार्य शुक्ल ने प्राकृतिक एवं आदिम संवेदना के प्रति अपनी गहरी प्रसक्ति प्रदर्शित की है। उनके मतानुसार यह कहने की आवश्यकता नहीं कि वन, पर्वत, नदी, निर्झर आदि प्राकृतिक दृश्य हमारे राग या रति भाव के स्वतन्त्र आलम्बन हैं, उनमें सहृदयों के लिए सहज आकर्षण विद्यमान है। इन दृश्यों के अन्तर्गत जो वस्तुएँ और व्यापार होंगे, उनमें जीवन के मूल स्वरूप और मूल परिस्थिति का आभास पाकर हमारी वृत्तियाँ तल्लीन होती हैं। यहाँ शुक्ल जी प्रकृति से आदिम मनुष्य के उस सहज-स्वाभाविक रागात्मक सम्बन्ध को विशेष रूप से आरोपित करना चाहते हैं जो परम्परा से चला आता हुआ आज के बुद्धिप्रधान आधुनिक मनुष्य में भी वर्तमान तो है, लेकिन अत्याधुनिकता के कारण जिसके अस्तित्व को खतरा उत्पन्न हो रहा है। इसलिए वे दृढ़तापूर्वक यह स्थापना भी करते हैं कि 'जो व्यापार केवल मनुष्य की अधिक समुन्नत बुद्धि के परिणाम होंगे, जो उनके आदिम जीवन से बहुत इधर के होंगे, उनमें प्राकृतिक या पुरातन व्यापारों की सी तल्लीन करने की शक्ति न होगी।'[२२]

मनोविश्लेषणशास्त्री कार्ल जुंग ने अपने 'सामूहिक अचेतन' के सिद्धान्त के अन्तर्गत आद्य-प्ररूप (आर्केटाइप) और आद्यबिम्ब (आर्केटाइपल इमेज) की धारणा प्रस्तुत की थी और कहा था कि प्रत्येक मनुष्य अपने जन्म के साथ ही सामूहिक अचेतन के मूल में निहित आद्यप्ररूपों और आद्यबिम्बों से युक्त होता है। आचार्य शुक्ल के समय तक यह सिद्धान्त प्रस्थापित हो चुका था। सम्भव है, इससे वे प्रभावित भी रहे हों। अनेक स्थानों पर उन्होंने ऐसी शब्दावली का प्रयोग किया है जो प्रकारान्तर से आद्यप्ररूपों और आद्यबिम्बों को ही ध्वनित करती है। 'कविता क्या है ?' शीर्षक निबन्ध में उन्होंने लिखा है, "जिन रूपों और व्यापारों से मनुष्य आदिम युगों से ही परिचित है, जिन रूपों और व्यापारों को सामने पाकर वह नर-जीवन के आरम्भ से ही लुब्ध और क्षुब्ध होता आ रहा है, उनका हमारे भावों के साथ मूल या सीधा सम्बन्ध है। अतः काव्य के प्रयोजन के लिए हम उन्हें मूल रूप और मूल व्यापार कह सकते हैं। इस विशाल विश्व के प्रत्यक्ष से अप्रत्यक्ष और गूढ़ से गूढ़ तथ्यों को भावों के विषय या आलम्बन बनाने के लिए इन्हीं मूल रूपों में और व्यापारों में परिणत करना पड़ता है। जब तक वे इन मूल मार्मिक रूपों में नहीं लाये जाते, तब तक उन पर काव्य-दृष्टि नहीं पड़ती।"[२३] शुक्ल जी द्वारा निर्दिष्ट यह 'मूलरूप' ही आद्यप्ररूप या आर्केटाइप है जिसका उल्लेख जुंग ने किया था। इस 'मूलरूप' को वे 'आदिरूप', 'मूल विषय', 'मूल व्यापार' तथा 'आदिम रूप' आदि अनेक दूसरी संज्ञाओं से भी अभिधानित करते हैं।[२४]

आचार्य शुक्ल पूर्ण प्रभविष्णुता के लिए काव्य में सत्त्व गुण की सत्ता को आवश्यक मानते हैं और इसके दो रूपों का उल्लेख करते हैं—एक, भावों की तह में अर्थात् अन्तस्संज्ञा में स्थित अव्यक्त बीज-रूप में और दूसरा, प्रकाश-रूप में। अन्तस्संज्ञा में स्थित अव्यक्त बीजरूप यह भाव आद्यप्ररूप का ही द्योतन करने वाला है। शुक्लजी के अनुसार मनुष्य की प्रकृति के भीतर

अव्यक्त रूप में यह रागात्मक सम्बन्ध-सूत्र चर-अचर सारे प्राणियों के साथ जुड़ा हुआ है। काव्य के लिए वे भावों के मूल या आदिम रूपों तक जाना आवश्यक मानते हैं। इन आदिम रूपों को सभ्यता के झूठे आडम्बर से दिन-प्रतिदिन आच्छादित होते देख शुक्लजी ने अपनी चिन्ता कई स्थानों पर बड़े ही मार्मिक शब्दों में व्यक्त की है।[२५]

अपने सैद्धान्तिक विवेचन में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने जिन उपर्युक्त मिथक-तत्त्वों का संकेत किया है, उनका यत्र-तत्र प्रयोग उनकी व्यावहारिक समीक्षा में भी देखने को मिलता है। भक्ति की व्याख्या करते हुए उन्होंने कहा है कि यह धर्म की रसात्मक अनुभूति का नाम है। धर्म असीम ब्रह्म के सत्स्वरूप की व्यक्त प्रवृत्ति है जिसका साक्षात्कार परिवार और समाज जैसे छोटे क्षेत्रों से लेकर समस्त भू-मण्डल और अखिल विश्व तक के बीच किया जा सकता है। परिवार और समाज की रक्षा में, लोक के परिचालन में और समष्टि में, अखिल विश्व की शाश्वत स्थिति में सत् की इसी प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं।[२६] उनकी दृष्टि में अवतारवाद के सिद्धान्त-रूप में गृहीत हो जाने पर राम और कृष्ण का ईश्वर के रूप में ग्रहण समस्त जन-समाज के धार्मिक विश्वास का एक अंग हो गया। ठीक ऐसा ही धार्मिक विश्वास मिथक का भी आधार होता है।

यद्यपि आचार्य शुक्ल ने मिथकीय धार्मिक विश्वास का उल्लेख कई स्थलों पर किया है, लेकिन वे उसे एकदम अन्धविश्वास की श्रेणी में न रखकर गहरी लोक-सम्पृक्ति के साथ यथार्थ-वादी धरातल पर देखने के पक्षधर हैं। आधुनिक मिथक-समीक्षक भी अब मिथक में अनुस्यूत आस्था और विश्वास को केवल कपोल-कल्पना या झूठ न मानकर यथार्थ का एक रूप ही मानता है; क्योंकि मिथक में सम्बद्ध मानव-समाज के सच की अनुगूंज रहती है। इस सन्दर्भ में आचार्य शुक्ल ने आनन्द की साधनावस्था या प्रयत्न पक्ष को लेकर रचित अनेक मिथकाश्रयी रचनाओं का उल्लेख किया है, यथा—रामायण, महाभारत, रघुवंश, शिशुपाल-वध, किरातार्जुनीय, रामचरितमानस, पद्मावत तथा इलियड, ओडेसी, पैराडाइज लास्ट आदि।[२७] उन्होंने अपनी स्थापनाओं को पुष्ट करने के लिए अनेक स्थलों पर आदिकवि वाल्मीकि और कालिदास की रचनाओं से उद्धरण दिया है। प्रकट है कि इन दोनों रचनाकारों की कृतियाँ आद्योपान्त मिथकों पर ही आधारित हैं और इसलिए इनमें शुक्ल जी ने जिन तथ्यों की ओर संकेत किया है, वे भी स्वाभाविक रूप से मिथक-तत्त्वों से अपूरित हो गयी हैं। इसके उदाहरणस्वरूप उनके द्वारा वाल्मीकि तथा कालिदास की कृतियों के सन्दर्भ में किये गये मनुष्येतर बाह्य प्रकृति,[२९] आदिम प्राकृतिक जीवन[३०] तथा चेतनाचेतन भेद[३१] आदि के विवेचन को देखा जा सकता है।

मध्यकालीन कवियों में जायसी, सूर और तुलसी के काव्य की आचार्य शुक्ल ने बहुत गहराई से व्याख्या की है। तुलसी उनके सर्वाधिक प्रिय कवि थे। तुलसी जैसे प्रबन्धकार की भावुकता को परखने के लिए वे कवि द्वारा किसी आख्यान के मर्मस्पर्शी स्थलों को पहचान सकने की क्षमता को एक महत्त्वपूर्ण निकष मानते हैं। कहना न होगा कि यहाँ आख्यान से शुक्लजी का आशय मिथक से ही है। राम की मिथक-कथा के भीतर गोस्वामी तुलसीदास द्वारा अच्छी तरह पहचाने गये अत्यन्त मर्मस्पर्शी स्थलों के रूप में उन्होंने राम के अयोध्या-त्याग और पथिक के रूप में वनगमन, चित्रकूट में राम और भरत के मिलन, शबरी के आतिथ्य, लक्ष्मण को शक्ति लगने पर राम के विलाप तथा भरत की प्रतीक्षा आदि को विशेष रूप से रेखांकित किया है। उनके मतानुसार राम-वनगमन के समय की सर्वभूत-व्यापिनी सुशीलता से चराचर समष्टि विकल है। सर-सरिता तथा भूमि तक श्रीहीन और विषाद-मग्न हैं। इस तथ्य को संकेतित करने

के बाद मार्मिक स्थलों की खोज करती हुई उनकी दृष्टि तुलसी द्वारा प्रयुक्त राम-मिथक में निहित विरह-वेदना एवं आकुल विकलता की सार्वकालिक, सार्वदेशिक एवं सार्वजनीन व्यापकता की ओर भी गयी है।[३२]

आचार्य शुक्ल के अनुसार चित्रकूट में राम और भरत के मिलन के पुण्य प्रभाव से चित्रकूट की रमणीयता में पवित्रता भी मिल गयी। रामचरितमानस में वह सभा एक आध्यात्मिक घटना है। धर्म के इतने स्वरूपों की एकसाथ योजना, हृदय की इतनी उदात्त वृत्तियों की एकसाथ उद्‌भावना, तुलसी के ही विशाल 'मानस' में सम्भव थी।[३३] यहाँ दो बातें विशेष रूप से ध्यान देने की हैं। एक, शुक्लजी द्वारा रमणीयता में पवित्रता के संयोग का उल्लेख और दूसरी, तुलसी के विशाल 'मानस' का विश्लेषण। मर्सिया इलियादे[३४] और डॉ० रमेश कुन्तल मेघ[३५] ने भी मिथक को पुनीत काल में घटित और पावनता से युक्त बताया है। आचार्य शुक्ल भी चित्रकूट में, काल-विशेष में, राम और भरत के पुण्य मिलन को पवित्रता का प्रतीक कहते हैं; और तुलसी के विशाल 'मानस' से उनका तात्पर्य 'चिति' (साइके) की उस व्यापकता से है जो अपने में समष्टि-चित्त की भावुकता को समाहित किये हुए है। इसकी पुष्टि आगे चलकर स्वयं उन्हीं के इस कथन से हो जाती है, "कवि की पूर्ण भावुकता इसमें है कि वह प्रत्येक मानव-स्थिति में अपने को डालकर उसके अनुरूप भाव का अनुभव करे। इस शक्ति की परीक्षा का रामचरित से बढ़कर विस्तृत क्षेत्र और कहाँ मिल सकता है।"[३६] उन्होंने समष्टि-चित्त के साथ-साथ तुलसी की रागात्मक एकतानता पर विचार किया है और राम-मिथक में सन्निविष्ट उन अनेक की विशेषताओं का भी आदिम वन्य जीवन के प्रति अधिक रागात्मक लगाव प्रदर्शित करते हुए विश्लेषण किया है जिनके कारण कवि मानव-जीवन की बहुविध दशाओं का हृदयग्राही एवं मर्मस्पर्शी चित्रण कर सका। समष्टि और मानव मात्र की एकता का उल्लेख शुक्लजी ने और भी अनेक स्थलों पर किया है।[३७] यह मिथक-तत्त्वों से उनकी गहरी सम्पृक्ति का ही परिचायक है, क्योंकि मिथक की आधार-भित्ति भी समष्टि और मानव मात्र की यही स्वभावगत एकता ही होती है। वे तुलसी की 'स्वाभाविक विश्व-व्यापार-ग्राहिणी सहृदयता' से इतने अधिक प्रभावित हैं कि उन्हें हिन्दी में तुलसी के समकक्ष और कोई दूसरा कवि ही नहीं दिखाई पड़ता।

समष्टि-चित्त का वैश्वक प्रभाव आचार्य शुक्ल ने जायसी की रचनाओं में भी देखा है। उन्होंने जायसी के 'मनस्तत्त्व'[३८]; नागमती के विरह-वर्णन की 'उदार एवं व्यापक दशा'[३९]; प्रेमदशा में पशु, पक्षी, द्रुम, लता आदि के साथ मानव-हृदय के 'अनादि काल से चले आ रहे सम्बन्ध[४०] और इन्हें सूत्रबद्ध करने में प्रयुक्त कवि की सृष्टि-व्यापिनी भावना'[४१] पर भी विस्तार से विचार किया है। ध्यातव्य है कि जायसी-काव्य में शुक्लजी द्वारा निर्दिष्ट ये सभी विन्दु किसी न किसी रूप में मिथक-तत्त्वों से परिपूर्ण हैं। मिथक के सन्दर्भ में मनस्तत्त्व-विवेचन फ्रायड और जुंग की देन है। मिथकों की परम्परा अनादि काल से चली आ रही है और समष्टि-चित्त और सम्पूर्ण चराचर से उसकी सार्वभौम सम्बद्धता को अनेक विद्वान् अपने विस्तृत अध्ययनों से प्रमाणित कर चुके हैं। जायसी के ही सन्दर्भ में आचार्य शुक्ल ने मिथक और काव्य की पारस्परिकता को स्पष्टत: स्वीकार करते हुए कहा है कि 'किसी जाति की जीवन-कथाओं को बार-बार सामने लाना उस जाति के प्रेम और सहानुभूति को प्राप्त करने का स्वाभाविक साधन है।'[४२] आचार्य शुक्ल के इस कथन के सन्दर्भ में प्रसिद्ध मिथक-अध्येता प्रो० गिलबर्ट मरे के उस कथन की याद आना अत्यन्त स्वाभाविक है जिसमें उन्होंने कहा था कि हमेशा हम अपने जाति की मिथक-कथाओं से भले ही परिचित न रहें, लेकिन उनसे सामना होते ही हमारे रक्त से

एक ऐसी पुकार अपने आप जाग उठती है मानो हम उनसे सदा से ही परिचित रहे हों।[४३]

इस तरह के अपने दृष्टिकोण की प्रधानता के ही कारण सूर के काव्य की व्याख्या करते हुए शुक्लजी अपने को उसमें प्रयुक्त शृंगार एवं वात्सल्य रसों के विवेचन में अधिक नहीं रमा पाते। सूर की महत्ता उन्हें दूसरे ही कारणों से विशेष दिखाई पड़ती है, जैसे उनकी गोपियाँ ऐसे कृष्ण के प्रति अनुरक्त होती हैं जो नित्य अपने बीच चलने-फिरने वाले, हँसने-बोलने वाले तथा वन में गाय चराने वाले हैं। ऐसे प्रेम को आचार्य शुक्ल जीवनोत्सव के रूप में देखते हैं जिसमें इतनी स्वाभाविकता है कि किसी प्रतिबन्ध और विघ्न-बाधा को पार करने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती।[४४] यहाँ यह संकेत कर देना अप्रासंगिक न होगा कि जीवनोत्सव तथा प्रतिबन्ध और विघ्न-बाधा (टैबू) मिथक के अविभाज्य अंग होते हैं और मिथकीय समीक्षा-प्रविधि में मिथक के साथ-साथ इनका भी विवेचन किया जाता है। आचार्य शुक्ल को सूर का काव्य इसलिए भी आकर्षक लगता है कि उसमें मनुष्य के आदिम वन्य जीवन के परम्परागत मधुर संस्कार को उद्दीप्त करने वाले यमुना के हरे-भरे कछारों, करील के कुंजों, वनस्थलियों और प्रकृति के खुले क्षेत्र के दृश्य हैं।[४५] उनका स्पष्ट अभिमत है कि 'चुना हुआ अप्रस्तुत व्यापार जितना ही प्राकृतिक होगा —जितना ही अधिक मनुष्य जाति के आदिम जीवन में सुलभ दृश्यों के अन्तर्गत होगा—उतना ही रमणीय और अनुरंजनकारी होगा।' अपनी इस मान्यता के आधार पर उन्होंने सूर द्वारा कई स्थानों पर अपनी कल्पना के द्वारा प्रस्तुत प्रसंग के मेल से की गयी अत्यन्त मनोरम व्यापार-समष्टि की योजना को रेखांकित किया है।

कल्पित मनोराज्य (यूटोपिया), जातीयता की भावना, आद्यप्ररूपात्मक (आर्केटाइपल) चरित्र, किमाकार (ग्रोटेस्क) तथा ह्यूमर आदि भी ऐसे उल्लेखनीय महत्त्वपूर्ण मिथक-तत्व हैं जिनका समावेश आचार्य शुक्ल की समीक्षा में हुआ है। सूर के सन्दर्भ में उन्होंने 'आदर्श लोक'[४६] की बात कही है जो कल्पित मनोराज्य या यूटोपिया का ही प्रतिरूप है। रायकृष्णदास की कृति 'साधना' की समीक्षा करते समय शुक्लजी ने उसमें निहित जातीयता के तत्त्व को विशेष रूप से रेखांकित करते हुए कहा है कि "इसका हृदय भी भारतीय है, वाणी भी भारतीय है। जिन अनुभूतियों की व्यंजना है, वे कहीं भीतर से आती हुई जान पड़ती हैं; आसमान से उतारी जाती हुई नहीं। पदविन्यास में जो सरलता और प्रांजलता है, वह भी हमारी है। जिन मधुर 'प्रतीकों' का व्यवहार हुआ है, वे भी हमारे हृदय के सगे हैं।[४७]

आद्यप्ररूपों (आर्केटाइप्स) का सामूहिक अचेतन से गहरा सम्बन्ध होता है और ये मिथकीय चेतना के अभिन्न अंग माने जाते हैं। इनके माध्यम से मनुष्य की भावनाओं को सहजता से जगाया जा सकता है। आचार्य शुक्ल ने विशेषतः तुलसी के काव्य के सन्दर्भ में हमारे अचेतन में आद्यप्ररूपों के रूप में स्थित विभिन्न मिथकीय चरित्रों का विश्लेषण किया है। चरित्र-चित्रण-सम्बन्धी उनकी मूल अवधारणा ही समष्टिगत और सार्वभौम आधार लेकर चलती है। वे मानते हैं कि "रस-संचार से आगे बढ़ने पर हम काव्य की उच्च भूमि में पहुँचते हैं जहाँ मनोविकार अपने क्षणिक रूप में ही न दिखाई देकर जीवन-व्यापक रूप में दिखाई पड़ते हैं। इसी स्थायित्व की प्रतिष्ठा द्वारा शील-निरूपण और पात्रों का चरित्र-चित्रण होता है।"[४८] अपनी इस मान्यता के आधार पर ही तुलसी-काव्य में प्रयुक्त विभिन्न चरित्रों का विश्लेषण करते हुए आचार्य शुक्ल ने सात्त्विक, राजस और तामस प्रकृतियों के अनुसार दो प्रकार से चरित्र-विभाजन किया है। उनकी दृष्टि में सात्त्विक और तामस प्रकृति के चरित्र आदर्श चित्रण के भीतर आते हैं। राजस प्रकृति के चरित्रों को उन्होंने सामान्य चित्रण के भीतर

स्थान दिया है।[४९] शुक्लजी का यह चरित्र-विभाजन बहुत ही मौलिक और दूरदर्शी है तथा मिथक तत्त्वों की दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण भी। सीधा-सा प्रश्न किया जा सकता है कि सात्त्विक प्रकृति वाले चरित्रों को तो आदर्श चरित्र कहा जा सकता है, लेकिन तामस प्रकृति के चरित्र आदर्श किस प्रकार हो सकते हैं। इसका उत्तर हमें आद्यप्ररूपात्मक आधार पर विचार करने से प्राप्त होगा। मनुष्य की चिति (साइके) में मूलतः मोटे तौर पर अच्छे और बुरे दो ही भाव आदि-काल से निहित चले आ रहे हैं और उन्हीं के आधार पर हमारे सामूहिक अचेतन में आद्यप्ररूपों और आद्यबिम्बों की छवि अंकित होती आ रही है। इस प्रकार सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि सात्त्विक और तामस प्रकृति के चरित्रों को आदर्श चित्रण में शामिल करते समय शुक्ल जी के मस्तिष्क में निश्चित रूप से इन्हीं आद्यप्ररूपात्मक चरित्रों (आर्केटाइपल कैरेक्टर्स) की बात रही होगी।

आद्यप्ररूपात्मक चरित्रों सम्बन्धी शुक्लजी की उक्त धारणा की पुष्टि उन अनेक स्थलों पर भी हुई है जहाँ उन्होंने राम, कृष्ण, भरत, हनुमान तथा रावण आदि के चरित्रों का विस्तृत विश्लेषण किया है। वे प्राचीन काल से चले आ रहे इन चरित्रों की एक निश्चित अवधारणा को सहसा कोई नया रूप दे देने के एकदम विरुद्ध थे। उनकी बेबाक टिप्पणी है, "अपने समय में उठी हुई किसी खास हवा की झोंक में प्राचीन आर्ष काव्यों के पूर्णतया निर्दिष्ट स्वरूप वाले आदर्श पात्रों को एकदम कोई नया मनमाना रूप देना भारती के पवित्र मन्दिर में व्यर्थ गड़बड़ मचाना है।"[५०] 'आदर्श चरित्र' से उनका स्पष्ट आशय आद्यप्ररूपात्मक चरित्र से ही है। उनकी सम्मति में 'राम का नाता' सारे संसार से नाता जोड़ता है, तोड़ता नहीं। मलयज ने उचित ही कहा है कि 'राम में शुक्ल जी ने तुलसीदास के सच को नहीं, अपने सामान्य आदमी के मिथ को साकार किया है।'[५१] इसी प्रकार हनुमान को आचार्य शुक्ल ने सेवक के मूल मनो-भाव का सर्वश्रेष्ठ आद्यप्ररूप (आर्केटाइप) मानते हुए एक आदर्श चरित्र के रूप में व्याख्यायित किया है।[५२] उनकी दृष्टि हनुमान से ही जुड़े 'रामचरितमानस' के उस किमाकार (ग्रोटेस्क) पर भी पड़ी है जिसमें हनुमान जी की लम्बी पूँछ में लुक बाँधकर उन्हें नचाते हुए और राक्षसों को ताली बजा-बजा कर कूदते हुए दिखाया गया है। थोड़ी देर बाद ही हास का यह क्षण ऐसे भयानक और वीभत्स स्वरूप में परिणत हो जाता है जिससे तुलसी की एक सम्पूर्ण किमाकृत दृश्य प्रस्तुत कर पाने की सामर्थ्य प्रकट होती है। शुक्लजी रावण को सात्त्विक प्रकृति वाले राम के समानान्तर ही तामसी प्रकृति का आदर्श प्रतिनिधि मानते थे जिसका लोक और सामूहिक अचेतन से गहरा सम्बन्ध आज भी बना हुआ है। इन प्रमुख आद्यप्ररूपात्मक चरित्रों के अतिरिक्त आचार्य शुक्ल ने नारद-मोह के प्रसंग में ह्यूमर का भी संकेत किया है।[५३]

यद्यपि आचार्य शुक्ल के रचना-काल में मिस माड बॉडकिन आदि के छिटपुट प्रयत्नों के बावजूद पाश्चात्य समीक्षा-साहित्य में भी मिथकीय अध्ययन-विश्लेषण की प्रविधि अपना कोई विशेष प्रमुख स्थान नहीं बना सकी थी, फिर भी उपर्युक्त विवेचन के बाद हमें यह देखकर सुखद आश्चर्य होता है कि उनकी सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक दोनों प्रकार की समीक्षा-दृष्टि आद्योपान्त मिथक-तत्त्वों से पूर्णतः सम्पृक्त है। वे जिस 'व्यावहारिक समीक्षा' के समर्थक और प्रयोक्ता थे, उन्हीं के अनुसार, उसमें सामाजिक, राजनीतिक, साम्प्रदायिक, ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक, दार्शनिक एवं वैज्ञानिक—बहुत-सी बाहरी बातों का भी विचार होता है।[५४] इसका आशय यह है कि शुक्लजी की समीक्षा-पद्धति अन्तः-अनुशासनात्मक थी। यहाँ ध्यान देने की बात है कि

समीक्षा-प्रविधि भी ठीक इसी प्रकार बहुविषय-स्पर्शिनी होती है। सम्भवतः यही कारण है कि आचार्य शुक्ल की समीक्षा में मिथक-तत्त्वों की बहुलता पायी जाती है।

## संदर्भ-संकेत

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ५४२-४४। २. वही, पृ० ५४४-४५। ३. चिन्तामणि, भाग--एक, पृ० ६६। ४. द्रष्टव्य, वही, पृ० १०३। ५. द्रष्टव्य, चिन्तामणि, भाग—दो, पृ० २६-३१। ६. द्रष्टव्य, वही, पृ० ६०। ७. वही, पृ० ६२। ८. द्रष्टव्य, वही, पृ० ८४-८५। ६. वही, पृ० १४३। १०. द्रष्टव्य, रसमीमांसा, पृ० ६१। ११. वही, पृ० २३२। १२. द्रष्टव्य, चिन्तामणि, भाग—दो, पृ० १५५-५६ तथा १६७। १३. द्रष्टव्य, वही, पृ० १०६, ११०। १४. द्रष्टव्य, चिन्तामणि, भाग—दो, पृ० २। १५. द्रष्टव्य, वही, पृ० ४१। १६. रसमीमांसा, पृ० ५-६। १७. द्रष्टव्य, वही, पृ० १३-१५। १८. द्रष्टव्य, वही, पृ० ६१-६३, तथा पृ० २२६-३०। १६. द्रष्टव्य, चिन्तामणि, भाग—एक, पृ० ६८। २०. विस्तार के लिए द्रष्टव्य, चिन्तामणि, भाग—दो, पृ० ३, ४, ५, ८, ३३, ४६, ४७। २१. द्रष्टव्य, वही, पृ० ४८। २२. रसमीमांसा, पृ० ११४। २४. चिन्तामणि, भाग—एक, पृ० ६१। २५. द्रष्टव्य, वही, पृ० ६८-६६। २६. द्रष्टव्य, वही, पृ० ५५, १३२। २७. द्रष्टव्य, वह, पृ० १४२। २८. द्रष्टव्य, रसमीमांसा, पृ० ४६। २६. द्रष्टव्य, रसमीमांसा, पृ० ८, १०। ३०. द्रष्टव्य, त्रिवेणी, पृ० २७। ३१. द्रष्टव्य, वही, पृ० ४६। ३२. द्रष्टव्य, वही, पृ० ११४-१५। ३३. द्रष्टव्य, वही, पृ० ११७। ३४. द्रष्टव्य, इमेजेज ऐण्ड सिम्बल्स, पृ० ५७। ३५. द्रष्टव्य, तुलसी : आधुनिक वातायन से, पृ० २६४। ३६. द्रष्टव्य, त्रिवेणी, पृ० १२०। ३७. द्रष्टव्य, वही, पृ० १३३-३४, ४८, ४६, ५२, ६४, ७७। ३८. द्रष्टव्य, वही, पृ० ३५। ३६. द्रष्टव्य, वही, पृ० ४५-४६। ४०. द्रष्टव्य, वही, पृ० ४७। ४१. द्रष्टव्य, वही, पृ० ४७। ४२. वही, पृ० ६। ४३. द क्लैसिक ट्रैडिशन इन पोएट्री, डॉ० पुष्पपाल सिंह कृत 'काव्य-मिथक' के पृ० ११ से उद्धृत। ४४. द्रष्टव्य, त्रिवेणी, पृ० ८६। ४५. द्रष्टव्य, वही, पृ० ६७। ४६. द्रष्टव्य, वही, पृ० १०४। ४७. चिन्तामणि, भाग—दो, पृ० १२०। ४८. त्रिवेणी, पृ० १५२। ४६. द्रष्टव्य, वही, पृ० १६७। ५०. रसमीमांसा, पृ० ५०-५१। ५१. तीसरा साक्ष्य (सम्पा० अशोक वाजपेयी), पृ० ६१। ५२. द्रष्टव्य, त्रिवेणी, पृ० १६७-६८। ५३. द्रष्टव्य, वही, पृ० १३६-३७। ५४. द्रष्टव्य, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ५०३-४।

●

शिक्षा प्रसार विभाग, उ० प्र०,
४१ महात्मा गांधी मार्ग,
इलाहाबाद

# सूक्तिकार आचार्य शुक्ल तथा समन्वयवादी दृष्टिकोण

डॉ० कमला सिंह

विज्ञान की भाँति ही साहित्य में भी सूत्रात्मक अभिव्यक्ति का अपना निजी महत्त्व है। महान् साहित्यकार मर्मस्पर्शी सूक्तियों के माध्यम से बहुत कुछ को थोड़े में कह देता है। आचार्य शुक्ल में भी एक ही वाक्य में बहुत कुछ कह देने की अद्‌भुत् क्षमता थी। वे एक उच्च कोटि के सूक्ति-प्रयोक्ता थे। उन्होंने अपने निबन्धों में सूक्तियों का अपूर्व संयोजन करके हिन्दी साहित्य को एक नया आयाम दिया है। उनकी रचनाओं में सूक्तियों के माध्यम से स्वानुभव, परानुभव, चिन्तन तथा कल्पना को बहुरंगी अभिव्यक्ति मिली है। वस्तुतः ये सूक्तियाँ आकार-प्रकार में टकसाली सिक्के के समान प्रतीत होती हैं, लेकिन उनके प्रयोग में चमत्कार-प्रदर्शन की झलक न होकर रचनाकार की कथ्य-भंगिमा, चातुरी, निपुणता एवं सूझ-बूझ समाहित है।

सूक्ति पर विचार करते हुए शुक्लजी ने स्वयं लिखा है—"ऐसी उक्ति जिसे सुनते ही मन किसी भाव या मार्मिक भावना में लीन न होकर एकबारगी कथन के अनूठे ढंग, वर्ण्य-विन्यास या पद-प्रयोग की विशेषता, दूर की सूझ-बूझ, कवि की चातुरी या निपुणता इत्यादि का विचार करने लगे, वह काव्य नहीं सूक्ति है।"

आचार्य शुक्ल ने अपने सूक्ष्म निरीक्षण और तर्कपूर्ण निष्कर्षों को सूक्तिबद्ध किया है जिससे उनकी लेखन-प्रक्रिया में निरन्तर गतिशीलता बनी हुई है। वे एक ओर विवेचन से सूक्तियों को सजाते हैं, तो दूसरी ओर उन सूत्रों की व्याख्या की गहराई में उतरते हैं। इससे उनकी रचनाओं में गहराई और व्यापकता, संश्लेषण-विश्लेषण का अद्‌भुत् समन्वय अपूर्व छटा के साथ विद्यमान है।

घनत्वमयी सूत्रात्मक अभिव्यक्ति की कला में शुक्लजी अत्यन्त निपुण थे। एक सूक्तिकार के रूप में उनके सामर्थ्य को परखने के लिए यहाँ पर उनकी कुछ सूक्तियों का परीक्षण-विश्लेषण करने का प्रयास किया जा रहा है। चिन्तामणि, प्रथम भाग के निबन्ध 'कविता क्या है' के आरम्भ में ही जीवन, जगत्, मुक्त हृदय तथा कविता जैसे निगूढ़ विषयों को वे अत्यन्त सुलझे हुए ढंग से सूक्तिबद्ध करते हुए दिखाई देते हैं। 'चिन्तामणि' के विविध निबन्धों में मनोविकारों का का स्वरूप समझाने, समान लगने वाले दो मनोयोगों का अन्तर बताने, उन्हें परिभाषित करने, उसके प्रभाव और परिणाम को स्पष्ट करने के लिए अनेक सूक्तियों का सफल प्रयोग किया गया है।

प्रेम और श्रद्धा के बीच अन्तर्भेद स्थापित करते हुए शुक्लजी कहते हैं—'प्रेम स्वप्न है तो श्रद्धा जागरण', इस सूक्ति-वाक्य द्वारा शुक्लजी ने यह स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि प्रेम स्वप्नावस्था जैसे एकान्त में जन्म लेता है, जबकि श्रद्धा का भाव सामाजिक धरातल पर सबके सामने श्रद्धेय के प्रति जगता है। प्रेमी अपने प्रेमालंबन के साथ नितान्त अकेला रहना चाहता है, जबकि श्रद्धालु की श्रद्धा यह अपेक्षा करती है कि उसके श्रद्धेय के प्रति समाज के अन्य प्राणी भी श्रद्धा रखें।

भक्ति और धर्म के अन्तर्सम्बन्धों पर विचार करते हुए वे कहते हैं कि—'भक्ति धर्म की रसात्मक अनुभूति है।' शुक्लजी के कहने का अभिप्राय यह है कि धर्म जड़ होता है जबकि भक्ति उसका चेतन रूप है। धर्म के प्रति आस्था अन्तर्मुखी होकर जब हृदयगत व्यापार बन जाय और धर्मपालन में व्यक्ति को हार्दिक आनन्द की अनुभूति होने लगे तो वहाँ धर्म का जड़वत् व्यापार समाप्त हो जाता है और धर्म का चेतन रूप अपने रसमय व्यापार के साथ मुखर हो उठता है।

एक अन्य सूक्ति 'वैर, क्रोध का आचार या मुरब्बा है।' द्वारा शुक्लजी ने वैर और क्रोध जैसे अबूझ मनोविकारों को भौतिक उपादानों के सहारे समझाने का प्रयास किया है। खटाई, मसाला तथा तेल के साथ लिपटा हुआ आम तत्काल 'अचार' की संज्ञा नहीं प्राप्त करता। 'अचार' की संज्ञा प्राप्त करने के लिए कुछ कालावधि आवश्यक है। अचार के समान ही 'मुरब्बा' भी अपनी संज्ञा प्राप्त करने में समय लेता है। इस प्रकार उन्होंने स्पष्ट किया है कि क्रोध पुराना होने पर वैर का रूप धारण कर लेता है।

'ईर्ष्या' को सूक्तिबद्ध करते हुए उन्होंने लिखा है—'ईर्ष्या एक संकर भाव है जिसकी सम्प्राप्ति आलस्य, अभिमान और नैराश्य के योग से होती है।' हम जानते हैं कि आलस्य अकर्मण्यता को जन्म देता है और अकर्मण्यता अन्ततः नैराश्यजनित हीनभावना को उत्पन्न करती है। हीनभावना से ग्रसित व्यक्ति यदि कृत्रिम अभिमान की भावना से भी पीड़ित हो तो वह अपने अहं (इगो) की तुष्टि के लिए अपेक्षाकृत अधिक सुखी, सम्पन्न, सक्षम और यश-प्राप्त व्यक्तियों से ईर्ष्या करने लगता है। इस प्रकार आलस्य, अभिमान और नैराश्य की सम्मिलित परिणति ईर्ष्या में होती है। इसी से शुक्लजी ने ईर्ष्या को संकर भाव कहा है।

बीज भूमि में उगता है और करुणा हृदय में। भूमि में बीज डालने का उद्देश्य होता है कुछ कालावधि के बाद फल (लक्ष्य) की प्राप्ति, लेकिन हृदय में करुणा की उत्पत्ति किसी फल (लक्ष्य) की अभिलाषा से रहित होती है। शुक्लजी ने इस बात को सूक्तिबद्ध करते हुए इस प्रकार कहा है—'करुणा अपना बीज लक्ष्य में नहीं फेंकती।'

आचार्य शुक्ल के निबन्धों में हर वाक्य परस्पर एक खण्ड-सिद्धान्त के रूप में अविच्छिन्न होकर जुड़े हुए हैं। पुष्टि में एक सूक्ति प्रस्तुत है—'राजदण्ड राजकोप है; राजकोप, लोककोप है और लोककोप धर्मकोप।' इस सूक्ति में ही राजनीति और धर्म की मार्मिक व्याख्या कर दी गई है। इसी प्रकार एक अन्य सूक्ति 'श्रद्धालु महत्त्व को स्वीकार करता है, पर भक्त महत्त्व की ओर अग्रसर होता है।' में श्रद्धालु और भक्त को महत्त्व की तुला पर तोलकर उसमें बड़ी निपुणता से अन्तर स्थापित किया गया है।

'श्रद्धा महत्त्व की आनन्दपूर्ण स्वीकृति के साथ-साथ पूज्य बुद्धि का संचार है', 'साहसपूर्ण आनन्द का नाम उत्साह है', 'ब्रह्म की व्यक्त सत्ता सतत् क्रियमाण है', 'हम अत्याचारी पर क्रोध और व्यभिचारी से घृणा करते हैं', 'लोभ सामान्योन्मुख होता है और प्रेम विषयोन्मुख', 'प्रेम में घनत्व अधिक है और श्रद्धा में विस्तार', 'श्रद्धा और प्रेम के योग का नाम भक्ति है', 'ईर्ष्या अत्यन्त लज्जावती वृत्ति है' आदि सैकड़ों सूक्तियों द्वारा आचार्य शुक्ल ने मनोविकारों का बड़ा ही सूक्ष्म विश्लेषण किया है।

उक्त सूक्तियों में किन्हीं दो मनोविकारों को एक सूत्र में पिरोने का प्रयत्न द्रष्टव्य है। प्रेम और श्रद्धा, भक्ति और धर्म, क्रोध और वैर, ईर्ष्या और स्पर्धा, क्रोध और घृणा आदि मनःस्यूत भावों के पीछे आचार्य शुक्ल की समन्वय की भावना ही क्रियाशील है।

मानस के गहन अध्ययन, मनन-चिन्तन के परिणामस्वरूप आचार्य शुक्ल, तुलसी के समन्वयवादी दृष्टिकोण से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सके। उनकी कृतियाँ तथा उनके द्वारा दिये गये वक्तव्य इस बात के साक्षी हैं। शुक्लजी अत्यन्त व्यापक दृष्टिकोण के स्वामी थे। उनका मुख्य उद्देश्य साहित्य में परम्परा से आये हुए बिखराव को समेटकर उसे लोकग्राही बनाना था। इसीलिए उन्होंने परम्परा से पूर्वपरिचित होकर आधुनिकता से निकट का सम्पर्क स्थापित किया। 'मानस में जिस परम्परा की अनुगूंज है, उसका उत्स वैदिक वाङ्मय है। वेद, सदैव भौतिकता का आधार ग्रहण कर अध्यात्म का संकेत करता है। इसी कारण उसमें पृथ्वी, वायु, अग्नि, जल, सूर्य, वनस्पति आदि को उच्च स्थान प्राप्त हुआ है। यह स्वाभाविक भी है क्योंकि जब हम लोक और लोकहित की बात करते हैं तो उसमें इहलोक और परलोक दोनों ही समाहित हो जाते हैं। इन दोनों की उपेक्षा कर साहित्य-सर्जना करना संकीर्णता का द्योतक है। यही कारण है कि शुक्लजी ने संकीर्णता से मुक्त तथा भटकाव से परे होकर विस्तृत परिप्रेक्ष्य में साहित्य की सृष्टि की है। शुक्लजी सही अर्थों में द्रष्टा और स्रष्टा थे। वे जीवन-जगत् के विविध क्रिया-कलापों का सूक्ष्मतापूर्वक निष्पक्ष भाव से निरीक्षण-परीक्षण तथा पूर्वधारणा से पूर्णतया मुक्त होकर अपने प्रतिपाद्य विषय का विवेचन करते थे। उन्होंने सूर, तुलसी, जायसी, ब्रेडले, फ्रायड आदि की कृतियों का चिन्तन अप्रमत्त भाव से किया और साहित्य को रुचि-परिष्कार का सबल माध्यम बनाया। जो साहित्य जीवन में विसंगति उत्पन्न करे, उसे साहित्यिक विवेचन के अन्तर्गत समाविष्ट करने के पक्ष में वे नहीं थे। उनका 'उपन्यास' शीर्षक निबन्ध इसी भावना पर आधारित है।

दृष्टि-समग्रता, उन्मुक्त चिन्तन तथा गहन अध्ययन का विकसित रूप ही समन्वयवादी दृष्टिकोण का आधार है। वस्तुतः समन्वय का धरातल उस उच्चता से निर्मित होता है जहाँ कोई खाई नहीं होती। भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में सभी विधाओं का समाहार विराट समन्वय-साधना का ही चरम बिन्दु है। आगे चलकर यह मानस-समन्वय का प्रतिरूप बनकर प्रकट हुआ। आचार्य शुक्ल ने भरतमुनि तथा महाकवि तुलसीदास के समतोलक विधान को ही अपने साहित्य-साधना का आधार बनाया।

काव्यलोक और जगत् के पारम्परिक सम्बन्ध में शुक्लजी का विचार है कि "जगत् अव्यक्त की अभिव्यक्ति है और काव्य इस अभिव्यक्ति की अभिव्यक्ति है।" इस कथन द्वारा आचार्य शुक्ल ने काव्य को जगत् से सम्बद्ध बताया तथा जगत् को ईश्वर का प्रकट रूप। कहने का तात्पर्य यह है कि शुक्लजी ने इस बात को सहर्ष स्वीकार किया है कि ईश्वर, जगत् और साहित्य परस्पर सम्बद्ध हैं। निःसन्देह शुक्लजी की यह धारणा उनके व्यापक समन्वयवादी दृष्किोण का परिचायक है।

शुक्लजी ने अभिजात वर्ग द्वारा फैलाई गई बुराइयों को दूर कर साहित्य को लोक-सम्बद्ध बनाना चाहते थे। उनका विचार था कि "मनुष्य लोक-सम्बद्ध प्राणी है। उसका अपनी सत्ता का ज्ञान तक लोकबद्ध है। लोक के भीतर ही कविता क्या किसी का प्रयोजन या विकास होता है।"[१] "ज्ञानेन्द्रियों से समन्वित मनुष्य जाति जगत् नामक अपार और अगाध रूप समुद्र में छोड़ दी गई है। न जाने कब से यह इसमें बहती चली आ रही है। इसी की रूप-तरंगों से उसकी कल्पना का निर्माण और इसी की रूप-गति से उसके भीतर विविध भावों या मनोविकारों का विधान हुआ.........सुन्दर-मधुर, भीषण या क्रूर लगने वाले रूपों या व्यापारों

से भिन्न सौन्दर्य, माधुर्य, भीषणता या क्रूरता कोई पदार्थ नहीं। सौन्दर्य की भावना जगना सुन्दर-सुन्दर वस्तुओं या व्यापारों का मन में आना ही है।"[२] सच्चा कवि वही है जिसे लोक-हृदय की पहचान हो, जो अनेक विशेषताओं और विचित्रताओं के बीच मनुष्य जाति के सामान्य हृदय को देख सके। इसी लोक-हृदय में हृदय के लीन होने की दशा का नाम रसदशा है।[३]

इस प्रकार शुक्लजी ने साहित्य को लोक-हृदय में लीन होने की कसौटी मानकर संकुचित व्यक्तिवादी धारणाओं से साहित्य को मुक्त कराने का सन्देश दिया। भारतीय साहित्य की अनेकशः प्रगतिशील परम्पराओं का सूत्र ग्रहण कर उन्होंने क्रोचे और उसके आगत-अनागत अनुयायियों को खूब फटकारा है। "काव्य को हम जीवन से अलग नहीं कर सकते। उसे हम जीवन पर मार्मिक प्रभाव डालने वाली वस्तु मानते हैं।"[४] "कला कला के लिए' बात को जीर्ण होकर मरे बहुत दिन हुए। एक या कई क्रोचे उसे फिर जिला नहीं सकते।"[५] इस प्रकार पूर्व और पश्चिम की यह धारणा कि साहित्य का उद्देश्य केवल आनन्द लेना है, को निर्मूल कर दिया और साहित्य में वाल्मीकि और भवभूति के समन्वयवादी दृष्टिकोण को पुनःस्थापित किया। उन्होंने समाज और साहित्य में समन्वय स्थापित करने के लिए दो भावों को प्राथमिकता दी—प्रेम और करुणा। इसमें भी भारतीय महाकाव्यों को देखते हुए करुणा को ही बीज-भाव माना।[६]

समन्वयवादी दृष्टिकोण के कारण ही शुक्लजी ने दूसरों के साहित्य का स्वतंत्र अवलोकन कर अपने साहित्य का उत्तरोत्तर विकास किया। इतना ही नहीं, उन्होंने अपनी दृष्टि से दूसरे देशों के साहित्य को देखा, दूसरे देशों की दृष्टि से अपने साहित्य को नहीं। एक वैज्ञानिक की भाँति उन्होंने दृढ़तापूर्वक कहा है कि किसी देश के साहित्यिक सिद्धान्त उस देश के सर्जनात्मक साहित्य के आधार पर निर्मित होते हैं।[७] इसी कारण उनके साहित्य में परस्पर दो विरोधी बातों को स्थान नहीं प्राप्त हो सका। कवियों तथा उनकी कृतियों की व्यावहारिक समीक्षा कर शुक्लजी ने उसकी श्रेष्ठता का मूल कारण पुष्ट सैद्धान्तिक आधार माना। उन्होंने मानवतावाद की व्यापक भावभूमि को स्पर्श करते हुए साहित्य को लोकादर्श तथा रसादर्श के स्तम्भों पर प्रतिष्ठित किया और प्राचीन तथा नवीन प्राच्य तथा प्रतीच्य काव्य-सिद्धान्तों का ही नहीं, वरन् स्वानुभूत काव्य-सिद्धान्तों का भी समन्वय किया है।[८] इतना ही नहीं, शुक्लजी ने जिन कवियों की काव्य-कृतियों का विवेचन एवं विश्लेषण किया है, उसमें शोधवृत्ति तथा साहित्यिकता का मणिकांचन संयोग है। ऐसी प्रवृत्ति शुक्लजी के पूर्व किसी समीक्षक में प्राप्त नहीं होती। उन्होंने अपनी व्यावहारिक समीक्षा-कृतियों में साहित्यात्मा के विवेचन के साथ-साथ उन कृतियों में प्रयुक्त साहित्य-सम्बन्धी अन्य विषयों का भी उद्घाटन किया। साहित्य तथा जीवन के इतने पक्षों का उद्घाटन शुक्लजी के पूर्ववर्ती किसी दूसरे भारतीय समीक्षक की समीक्षा में नहीं मिलता। जायसी की समीक्षा में शुक्लजी ने जायसी की तुलना संस्कृत, अंग्रेजी, फारसी, अरबी, उर्दू तथा हिन्दी के अन्य कवियों से एवं एशिया के विभिन्न दार्शनिक मतों की तुलना करके हिन्दी समीक्षा को विश्व-समीक्षा की भूमिका पर प्रतिष्ठित करने का जो प्रयत्न किया, वह उनके व्यापक समन्वयवादी दृष्टिकोण का परिचायक है।

शुक्लजी की समन्वयवादी दृष्टि प्राकृतिक क्षेत्र में भी उसके समग्र स्वरूप की रसाभिलाषिणी थी। 'जो केवल अपने विलास या शरीर-सुख की सामग्री ही प्रकृति में ढूँढ़ा करते हैं, उसमें उस रागात्मक 'सत्व' की कमी है जो व्यक्त सत्ता-मात्र के साथ एकता की अनुभूति में

लीन करके हृदय के व्यापकत्व का आभास देता है। सम्पूर्ण सत्ताएँ एक ही परमसत्ता और सम्पूर्ण भाव एक ही परम् भाव के अन्तर्गत हैं।'[९] प्राकृतिक वर्णन के प्रसंग में शुक्लजी ने वाल्मीकि और कालिदास को बार-बार स्मरण इसलिए किया है कि इन कवियों ने प्रकृति के सभी पक्षों को समान रूप से देखा है तथा उसका सटीक चित्रांकन किया है। शुक्लजी के अनुसार "अनन्त रूपों में प्रकृति हमारे सामने आती है—कहीं मधुर, सुसज्जित या सुन्दर रूप में, कहीं सूखे बेडौल या कर्कश रूप में, कहीं भव्य, विशाल या विचित्र रूप में, कहीं उग्र, कराल या भयंकर रूप में······।'[१०] प्रकृति के केवल मनोहर रूप को देखने वालों को शुक्लजी ने "विषयी भोग-लिप्सु"[११] कहा है। इसी प्रकार जो प्रकृति के केवल विशाल रूप को देखता है, उसको उन्होंने 'तमाशबीन'[१२] कहा। साधारण, असाधारण अनेक वस्तु के मेल से एक पूर्ण चित्र संघटित करने वाले को ही वे सच्चा कवि मानते हैं।[१३] इस प्रकार शुक्लजी प्रकृति की समग्रता का जो समर्थन करते हैं, वह उनके समन्वयवादी दृष्टिकोण का ही प्रतिफल है।

समन्वयवादी दृष्टिकोण के कारण ही शुक्लजी ने सदियों से सामन्त वर्ग के मनोरंजन के कटघरे में शील साहित्य को लोकग्राह्य बनाया तथा रीतिकवि पर अपनी वाणी-बाण का मार्मिक प्रहार किया। "हिन्दी रीतिकाल के कवि तो मानो राजाओं के यहाँ राजाओं की कामवासना उत्तेजित करने के लिए ही रखे जाते थे। एक प्रकार के कविराज तो रईसों के मुँह में मकरध्वज का रस झोंकते थे, दूसरे प्रकार के कविराज कान में मकरध्वज की पिचकारी देते थे। पीछे से तो ग्रीष्मोपचार आदि के नुसखे भी कवि लोग तैयार करने लगे।" शुक्लजी का यह वाक्य सामन्त वर्ग के प्रति साहित्यिक वर्ग की मकरध्वजी वास्तविकता की कलई खोल देता है।

समन्वयवादी दृष्टिकोण के कारण ही शुक्लजी ने प्रबन्ध-काव्य को सर्वोत्कृष्ट स्थान पर प्रतिष्ठित किया। क्योंकि उच्च भूमि पर समग्र जीवन का उपस्थापन महाकाव्य में ही संभव हो सका है। शुक्लजी की दृष्टि में "पूर्ण भावुक वे ही हैं जो जीवन की प्रत्येक स्थिति के मर्मस्पर्शी अंश का साक्षात्कार कर सकें और उसे श्रोता या पाठक के सम्मुख अपनी शब्दशक्ति द्वारा प्रत्यक्ष कर सकें।"[१४] इसी कारण उन्होंने रस-विवेचन के सिद्धान्त में व्यक्तिगत अभिरुचि और सांस्कृतिक संवेदना के साथ-साथ प्रकृति की विराटता, युगीन चिन्तनधारा, इतिहास, मनोविज्ञान आदि के व्यापक स्तर पर रस-प्रक्रिया को सम्पृक्त किया है।[१५] इस प्रकार रस का सम्बन्ध सम्पूर्ण सृष्टि से स्थापित कर शुक्लजी ने अपने व्यापक समन्वयवादी दृष्टिकोण का परिचय दिया है। उनके इसी व्यापकत्व से प्रभावित होकर नन्ददुलारे वाजपेयी ने लिखा है—"शुक्लजी ने अपने समय की एक अर्ध-जागृत साहित्य-चेतना को दिशा-ज्ञान दिया। रास्ता सुझाया नहीं, स्वयं आगे-आगे चले और मंजिल तय की। विपर्यस्त लक्षण-ग्रंथों की परम्परा को साहित्यशास्त्र की पदवी पर पहुँचाया। महाकाव्योचित औदात्य के लिये यह युग शुक्लजी को स्मरण करेगा।"

शुक्लजी वैदिक निर्देश से अनुप्राणित थे जिसके अनुसार लोक-हित की दृष्टि में संसार में जहाँ कहीं भी ज्ञान सुलभ हो, उसे जानने और अपनाने का प्रयत्न अवश्य होना चाहिये।[१६] लोक की पीड़ा, बाधा, अन्याय, अत्याचार के बीच दबी हुई आनन्द-ज्योति भीषण शक्ति में परिणत होकर अपना मार्ग निकालती और फिर लोक-मंगल और लोक-रंजक रूप में अपना प्रकाश करती है।[१७] इस प्रकार शुक्लजी का मानदण्ड सदैव लोकहित था। जिस साहित्यिक कृति में लोकधर्म अभिव्यंजित हो, जिसके अध्ययन-अनुशीलन से अत्यधिक लोकहित होता हो, शुक्लजी की दृष्टि में वही सर्वोत्कृष्ट साहित्य है। कर्म-चेतना और लोक-मंगल से बढ़कर साहित्य-साधना का और कोई उद्देश्य हो ही नहीं सकता। इस प्रकार यदि कोई शुक्लजी को किसी 'वाद'

के साथ पहचानने का आग्रह करे तो वह उनको समन्वयवादी ही कह सकता है। उन्होंने स्वयं भी इस प्रकार का संकेत किया है।[18]

## सन्दर्भ-संकेत

१. चिन्तामणि, भाग—२, पृ० १३४। २. वही, पृ० २२७। ३. रसमीमांसा, पृ० २५६। ४. उप०, पृ० १०६। ५. वही, पृ० २०१। ६. रसमीमांसा, पृ० ७६। ७. काव्य में रहस्यवाद, पृ० ६३। ८. जायसी-ग्रन्थावली की भूमिका का विवेचन-सम्बन्धी अंश। ९. चिन्तामणि, भाग—१, पृ० १५१, सं० १९६१ ई०। १०. चिन्तामणि भाग—१, पृ० १४६। ११. उपरिवत्, पृ० १९६। १२. चिन्तामणि, भाग दो, पृ० ९। १३. उप०, पृ० २८। १४. गोस्वामी तुलसीदास (त्रिवेणी), पृ० १२०। १५. उपरिवत्, पृ० ३०२। १६. "आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतः", ऋग्वेद संहिता, १।८९।१। १७. उपरिवत्, पृ० ५६। १८. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ४९०।

१६५/९, आजाद स्क्वायर,
साउथ मलाका,
इलाहाबाद

# आचार्य शुक्ल का काव्यादर्श

●

डॉ० उर्मिला जैन

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने समीक्षा, इतिहास तथा निबंध आदि के साथ ही कविताएँ एवं कहानियाँ भी लिखी थीं। उनकी कविताओं का एक संग्रह* नागरी प्रचारिणी सभा, काशी ने प्रकाशित किया है। प्रकाशक के अनुसार यह आचार्य शुक्ल की 'संपूर्ण मौलिक कविताओं' का संग्रह है। ये कविताएँ पहले विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुई थीं। इनका अवधि-विस्तार सन् १९०१ से १९२९ तक है।

ये कविताएँ वैसे तो विविध-विषयक हैं, पर उनमें जो सांस्कृतिक चेतना सहज ही प्रवहमान है, वह लोकचित्त को उद्वेलित करने वाली है, और अभिनन्दनीय है। उनमें भारत की तत्कालीन परिस्थितियों से उत्पन्न जो चिंता, क्षोभ आदि हैं, जो मोह है, वह वैयक्तिक तो है ही, किन्तु साथ ही साथ उसे युग-प्रभाव से भी प्रश्रय मिला। उनके जीवन का आदर्शवादी, साथ ही उनका समीक्षक रूप भी इन कविताओं में उपस्थित है। यहाँ हम उनके इसी रूप का मूल्यांकन करेंगे।

कर्म में विश्वास, अपनी संस्कृति के प्रति प्रेम, राष्ट्र के प्रति दृष्टिकोण, जातीयता तथा आर्यभावना का प्राचुर्य आदि आदर्शवादी भावभूमि के आलंबन बनते हैं। लक्ष्य महान् हो, तभी कर्म की प्रेरणा भी मिलती है और मानव-चित्त उस प्राप्ति की आकांक्षा से उद्बुद्ध रहता है तथा उसे प्राप्त करने पर ही जीवन में शांति तथा संतोष उत्पन्न होता है। आचार्य शुक्ल 'अन्योक्ति' शीर्षक कविता में कहते हैं :

उद्देश्य एक अपना ऊंचा बनावो।
कर्तव्य पूर्ण करने में चित्त लावो॥
विश्वास कर्म फल में करते रहोगे।
होगे अवश्य सन्तुष्ट सुखी रहोगे॥—मधुस्रोत, पृ० २२

यही कथन, यही आदर्श उनके जीवन का आदर्श रहा है, यह सहज ही उनके काव्य में अनुभूत किया जा सकता है। 'हृदय का मधुर भार' शीर्षक कविता में, जो सर्वप्रथम 'माधुरी', अप्रैल, १९२७ में प्रकाशित हुई थी, उनके उद्‌गार यों प्रकट हुए हैं :

भौतिक उन्माद-ग्रस्त योरप पड़ा है जहाँ
वहीं तेरे चोंचले ये मन बहलावेंगे।
आज अति श्रम से शिथिल जो विराम हेतु
आकुल है उसको ये टोटके सुलावेंगे।

---

* मधुस्रोत (आचार्य रामचंद्र शुक्ल की कविताओं का संग्रह)। वाराणसी, नागरी प्रचारिणी सभा, सं० २०२८ वि०। नागरी प्रचारिणी ग्रंथमाला—७९।

हम अब उठना हैं चाहते जगत्-बीच;
भारत की भारती की शक्ति को जगावेंगे।
दंडक ये दंड के प्रहार से लगेंगे तुझे,
भाग-भाग भंडता ! न तुझको टिकावेंगे।

—मधुस्रोत, पृ० ३६

पश्चिम की नकल से वे जीवन, समाज, साहित्य और कला सभी को आच्छन्न होने से बचाना चाहते थे। अपनी जड़ को जब सुरक्षित रखा जाएगा, जब उसे अपनी भूमि के अनुकूल जल से सिंचित किया जाएगा, तभी हम फल-फूल सकेंगे। इसी से बारबार इस ओर ध्यान आकर्षित करते हैं।

अंग्रेजी साम्राज्यवाद किस तरह भारत की जड़ काट रहा था, उनका शोषण कर रहा था, इससे बचने के लिए देशवासियों के हृदय में व्यापक अनुभूति तथा क्षोभ उत्पन्न करने के उद्देश्य से देश के वर्तमान अधःपतन, विपन्नताओं एवं विषमताओं का चित्रण हमेशा से कविगण करते आए हैं। 'भारत और वसंत' कविता में 'भारत महिषी' का उद्गार भारतीयों के प्रति इस दुःख के साथ प्रकट है :

आलस की जिनकी परी बानि।
नहीं देखि सकैं निज लाभ हानि।।
तिल, नील, लाख, सन अरु कपास।
हम देत इन्हैं यह धारि आस।।
कछु कला सहित निज कर डुलाय।
करि हैं निज जीवन को उपाय।।
पर हाय विदेशिन हाथ जाय।
घरि आवत हैं ये सब उठाय।।

—मधुस्रोत, पृ० ६७

वे व्यंजना से इसकी ओर ध्यान आकर्षित करते हैं कि भारत का सारा धन-ऐश्वर्य किस प्रकार विदेश जा रहा है। इसे सुरक्षित रखने के लिए समय की पुकार पर उन्होंने अपना शंख फूंका है।

'देशद्रोही को दुतकार' में विपन्नावस्था का करुण रोदन नहीं, वरन् देशद्रोहियों को सबल फटकार है। उसमें आवेश और आक्रोश की वर्षा है। कविता का प्रारंभ ही है :

रे दुष्ट, पामर, पिशाच, कृतघ्न, नीच।
क्यों तू गिरा उदर से भूमि बीच ?
क्यों देश ने अधम स्वागत हेतु तेरे।
आनन्द उत्सव उपाय रचे घनेरे।—मधुस्रोत, पृ० ६६

अंतिम छंद में उसे और भी फटकारते हुए वे कहते हैं :

जा दूर हो अधम सन्मुख से हमारे।
हैं पाप पुंज तुव पूरित अंग सारे।।
जो देश से न हट तो हद देश से ही।
देते निकाल हम आज तुझे भले ही।।

—मधुस्रोत, पृ० ७१

आचार्य शुक्ल बुद्धिजीवी थे। वे जानते थे कि 'फूट' ही कई अनर्थों की जड़ है। अतः इसकी ओर भी उनकी पैनी दृष्टि गई थी। वे प्रत्यक्षतः फूट को ही संबोधित करते हुए कहते हैं :

अरे फूट ! क्या कहीं जगत में ठाम नहीं तू पाती।
पैर पसार यहीं पर जो तू आठों पहर बिताती।।
कई सहस्र वर्ष से है तू भारत भुव पर छाई।
मनमानी इतने दिन करके अब भी नहीं अघाई।।—मधुस्रोत, पृ० ७३

पराधीनता के प्रति देशवासियों के हृदय में व्यापक अनुभूति तथा क्षोभ उत्पन्न करने के उद्देश्य से देश के वर्तमान अधःपतन, विपन्नताओं एवं विषमताओं का चित्रण भी उन्होंने किया है। नवंबर १९१२ में 'लक्ष्मी' में प्रकाशित 'आशा और उद्योग' में उनकी आदर्शमय क्रांतिकारी भावना स्पष्ट है :

देश दुःख अपमान जाति का बदला मैं अवश्य लूंगा।
अन्यायी के घोर पाप का, दण्ड उसे अवश्य दूंगा।।—मधुस्रोत, पृ० ७७

इस प्रकार शोषण सत्ता, शोषक-वर्ग, पराधीनता के विरुद्ध, विद्रोह के प्रति ध्यानाकर्षित करना, साथ ही अपनी कमजोरियों के प्रति आँखें खोलना इनकी विशेषता रही है।

अपनी भाषा के प्रति उन्हें अनन्य प्रेम था। उनकी अन्तर्दृष्टि जानती थी और जो आज भी सत्य है कि 'निज भाषा की उन्नति' ही प्रगति का मूल है। 'हमारी हिन्दी' में उनका यही अनन्य भाव प्रस्तुत है :

मन के धन वे भाव हमारे हैं खरे।
जोड़-जोड़ कर जिन्हें पूर्वजों ने भरे।।
उस भाषा में जो है इस स्थान की।
उस हिंदी में जो है हिन्दुस्तान की।।
उसमें जो कुछ रहेगा वही हमारे काम का।
उससे ही होगा हमें गौरव अपने नाम का।।

लेखकों और कवियों में बहुधा विदेशी, विशेषकर अंग्रेजी लेखकों एवं कवियों के नामों एवं कृतित्व का उल्लेख करने की जो परम्परा-सी बन गई है और जिसके आधार पर वे अपना पांडित्य प्रदर्शित कर पाठकों को चकित करने का सुख उठाते हैं, वह कोई नई बात नहीं है। वस्तुतः यह प्रवृत्ति आचार्य शुक्ल के युग से ही प्रारंभ हो चुकी थी। इसकी ओर हिंदी प्रेमियों का ध्यान उन्होंने अपनी कविता 'पाखंड-प्रतिषेध' में दिलाया था। उनकी यह कविता 'सुधा' के फरवरी. १९२८ के अंक में प्रकाशित हुई थी। इस कविता के छठे छंद में उन्होंने लिखा है :

पूरब में शुद्ध रूप में था यह यहाँ वहाँ
पच्छिम में पहुँचा पखंड के प्रमाद तक,
अंगल की भूमि ठीक ब्लेक ने जो ढोंग रचा,
देखते हैं आज यहाँ उसी की चढ़ी है झक।
जूठा औ पुराना यह पच्छिमी पखंड लेके,
होती है नवीनता की डींग-भरी बक-बक,
योरप के किसी-किसी कोने में रहे तो रहे,
रोकना है किन्तु यहाँ इसे आज भरसक।।—मधुस्रोत, पृ० ८५-८६

कविता का अर्थ एवं अपना मंतव्य स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा था :

'इंगलैण्ड के कालरिज, ब्राउनिंग, वर्ड्सवर्थ और शेली आदि रचनाओं में जो कहीं-कहीं रहस्यमय आभास है, वे सच्चे हैं, हृदय की सच्ची अनुभूति के व्यंजक हैं। पर उनके भावों को ग्रहण करने की क्षमता हिन्दी के मैदान में छायावादी बनकर कूदने वालों में नहीं है। अधिकांश की शिक्षा की हद और अंगरेजी आदि की योग्यता छिपी नहीं है। आजकल जो बीच-बीच में लेख इनके निकलने लगे हैं, उनमें योरप के दर्जनों नाम गिनाये हुए मिलते हैं जिनकी रचनाओं के एक पृष्ठ का भी दर्शन इन भले मानसों ने न किया होगा।··· ·····इसी प्रकार के एक लेख के लेखक का पता लगाने पर मालूम हुआ कि आपने आठवें दर्जे तक अंगरेजी पढ़ी है। जो थोड़ी-बहुत अंगरेजी समझते हैं, वे कुछ कवियों के शब्दों और वाक्यों का टेढ़ा-सीधा अनुवाद जोड़-जाड़कर अपनी कविता में घुसा लेते हैं।·········सारांश यह कि इस प्रकार की अनधिकार चेष्टा, पाखंडाप्रलाप और अज्ञता का आवरण हमारे काव्य के नवीन विकास के लिए व्याधि-स्वरूप है।'—मधुस्रोत, पृ० ८५।

इस प्रकार के कवियों-लेखकों को हतोत्साहित करते हुए उन्होंने अपनी कविता में लिखा है :

भाषा है, न भाव है, न भूति भांपने को आंख,
शिक्षा की सुभिक्षा भी न पाई कभी एक कन;
गांथते हैं गर्व-भरी गुरु ज्ञान-गूदड़ी पे
चुने हुए चीथड़ों से, किए ब्रह्म-लीन मन।
कहीं बंग-भंग-पद चकती चमक रही,
कहीं अंगरेजी अनुवाद का अनाड़ीपन;
ऐसे सिद्ध सांइयों की भांग मतवालों में है,
काव्य में न झूठे स्वांग खींचते कभी हैं मन। मधुस्रोत, पृष्ठ ८६

साहित्य-काव्य के प्रति उनका अनन्य प्रेम तो भलीभांति जाना हुआ है। उनका इतिहास, उनके निबन्ध सभी इसके अक्षुण्ण उदाहरण हैं। उनकी कुछ कविताओं, जैसे 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र' [ना० प्र० पत्रिका, अग० १९१२], 'श्रीयुत बा० देवकीनन्दन खत्री का वियोग' [इंदु, अगस्त १९१३], 'भारतेन्दु-जयंती' [इन्दु, सितम्बर, १९१३] तथा 'गोस्वामी जी और हिन्दू जाति' [माधुरी, अगस्त १९२७] आदि में भी उनका यही प्रेम प्रकट होता है। हिन्दी-साहित्य को सम्पन्न बनाने वाले इन साहित्यकारों की वैभवपूर्ण देन के प्रति उन्होंने सहज ही अपनी कृतज्ञता ज्ञापित की है।

यहाँ यह स्पष्ट कर देना भी अप्रासंगिक नहीं होगा कि उनकी कविताएँ काव्य-शैली या पद्धति पर कितनी और किस रूप में खरी उतरेंगी, इसे न परख कर मैंने मात्र काव्य में उनके आदर्शवादी दृष्टिकोण या विषयवस्तु पर ही विचार किया है। इस दृष्टि से निस्संदेह आचार्य शुक्ल की कविताओं ने अतीत के कथानकों को भी बुनकर राष्ट्र की विस्मृति के गर्भ में दबी सांस्कृतिक निधि को उद्घाटित किया है। उन्होंने अपनी कविताओं के माध्यम से विपन्न और पराभूत राष्ट्र के सम्मुख एक आदर्श को उद्बुद्ध किया और तत्कालीन विपन्नावस्था पर क्षोभ प्रकट कर प्रकारान्तर से सामयिक राष्ट्रीय आन्दोलन को भी शक्ति तथा प्रेरणा दी।

१८५, नागवासुकि,
इलाहाबाद

# साहित्येतिहास-लेखन की परम्परा और आचार्य शुक्ल का इतिहास

●

डॉ० विजय कुलश्रेष्ठ

इसमें दो मत नहीं हैं कि हमारे यहाँ साहित्येतिहास-लेखन की परम्परा रही ही नहीं है और जो इतिहास है, वह पुराणों में इस प्रकार निबद्ध है कि उसे इतिहास की संज्ञा नहीं दी जा सकती है। परवर्ती साहित्य में उपलब्ध जिन रचनाओं को इतिहास की गणना में लिया जा सकता है, वे रचनाएँ भी मूलतः इतिहास नहीं हैं, अपितु साहित्येतिहास की सहायक सामग्री भर हैं। 'कामायनी' के इतिहास-तत्त्व पर चर्चा करते हुए इन पंक्तियों के लेखक ने सन् १९६६ में भी यही बात दुहरा-तिहरा कर कही थी।[1] वास्तविकता यह है कि साहित्येतिहास-लेखन की यह परम्परा हमने पश्चिम से ग्रहण की है।[2] साहित्येतिहास-लेखन का यह प्रयास भारत में सबसे पहले अठारहवीं शताब्दी में अंग्रेजी, फ्रांसीसी और जर्मनी साहित्येतिहास से गृहीत परम्परा के अन्तर्गत हुआ था। यही कारण है कि उस साहित्येतिहास की सीमाएँ कविवृत्त, कवियों की जीवनी, कृतियों के विवरण तक ही जा सकीं। लेकिन यह कहना भी अनुचित नहीं होगा कि साहित्येतिहास के लेखन की यह परम्परा जार्ज ग्रियर्सन से आरम्भ होती है। जार्ज ग्रियर्सन ने सन् १८८८ ई० में 'एशियाटिक सोसायटी ऑव बंगाल' की मुखपत्रिका के विशेषांक के रूप में 'द मॉडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर ऑव द नॉदर्न हिन्दुस्तान' नामक ग्रंथ का प्रणयन किया था। पर ध्यातव्य है कि उन्होंने इसे इतिहास कहने या लिखने का जोखिम नहीं उठाया नहीं उठाया था। हो सकता है कि प्रशासनिक अधिकारी के रूप में ग्रियर्सन तब भारतीय मानसिकता को भली प्रकार समझ चुके हों, पर यह निश्चित है कि उस समय भले ही उन्होंने इसे साहित्येतिहास नहीं कहा था, परन्तु था यह वास्तव में हिन्दी-साहित्य का इतिहास ही, क्योंकि इसी ग्रन्थ में सर्वप्रथम कवियों एवं लेखकों का वितरण कालक्रमानुसार देकर ग्रियर्सन ने उनकी साहित्यिक प्रवृत्तियों का उल्लेख किया था।

साहित्येतिहास में इतिहास-संज्ञक नाम से लिखित 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' जार्ज ग्रियर्सन से पहले फ्रांसीसी विद्वान् गार्साँ द तासी प्रस्तुत कर चुके थे। गार्साँ द तासी ने फ्रैंच भाषा में 'इस्त्वार द ला लितरेत्यूर ऐन्दुई ए ऐन्दुस्तानी' तीन भागों में प्रस्तुत किया।[3] इसमें विद्वान् इतिहास-लेखक ने जार्ज ग्रियर्सन से पहले ही हिन्दी एवं उर्दू के अनेक कवियों एवं उनकी रचनाओं का काल-विवरण प्रस्तुत किया था। लेकिन इतिहास-लेखन की जिस परम्परा का अनुसरण साहित्येतिहास में किया जाना चाहिए, उसका इसमें अभाव था और वह काव्य प्रवृत्तियों एवं परम्पराओं से रहित संकलन ग्रंथ मात्र बनकर रह गया था। इसीलिए इतिहास-संज्ञक रचना होकर भी वह इतिहास की मान्यता नहीं पा सका, लेकिन हिन्दी के साहित्येतिहास-लेखन में उसका महत्त्व शून्य नहीं है। इसी प्रकार, जार्ज ग्रियर्सन के बाद एल० पी० तेस्सीतोरी की कृति 'द डिस्क्रिप्टिव कैटलॉग ऑव बर्डिक एण्ड हिस्टॉरिकल मैनस्क्रिप्ट्स' प्रकाशित हुई जिसमें

प्रधानतः राजस्थानी भाषा डिंगल के अन्तर्गत अनेक काव्य-ग्रन्थों के विवरण एवं उदाहरण दिये गये थे।

वास्तव में इतिहास-लेखन की समस्या ऐसी है जो निरन्तर विवादास्पद रही है और सीधे निष्कर्ष तक नहीं पहुँचाती है क्योंकि इसके रूप हैं—साहित्य की व्यापकता की सीमा—सर्जनात्मक या रचनात्मक में से किसे स्वीकार किया जाये ? हिन्दी साहित्य के अन्तर्गत जनपदीय साहित्य का उल्लेख किस सीमा तक स्वीकार्य है ? इसी के साथ हिन्दी साहित्य की कालसीमा का निर्धारण भी महत्त्व रखता है, तो काल-विभाजन और उनके नामाभिधान की समस्या उत्पन्न होती है। यह कहना लेखकीय धृष्टता नहीं माना जायेगा कि सर्जनात्मक रचनाओं के साथ-साथ रचनात्मक साहित्य की कृतियों को हिन्दी के विकास क्रम के अनुरूप ग्रहण करना उपयुक्त है। उक्तिव्यक्ति, वर्णन, वर्णरत्नाकर, टीकाग्रन्थ, ख्यात-बात साहित्य[३], सत्यार्थ-प्रकाश, पद्मपुराण आदि से हिन्दी भाषा के विकास-क्रम को समझने में सहायता मिलती है। निर्विवाद रूप में यह स्वीकार्य हो गया है कि 'मानव के रागात्मक सम्बन्धों की व्यंजना करने वाली 'अविचारित रमणीय' रचनाओं को साहित्य के इतिहास में[४] लेना उचित है। हिन्दी साहित्य की व्याप्ति एवं कालसीमा आदि के सम्बन्ध में अनेक अन्तर्विरोध हैं।[६] कुछ विद्वान् अपभ्रंश या अवहट्ट, ब्रज, अवधी, राजस्थानी, मैथिली आदि को स्वीकार किये जाने और न किये जाने पर एकमत नहीं हो सके हैं तो काल-निर्धारण ८वीं शती से आरम्भ होता है तो कहीं ११-१२वीं शती से स्वीकार करने के तर्क दिये जाते हैं। यह निश्चिततः कहा जा सकता है कि हिन्दी साहित्य-लेखन की परम्परा का स्वरूप सदैव शाश्वत जीवन एवं काव्य-मूल्यों की सर्जनात्मकता के आकलन तक ही रहा है तथा साहित्य के इतिहास-दर्शन के निकष पर इतिहास मात्र ऐसा पूर्ववृत्त माना गया है जिसके द्वारा धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष-विषयक उपदेशात्मक वृत्ति का विकास होता है—

धर्मार्थकाममोक्षाणामुपदेशसमन्वितम् ।
पूर्ववृत्त कथायुक्तमितिहासं प्रचक्षते ॥

यही कारण है कि हमारे यहाँ साहित्येतिहास-लेखन के पूर्व प्रयत्न इतिहास-लेखन की प्रबुद्ध एवं वैज्ञानिक साहित्येतिहासिक परम्परा से रहित बने रहे हैं क्योंक उन्नीसवीं शती से पूर्व अनेक ग्रंथ ऐसे हैं जो ऐतिहासिक महत्त्व के हैं तथा जो तासी या तेस्सीतोरी से पूर्व के हैं, पर उनके द्वारा आकलित परम्परा से कदापि विपरीत नहीं हैं। उनमें वृत्त-आकलन के साथ-साथ कालक्रम एवं सन्-सम्वतों का अभाव है।[७] सखेद विषयान्तर के लिए क्षमा-याचना के बाद मैं यह कहना उचित समझता हूँ कि साहित्येतिहास-लेखन के लिए सर्जनात्मक एवं रचनात्मक साहित्य के साथ-साथ उपलब्ध ऐसी विपुल सामग्री का मूल्यांकन करना भी आवश्यक है जो साहित्य एवं भाषा के विकास में सहायक होती है।

साहित्येतिहास ग्रंथों की परम्परा में कर्नल जेम्स टॉड का नामोल्लेख अपरिहार्य है। उनके ग्रन्थ 'एनल्स एण्ड एण्टीक्विटीज ऑव राजस्थान' में ८३६ कवियों की रचनाओं को वर्णक्रमानुसार प्रस्तुत करते हुए सौ कवियों का जीवनवृत्त भी दिया गया है, परन्तु इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ को साहित्येतिहास कह पाना कठिन है।

सन् १९१८ ई० में एडविन ग्रीव्ज ने 'ए स्कैच ऑव हिंदी लिटरेचर' तथा सन् १९२० ई० में एफ० आई० के की 'ए हिस्ट्री ऑव हिन्दी लिटरेचर' प्रकाशित हुईं। इनमें से ग्रीव्ज की एक-सौ बारह पृष्ठीय पुस्तक पाँच भागों में विभक्त है तथा के की पुस्तक एक सौ सोलह पृष्ठीय रूप में

इतिहास नामाभिधान लिये हुए है। परन्तु दोनों पुस्तकें हिन्दी साहित्य की परिचायिका मात्र हैं, इतिहास-विषयक गुणक्ता का अभाव स्पष्ट है। इनमें काल-विभाजन और नामकरणमूलक प्रवृत्ति जार्ज ग्रियर्सन प्रथित ही है।

इसके अतिरिक्त इन पाश्चात्य विद्वानों द्वारा हिन्दी साहित्येतिहास लेखन की परम्परा में इन समस्त पाश्चात्य विद्वानों के पश्चात् भारतीय साहित्येतिहास-लेखकों की परम्परा का प्रवर्तन शिवसिंह सेंगर ने किया। उन्होंने 'शिवसिंह सरोज' (सन् १८८१ ई० में प्रकाशित) नामक वृहद् ग्रन्थ का निर्माण किया जिसे तासी और ग्रियर्सन के बाद एक हजार कवियों के जन्म-काल, रचना-काल और कविताओं के सन्दर्भसहित उसे ज्ञानकोश के रूप में परिणत कर दिया। इसे भी साहित्येतिहास के रूप में परिगणित नहीं किया जा सकता, फिर भी इसकी मौलिकता आज भी अक्षुण्ण है। इसका कारण यह है कि सेंगर ने 'सरोज' में जितने भी उदाहरण दिये हैं, वे अपने पास संगृहीत हस्तलिखित ग्रन्थों से लिये गये हैं तथा प्रथम सूत्र रूप में आकलित हैं। इसी के साथ जिन ग्रन्थों या स्रोतों से सामग्री-संकलन की है, उनका भी नामोल्लेख किया गया है। इस कार्य की महत्ता का उल्लेख जार्ज एब्राहम ग्रियर्सन ने अपने ग्रन्थ 'द मॉडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर ऑव द नॉदर्न हिन्दुस्तान' में भी किया है। ग्रियर्सन ने इस ग्रन्थ को ही अपनी पुस्तक का आधार-ग्रन्थ कहते हुए लिखा है—'एक देशी ग्रन्थ जिस पर मैं अधिकांश निर्भर रहा हूँ और प्रायः सभी छोटे कवियों तथा अनेक प्रसिद्ध कवियों के भी सम्बन्ध में प्राप्त सूचनाओं के लिए जिसका ऋणी हूँ, वह शिवसिंह द्वारा विरचित और मुंशी नवलकिशोर द्वारा प्रकाशित अत्यन्त लाभदायक 'शिवसिंह सरोज' (द्वितीय संस्करण : १८८३ ई०) है।[८] यही नहीं, डॉ० ग्रियर्सन ने अपना साहित्येतिहास-लेखन-विषयक दृष्टिकोण स्पष्ट किया है—"मैं आधुनिक भाषा-साहित्य का ही विवरण प्रस्तुत करने जा रहा हूँ, अतः मैं संस्कृत में ग्रन्थ-रचना करने वाले लेखकों का विवरण नहीं दे रहा हूँ। प्राकृत में लिखी पुस्तकों को भी विचार के बाहर रख रहा हूँ········ मैंने अरबी-फारसी के भारतीय लेखकों·········साहित्यिक उर्दू के लेखकों का ही·········अपने विचार से जानबूझकर बहिष्कृत कर दिया है, क्योंकि इन पर पहले ही गार्सां द तासी ने पूर्ण रूप से विचार कर लिया है।"[९]

भारतीय साहित्येतिहास-लेखन की परम्परा में द्वितीय प्रयास सन् १९१३ में मिश्रबन्धुओं (गणेशबिहारी, शुकदेवबिहारी एवं श्यामबिहारी) ने 'मिश्रबन्धु-विनोद' तीन भागों में प्रस्तुत किया तथा चौथा भाग सन् १९३४ में पूरा हुआ। लगभग पाँच हजार कवियों के विवरण-सहित यह सबसे प्रथम विराट् और व्यवस्थित इतिवृत्तात्मक ग्रन्थ था। इस ग्रन्थ में कवियों के विवरण के साथ-साथ साहित्य के विविध अंगों पर प्रथम बार प्रकाश डाला गया था। अनेक अज्ञात कवि प्रकाश में लाये गये थे और उनका वर्गीकरण प्राचीन काव्य-परम्परा के आदर्शों पर किया गया था।[१०] यह एक आदर्श इतिहास-ग्रंथ होते हुए भी 'इतिहास' नामाभिधानपरक नहीं है, पर लगभग पाँच हजार (४५९१) कवियों-लेखकों का विवरण, काल-विभाजन तथा कालों के नामकरण की पद्धति इसमें उपलब्ध है। इसी अवधि में 'मिश्रबन्धु-विनोद'[११] के तुरन्त बाद सन् १९१४ में बाबू श्याम सुन्दरदास की 'हिन्दी कोविद' ग्रन्थमाला दो भागों में प्रकाशित हुई जिसमें अस्सी भारतेन्दु-युगीन और तद्प्रभाव-काल के कवियों का परिचय उनकी रचनाओं के साथ प्रस्तुत किया गया है। बाबू श्यामसुन्दरदास एशियाटिक सोसायटी ऑव बंगाल के आजीवन एवं काशी नगरी प्रचारिणी सभा के संस्थापक सदस्य थे तथा उन्होंने हिन्दी साहित्येतिहास-लेखन और तद्विषयक अनुसंधान की दिशा में महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करते हुए हिन्दी साहित्येतिहास-लेखन में काल-विभाजन की विधि अपनाई।

सन् १६१७ में पं० रामनरेश त्रिपाठी की 'कविता कौमुदी' दो भागों में प्रकाशित हुई, पर इसे इतिहास ग्रन्थ कह सकना उचित प्रतीत नहीं होता, इसे कविवृत्त-संग्रह ही कहा जा सकता है।

हिन्दी साहित्येतिहास-लेखन की वैज्ञानिक दृष्टि की सर्वाधिक समीचीनता स्थापित करने की दिशा में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का महत्त्वपूर्ण योगदान है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी साहित्येतिहास की परम्परा में सर्वोच्च स्थान बनाकर 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' (सन् १६२७ में प्रकाशित) प्रस्तुत किया जो मूलतः नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित 'हिन्दी शब्द-सागर' की भूमिका के रूप में लिखा गया था तथा जिसे आगे परिवर्द्धित एवं विस्तृत करके इतिहास का रूप दे दिया गया था।

आचार्य शुक्ल के इस इतिहास के सम्बन्ध में आचार्य चतुरसेन का मत है कि—यह हिन्दी भाषा और साहित्य का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसमें उन्होंने अनेक सिद्धांत जोड़े हैं, कई नई गवेषणाओं का समावेश किया है, नये ऐतिहासिक दृष्टिकोण और गहन पृष्ठभूमिका स्थापित की है तथा उसे सब प्रकार से परिपूर्ण करने का प्रयास किया है।[१२] फिर भी मिश्रबन्धु उसे इतिहास मानने के लिए तैयार नहीं हैं और मन्तव्य स्पष्ट करते हैं—'वह ऐतिहासिक दृष्टिकोण से लिखा ही नहीं गया। नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित 'शब्दसागर' की आठवीं जिल्द में 'हिन्दी साहित्य की रूपरेखा' के नाम से शुक्लजी ने उसकी भूमिका लिखी थी······यह न तो ऐतिहासिक दृष्टिकोण से लिखा गया है और न उसकी परिपाटी ही इतिहास के ढंग की है। उसमें काल की परिधि और सीमाएँ नहीं हैं, पृष्ठभूमि का जहाँ-तहाँ उल्लेख मात्र है।'[१३] फिर भी कहना होगा कि आचार्य शुक्ल ने 'हिन्दी शब्दसागर' की भूमिका को जिस परिवर्द्धित एवं परिष्कृत रूप में रखा, वह मूलतः ऐतिहासिक चिन्तना की परिणति ही है। क्योंकि साहित्येतिहास की परम्परा निर्दिष्ट करने के लिए उन्होंने 'जनता की चित्तवृत्तियों की परम्परा' ग्रहण करने पर जोर दिया है। आचार्य शुक्ल ने स्वयं साहित्येतिहास में उसकी उपयोगिता स्वीकार करते हुए कहा है कि—'जब कि प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्तवृत्ति के परिवर्तन के साथ-साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्तन होता चला जाता है। आदि से अन्त तक इन्हीं चित्तवृत्तियों की परम्परा को परखते हुए साहित्य-परम्परा के साथ उनका सामंजस्य दिखाना ही 'साहित्य का इतिहास' कहलाता है। जनता की चित्तवृत्ति बहुत कुछ राजनीतिक, सामाजिक, साम्प्रदायिक तथा धार्मिक परिस्थिति के अनुसार होती है।'[१४] आचार्य शुक्ल ने अपने वक्तव्य में यह भी स्पष्ट किया है कि—"परिस्थिति के अनुसार शिक्षित जनसमूह की बदलती हुई प्रवृत्तियों को लक्ष्य करके हिन्दी साहित्य के इतिहास के काल-विभाग और रचना की भिन्न-भिन्न शाखाओं के निरूपण का एक कच्चा ढाँचा खड़ा किया था।"[१५]

वस्तुतः साहित्येतिहास-लेखन की आधारभूत सामग्री एवं स्रोत, लेखन में अपनायी गई लेखकीय दृष्टि एवं विश्लेषणपरक चिन्तन की ऐतिहासिकता के मूलाधार बनकर आते हैं। केवल साहित्य के संकलन एवं उसके वर्गीकरण और प्रस्तुतीकरण मात्र से न तो किसी साहित्येतिहास की अर्हताएँ पूर्ण हो सकती हैं और न इतिहास-लेखन के प्रति लेखकीय दायित्व ही पूरा होता है, क्योंकि सामग्री-संकलन, जो अपने-आप में एक गम्भीर और श्रमसाध्य कार्य है, से इतर उपलब्ध सामग्री के अध्ययन-अन्वेषण-अनुसंधान एवं मूल्यांकन से इतिहास-सम्मत निष्कर्षों का आकलन किया जाना साहित्येतिहास-लेखन की अनिवार्यता है।[१६] आचार्य शुक्ल ने उक्त दृष्टि के अनुकूल ही 'हिन्दी साहित्य के इतिहास' की रचना की जिसके सम्बन्ध में डॉ० किशोरीलाल गुप्त का

मत है कि—'शुक्लजी का इतिहास आज तक अन्यतम बना हुआ है और उसे कोई अन्य इतिहास ग्रंथ स्थान-च्युत नहीं कर सका है।''[१७]

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के इस इतिहास ग्रन्थ के बाद सन् १९३८ ई० में हिन्दी के सुप्रसिद्ध नाटककार डॉ० रामकुमार वर्मा ने अपनी डाक्टरेट के लिये शोधप्रबन्ध के रूप में ''हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास'' प्रस्तुत किया। इस प्रबन्ध में उन्होंने आचार्य शुक्ल के इतिहास के सन्दर्भ में कहा है कि—''इसमें हमें इतिहास के साथ समालोचना और आधुनिक दृष्टिकोण से कवियों का निरूपण मिलता है। काव्यधाराओं का विवेचन जैसा इस इतिहास में है, वैसा अन्यत्र नहीं। कवि और लेखकों की शैली-विशेष का वैज्ञानिक विश्लेषण एवं उसके प्रमाणस्वरूप हमें उपर्युक्त उदाहरण भी मिलते हैं।''[१७अ] लेकिन डॉ० वर्मा इस आलोचनात्मक इतिहास के निकष पर आचार्य शुक्ल से आगे बढ़कर जिस नवीनता का प्रतिपादन करना चाहते हैं, उसके सम्बन्ध में मिश्रबन्धुओं का मत विचारणीय है—''डॉ० रामकुमार वर्मा ने ही खोज-सम्बन्धी विषयों का अधिकांश उपयोग किया है। ......उन्होंने लेखक की अंतर्दृष्टि और भावों की अनुभूति पर प्रकाश डाला है, परन्तु उनका न अपना कोई नया ऐतिहासिक दृष्टिकोण है, न उनके पास व्यापक सुदृढ़ ऐतिहासिक पृष्ठभूमि ही है। ......उनका ग्रंथ हिन्दी साहित्य का इतिहास नहीं, हिन्दी साहित्य का एक रिसर्च वर्क—डाक्टरेट के लिए लिखा गया एक थीसिस-सा प्रतीत होता है।''[१७ब]

इस इतिहास ग्रन्थ से पूर्व सन् १९३० में डॉ० सूर्यकान्त शास्त्री ने 'हिन्दी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास' प्रस्तुत किया जिसमें हिन्दी साहित्य पर विश्वजनीन भावनाओं की दृष्टि से तुलना की गई थी। सन् १९३१ ई० रमाशंकर शुक्ल 'रसाल' एक वृहद्काय 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' लिखा जिसमें कवियों और लेखकों की कृतियों के उदाहरणों के स्थान पर साहित्य-विषयक सभी ज्ञातव्य बातों का परिचय दिया गया है तथा वैज्ञानिक चिन्तन से शून्य हो गया है। इस प्रकार यह संकलन ही है। इसमें ग्रन्थकार की अपनी कोई धारणा नहीं है।[१७स] सन् १९३४ ई० में श्री कृष्णशंकर शुक्ल ने भी 'आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास' लिखा, पर इसमें भी अपनी कोई धारणा नहीं व्यक्त की गई है। सन् १९३६ में डॉ० सत्येन्द्र ने 'साहित्य की झाँकी' नामक कृति में सात निबन्धों के माध्यम से ऐतिहासिक विचारधारा और हिन्दी साहित्य का विकास-क्रम प्रस्तुत किया है। सन् १९३८ में ही बाबू गुलाबराय ने 'हिन्दी साहित्य का सुबोध इतिहास' लिखा। इसी अवधि में सन् १९४० में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' नामक ग्रन्थ लिखा तथा सन् १९४१ में ब्रजरत्नदास ने 'खड़ीबोली हिन्दी का इतिहास' लिखा। इन सभी इतिहासपरक ग्रन्थों में हिन्दी साहित्य एवं भाषा का का विवेचन किया है।

सन् १९५२ में बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना के आमंत्रण पर आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने 'हिन्दी साहित्य के आदिकाल' पर चार व्याख्यान दिये। इन व्याख्यानों में साहित्ये-तिहास-दर्शन का विशेष परिचय मिलता है। इसके अतिरिक्त 'हिन्दी साहित्य : उद्भव और विकास' ग्रन्थ के माध्यम से भी हिन्दी साहित्य के ऐतिहासिक विकास को समझने-समझाने का प्रयास किया है। सन् १९६५ में डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त ने 'हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास' लिखा जिसमें साहित्येतिहास की विकासवादी व्याख्या की गई है। डॉ० धीरेन्द्र वर्मा ने 'हिन्दी साहित्य' का सम्पादन कर साहित्येतिहास-लेखन में योग दिया, परन्तु विभिन्न लेखकों और पद्धतियों के परिणामस्वरूप एकता का अभाव रह गया है। डॉ० नगेन्द्र द्वारा सम्पादित

साहित्येतिहास भी सामूहिक लेखन की वैसी ही परिणति का द्योतक है। इसमें भी सन्तुलन का अभाव तथा अन्तर्विरोधी मान्यताएँ मिलती हैं।[१०८]

साहित्येतिहास-लेखन की सुदीर्घ परम्परा के सम्बन्ध में मिश्रबन्धुओं का कथन सार्थक प्रतीत होता है कि—'सन् १९१४ में 'विनोद' के प्रकाशन के बाद इतिहास-ग्रन्थों के जो ढेर लगे हैं, वे 'विनोद' की तुलना में बहुत ही कम आगे बढ़े हैं।'[१०९] निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि उपर्युक्त साहित्येतिहास-सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण कार्यों के अतिरिक्त अब अन्य अनेक साहित्येतिहासिक ग्रन्थों का प्रणयन हो चुका है और इन सभी में किसी वैशिष्ट्य की नवीनता नहीं है। काशी नगरी प्रचारिणी सभा द्वारा 'हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास' की प्रकाशन-योजना के अन्तर्गत कुछ सामान्य सिद्धान्तों और पद्धतियों का निर्धारण कर लिया गया है तथा प्रत्येक खण्ड के लिए अलग-अलग विद्वानों एवं लेखकों का सहयोग लिया जा रहा है। इसकी उपलब्धियों और सीमाओं के विषय में समग्रतः अभी कुछ भी नहीं कह सकता।

उपर्युक्त हिन्दी साहित्येतिहास के सन्दर्भ में निम्नलिखित इतिहास-विषयक एवं अन्य संज्ञार्थक ग्रन्थ उपलब्ध हैं—

| | |
|---|---|
| १. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र | : हिन्दी साहित्य का अतीत |
| २. नलिन विलोचन शर्मा | : हिन्दी साहित्य का इतिहास-दर्शन |
| ३. पदुम लाल पुन्नालाल बख्शी | : हिन्दी साहित्य-विमर्श |
| ४. राहुल सांकृत्यायन | : १. हिन्दी काव्य-धारा २. पुरातत्व-निबन्धावली |
| ५. अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध | : हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास |
| ६. मोतीलाल मेनारिया | : १. राजस्थानी भाषा और साहित्य<br>२. राजस्थानी साहित्य की रूपरेखा |
| ७. हीरालाल माहेश्वरी | : १. जाम्भोजी विष्णोई सम्प्रदाय और साहित्य<br>२. राजस्थानी भाषा और साहित्य |
| ८. परशुराम चतुर्वेदी | : उत्तरी भारत की सन्त-परम्परा |
| ९. धर्मवीर भारती | : नाथ सम्प्रदाय |
| १०. अगरचंद नाहटा | : राजस्थानी भाषा और साहित्य |
| ११. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय | : आधुनिक हिन्दी साहित्य |
| १२. रामर्मूति त्रिपाठी | : हिन्दी साहित्य का इतिहास |
| १३. मोहन अवस्थी | : हिन्दी साहित्य का अद्यतन इतिहास |
| १४. रामगोपाल शर्मा दिनेश | : हिन्दी साहित्य का इतिहास |
| १५. वासुदेव सिंह | : हिन्दी साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास |
| १६. शिवमूर्ति शर्मा | : हिन्दी साहित्य का प्रवृत्त्यात्मक इतिहास |
| १७. हृदयेश मिश्र | : हिन्दी साहित्य का इतिहास |
| १८. रामखेलावन पाण्डेय | : हिन्दी साहित्य का नया इतिहास |
| १९. कृष्णलाल | : आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास |
| २०. नन्ददुलारे वाजपेयी | : हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी |
| २१. मुंशीराम शर्मा | : हिन्दी साहित्य के इतिहास का उपोद्घात |
| २२. सूर्यकान्त | : हिन्दी साहित्य की रूपरेखा |
| २३. उत्तमचन्द्र श्रीवास्तव | : हिन्दी साहित्य का रेखाचित्र |
| २४. भुवनेश्वर नाथ मिश्र माधव | : सन्त-साहित्य |

२५. इन्द्रनाथ मदान : माडर्न हिन्दी लिटरेचर
२६. श्यामसुन्दर दास : हिन्दी भाषा और साहित्य
२७. मिश्रबन्धु : हिन्दी नवरत्न

यह निर्विवाद सत्य है कि शुक्लजी से पूर्व हिन्दी साहित्येतिहास-लेखन की कोई व्यवस्थित परम्परा नहीं थी जिसका वे अनुसरण कर सकते। यद्यपि उनसे पूर्व कई पाश्चात्य एवं पौर्वात्य विद्वान् कविवृत्त-संग्रह विषयक प्रयास कर चुके थे। आचार्य शुक्ल ने अपनी प्रखर मेधा और अद्वितीय अनुसन्धान-शक्ति के बलपर साहित्येतिहास-लेखन के मानक निर्धारित कर हिन्दी के वैज्ञानिक साहित्येतिहास की परम्परा का श्रीगणेश किया। पर डॉ० देवीशंकर अवस्थी इस साहित्येतिहास-लेखन पर गम्भीर आरोप लगाते हैं कि—"साहित्यिक उत्थान-पतन का निर्धारण उन्होंने अपनी लोकसंग्रह वाली कसौटी पर करना चाहा है, पर उनकी इतिहास-दृष्टि निर्मल नहीं थी।"[१८] लेकिन डॉ० अवस्थी साथ ही यह भी कहते हैं कि—यह उस समय तक प्रबुद्ध वर्ग की इतिहास-सम्बन्धी चेतना की सीमा थी।[१९] डॉ० अवस्थी की यह दुविधाजन्य स्थिति इसलिए है कि वे अपने आरोप की रूक्षता तथा साहित्येतिहास की वैज्ञानिकता से भली भाँति परिचित थे तथा मिश्रबन्धु के कथन के समानान्तर अपनी कथन-पुष्टि के आकांक्षी थे।[२०] लेकिन जनता की जिन चित्तवृत्तियों की परम्परा का संकेत साहित्य की परम्परा के साथ परखने का संकेत आचार्य शुक्ल कर चुके हैं, उस पर डॉ० अवस्थी का ध्यान केन्द्रित नहीं हो सका है और उसे वे लोकसंग्रहवाली कसौटी ही समझकर बैठ गये हैं। वास्तविकता यह है कि जनता की चित्तवृत्तियों की परम्परा को साहित्य की परम्परा के साथ सामंजस्य कर साहित्येतिहास का प्रतिपाद्य बनाने तथा उसे साहित्यालोचन से पृथक् रखने का जो प्रयास आचार्य शुक्ल ने किया था, उसको समझने का प्रयास नहीं किया गया है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इस सन्दर्भ में अपना मत प्रकट करते हुए कहा है कि—वृत्त-संग्रह की परम्परा इसमें भी समाप्त नहीं हुई है और साहित्य को मानव-समाज के सामूहिक चित्त की अभिव्यक्ति के रूप में न देखकर केवल 'शिक्षित समझी जाने वाली जनता' की प्रवृत्तियों के परिवर्तन-विवर्तन के निर्देशक के रूप में देखा गया है। शुक्लजी की यह विशेष दृष्टि थी और इस दृष्टि-भंगिमा के कारण उनके इतिहास में भी विशिष्टता आ गई है।'[२१] आचार्य द्विवेदी ने डॉ० अवस्थी की भाँति 'इतिहास-दृष्टि की निर्मलता' पर प्रश्न-वाचक नहीं लगाया है, अपितु साहित्येतिहास-लेखन की कठिनाई का यथार्थ उद्घाटित किया है कि—"शिवसिंह सेंगर ने प्रथम बार हिन्दी साहित्य के इतिहास का एक ढाँचा तैयार करने का प्रयास किया था···सुप्रसिद्ध भाषाविज्ञानी डॉ० (बाद में 'सर') जार्ज ग्रियर्सन ने अंग्रेजी में एक ऐसा ही प्रयत्न किया।·········ये दोनों पुस्तकें बहुत थोड़ी सामग्री के आधार पर लिखी गई थीं। इनमें कवियों और रचनाओं के विवरण संग्रह कर दिये गये थे, पर उनको किसी एक ही जीवन-प्रवाह के चिह्न-रूप में देखने का प्रयत्न नहीं था। उन दिनों यह बात सम्भव भी नहीं थी।·········स्वर्गीय पण्डित रामचंद्र शुक्ल ने इन पुस्तकों को 'कविवृत्त-संग्रह' कहकर इनका बहुत ठीक परिचय दिया था········मिश्रबंधुओं ने·········मिश्रबन्धु—विनोद' नामक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रंथ लिखा था···लेकिन है यह भी कविवृत्त संग्रह ही·········।[२२]

एक मजे की बात यह है कि मिश्रबन्धुओं ने आचार्य शुक्ल पर 'ऐतिहासिक दृष्टि न होने का' आरोप लगाया है, पर जहाँ आचार्य द्विवेदी के अनुसार उनका महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'मिश्रबन्धु-विनोद' भी कविवृत्त-संग्रह बताया है और आचार्य शुक्ल अपने साहित्येतिहास के लिए कवियों का विवरण 'मिश्रबन्धु-विनोद' से ग्रहण करते हैं तो मिश्रबन्धुओं की दृष्टि कसी रही

है, स्वयं साहित्येतिहास के विद्वत्जन विचार कर सकते हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने स्वीकार करते हुए कहा है कि—"कवियों के परिचयात्मक विवरण मैंने प्रायः 'मिश्रबन्धु-विनोद' से ही लिये हैं।"[२३]

जनवादी आलोचक डॉ० शिवकुमार शुक्ल आचार्य शुक्ल की इस 'जनता की चित्तवृत्ति-विषयक अवधारणा' के निकष पर साहित्येतिहास-लेखन का मूल्यांकन करते हुए लिखते हैं कि—"आचार्य शुक्ल की इतिहास-दृष्टि का पहला उल्लेखनीय बिन्दु उसका जनवादी आधार है। साहित्य को जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिम्ब मानने की उनकी बात हमारे इस कथन का प्रमाण है।......उन्होंने 'जनता' की जगह 'शिक्षित जनता' शब्द का इस्तेमाल किया है, परन्तु इससे हमारा उक्त कथन निरस्त नहीं होता।"[२४]

साहित्येतिहास-लेखन की सुदीर्घ परम्परा में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने जब हिन्दी साहित्य के इतिहास का प्रणयन किया था, तब स्रोत-सामग्री का अत्यधिक अभाव था, लेकिन फिर भी शुक्लजी ने उपलब्ध सामग्री-स्रोत का उपयोग जिस दृष्टि विशेष के साथ किया था, उसमें निश्चित रूप से इतिहास-दृष्टि का अभाव नहीं कहा जा सकता जिसका संकेत मिश्रबन्धु करते हैं। आचार्य शुक्ल से पूर्व हिन्दी साहित्येतिहास-लेखन का प्रारम्भ गार्सां द तासी ने किया था इतिहास नामाभिधान के रूप में, उसके पश्चात् ग्रियर्सन ने इतिहाससंज्ञकविहीन रचना के रूप में निश्चित कालक्रमानुसार हिन्दी का साहित्येतिहास ही प्रस्तुत किया था। पूर्ववर्ती कार्य की भाँति शुक्लजी के इतिहास को केवल कविवृत्त-संग्रह नहीं कहा जा सकता। इस बात को भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि शुक्लजी ने साहित्य को पर्याप्त महत्त्व दिया है। उन्होंने उन सामाजिक परिस्थितियों का संक्षेप में आकलन एवं निर्देशन किया है जिसमें एक विशेष प्रकार का साहित्य लिखा जा रहा था क्योंकि सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक एवं आर्थिक परिस्थितियों के विशद् विवेचन से साहित्य का विवेचन दब सकता था। अतः इस योजना और उद्देश्य के अन्तर्गत इनके विविध स्वरूपों का निर्देश मात्र ही उपयुक्त था।[२५]

शुक्लजी के इतिहास का वैशिष्ट्य यह है कि उन्होंने अपने इतिहास में मात्र एक हजार कवियों तथा साहित्यकारों के चरित्र सम्बन्धी इतिवृत्त के साथ उनकी रचनाओं का संक्षिप्त और महत्त्वपूर्ण मूल्यांकन प्रस्तुत किया है जो उनकी साहित्यिक महत्ता और विशेषताओं पर आधृत है। अतः इसे मात्र कविवृत्त-संग्रह कह देना हास्यास्पद ही माना जा सकता है। कविवृत्त-संग्रह के रूप में सर्वप्रथम शिवसिंह सेंगर ने तीन स्रोतों से सामग्री संकलित की थी[२६] जो परवर्ती इतिहास-लेखकों के लिए सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण आधार-ग्रन्थ बना, पर साहित्येतिहास लेखन की आधारभूत सामग्री के रूप में इसकी उपादेयता संदिग्ध है।[२७] इसी प्रकार आचार्य शुक्ल ने 'जनता की संचित चित्तवृत्ति के परिवर्तन के साथ-साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्तन होता है'[२८] चले जाने तथा उसका सामंजस्य दिखाते हुए जो साहित्येतिहास प्रस्तुत किया, वह कोरा कविवृत्त-संग्रह नहीं कहा जा सकता।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अपने 'हिन्दी साहित्य : उद्भव और विकास', 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' और 'हिन्दी साहित्य का आदिकाल' जैसी महत्त्वपूर्ण कृतियों के माध्यम से हिन्दी साहित्य के मध्यकालीन काव्य-स्रोतों एवं पूर्व-परम्पराओं के अनुसंधान तथा उनकी सहानुभूतिपूर्ण एवं यथातथ्य व्याख्या करने की दिशा में महत्त्वपूर्ण योग दिया है। आचार्य द्विवेदी का साहित्येतिहास भी कोई मौलिक उद्भावना लेकर हमारे समक्ष नहीं आता है, तभी डॉ० नगेन्द्र का कथन सार्थक प्रतीत होता है कि—उन्होंने अपना लक्ष्य आचार्य शुक्ल द्वारा स्थापित इतिहास के स्थूल ढाँचे में ही अपनी धारणाओं को समेट देने तक का रखा है, जबकि उसे आमूलचूल

परिवर्तित कर देने की शक्ति का भी उसमें अभाव नहीं था। शुक्लजी द्वारा स्थापित प्रथम तीन काल-खण्डों को बाह्य एवं भीतरी आधारों की दृष्टि से पूर्णतः झकझोर देने के बाद भी उन्होंने उसे उन्मूलित कर देने का कार्य अपने हाथों से सम्पादित नहीं किया......कदाचित यही कारण है कि उनके इतिहास की रूपरेखा, काल-विभाजन-पद्धति एवं काव्यधारा की नियोजना बहुत कुछ आचार्य शुक्ल के इतिहास के अनुरूप है।[२९]

तुलनात्मक दृष्टि से डॉ० रामकुमार वर्मा लिखित साहित्येतिहास ग्रन्थ 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास" भी अपनी मौलिक उद्भावनाओं से रिक्त है। यद्यपि उसमें आधार-सामग्री की दीर्घ सूची प्रस्तुत की गई है, पर इसके बाद भी इस साहित्येतिहास की दृष्टि आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी से इतर नहीं है। यही नहीं, काल-विभाजन में ७५० विक्रम सम्वत् से काल-गणना का सूत्र देकर भी वे आचार्य शुक्ल के मत-प्रतिदान से बाहर नहीं जा सके हैं। इसी के इतर गणपतिचन्द्र गुप्त द्वारा लिखित "हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास" (१९६५ ई०) में डॉ० गुप्त ने "साहित्य के रूपात्मक, प्रवृत्यात्मक एवं गुणात्मक विकास के सिद्धान्त स्थापित करने के साथ ही आचार्य शुक्ल-प्रथित काल-विभाजन के ढाँचे में मौलिक एवं संरचनात्मक परिवर्तन किये हैं।"[३०] तथा यह कहा जा सकता है कि उन्होंने आचार्य शुक्ल एवं अन्य साहित्येतिहासकारों की अनेक भ्रान्त धारणाओं का सतर्क खण्डन किया है तथा नई मान्यताएँ भी स्थापित की हैं। डॉ० नगेन्द्र और डॉ० धीरेन्द्र वर्मा द्वारा सम्पादित साहित्येतिहासों में व्यक्ति-वैविध्य के कारण विवेचन-पद्धति में एकरूपता की स्थापना का अभाव परिलक्षित होता है।

आचार्य शुक्ल प्रणीत साहित्येतिहास इसलिए और महत्त्वपूर्ण है कि इसमें उन्होंने इतिहास के मूल-विषय को आरम्भ करने से पूर्व ही काल-विभाजन के अन्तर्गत हिन्दी साहित्य के नौ सौ वर्षों के इतिहास को चार सुस्पष्ट कालखण्डों में विभक्त कर परवर्ती साहित्येतिहासकारों का दिशा-निर्देशन किया है। इस काल-विभाजन के माध्यम से, सूक्ष्मताओं के पचड़े में बिना पड़े ही, उन्होंने सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य को एक दृष्टि देख लेना चाहा है। वर्तमान काल तक उपलब्ध नवीन तथ्यों और निष्कर्षों के अनुसार आचार्य शुक्ल-प्रथित काल-विभाजन त्रुटिपूर्ण सिद्ध हो चुका है, तथापि इसमें कोई सन्देह नहीं कि अपनी अति सरलता एवं स्पष्टता के कारण वह काल-विभाजन आज भी बहुप्रचलित एवं बहुमान्य है। इस काल-विभाजन पर परवर्ती विद्वानों या साहित्येतिहासकारों ने शंका उठाई है। आचार्य शुक्ल-प्रथित साहित्येतिहास का काल-विभाजन निम्नरूपेण है—

| | | |
|---|---|---|
| आदिकाल | वीरगाथा काल | सम्वत् १०५०-१३७५ वि० स० |
| मध्यकाल | | |
| पूर्व म०का० | भक्तिकाल | १३७५-१७०० वि० स० |
| उत्तर म०का० | रीतिकाल | १७००-१९०० वि० स० |
| आधुनिक काल | गद्यकाल | १९००-१९८४ वि० स० |

इस काल-विभाजन का महत्त्वपूर्ण पक्ष यह है कि शुक्लजी ने साहित्येतिहास का आरम्भ या आविर्भाव वि० स० १०५० (सन् ९९३) से माना है। कई परवर्ती विद्वानों ने इस कालावधि को अस्वीकार किया है, लेकिन उनके निष्कर्षों में कितना दम है, वह इसी से स्पष्ट हो जाता है कि वे लोग कहीं न कहीं आचार्य शुक्ल की मौलिक निष्कर्षात्मक चेतना से पराभूत हैं। परवर्ती साहित्येतिहासकार डॉ० रामकुमार वर्मा ने अपने साहित्येतिहास-विषयक शोधप्रबन्ध में उपलब्ध आधार-सामग्री की सूची की परिगणना कराने के बाद वि० स० ७५० से (सन् ६९३ से)

साहित्येतिहास का प्रारम्भ माना है। निश्चित ही सामान्य रूप से देखने में यह चार सौ वर्ष पहले की अवधि है और इसकी सीमारेखा आचार्य शुक्ल-प्रथित काल-खण्ड वि० स० १०५० से पचास वर्ष पूर्व समाप्त होती है। डॉ० वर्मा इसे सन्धिकाल (वि० स० ७५० से १०००) कहते हैं तथा उसके बाद दूसरे कालखण्ड का नामाभिधान 'चारण काल' देकर उसकी अवधि वि० स० १००० १३७५ तक रखते हैं। यह अन्तर कितना मौलिक है और ग्राह्य, आदरणीय विद्वान् स्वयं अनुमान लगा सकते हैं कि संधिकालीन साहित्यिक कृतियों से काल-विभाजन का नामोल्लेख किया जा सकता था तो उस काल का नाम संधिकाल ही क्यों होता? दूसरी स्थिति यह है कि साहित्येतिहास में जब चारण सम्प्रदाय की काव्य-रचनाओं की बहुलता के आधार पर कालावधि विशेष को 'चारण काल' कहा जा सकता है, तो फिर डॉ० वर्मा का मध्यकाल ब्राह्मण-काल, गोस्वामी-काल जैसे सम्प्रदाय-जातिपरक नामाभिधान से सम्बन्धित होना चाहिए, जबकि तथ्य यह है कि साहित्येतिहास साहित्यधारा में प्रचलित किसी प्रवृत्ति-विशेष के अनुसार और युगीन जन की चित्तवृत्ति का परिचायक होना चाहिए। जिस काल-खण्ड को डॉ० वर्मा ने सन्धिकाल नामाभिहित किया है, उसे ही आचार्य चतुरसेन अपभ्रंश-युग (वि० स० ६०३ से १३१३ तक या सन् ७६० से १३०० ई०) मानते हैं और यह भी स्पष्ट करते हैं कि संस्कृत से सर्वथा विच्छिन्न भाषा अपभ्रंश है तथा अपभ्रंश और हिन्दी में ऐसा भेद है कि "हिन्दी की मूल भाषा 'अपभ्रंश' हिन्दी भाषाभाषियों से अपरिचित हो गई।"[३१] आचार्य चतुरसेन का साहित्येतिहास नई गवेषणाओं, नये ऐतिहासिक दृष्टिकोण और उनके गहन अध्ययन-विश्लेषण तथा पाण्डित्य का पोषक है, पर कालनिर्धारण-सम्बन्धी समस्या डॉ० वर्मा की भाँति ही आचार्य चतुरसेन में अपनी सहज स्वीकृति पा सकने में असमर्थ है।

इस सन्दर्भ में डॉ भोलाशंकर व्यास का मत विचारणीय है कि—"अपभ्रंश साहित्य, यहाँ तक कि पूरबी अपभ्रंश के दोहाकोष और चर्यापद भी हिन्दी साहित्य को मिली विरासत या परम्परा को जानने के लिए हिन्दी साहित्य की भूमिका भले ही बनाये जा सकते हैं; उसी तरह जैसे संस्कृत तथा प्राकृत साहित्य को परम्परा, किन्तु हिन्दी साहित्य के इतिहास में अपभ्रंश-काल जैसी परिकल्पना ठोस वैज्ञानिक आधार पर स्थिर नहीं है।"[३२] वस्तु, न सन्धिकाल उपयुक्त प्रतीत होता है साहित्येतिहास के दर्शन-निकष पर, न चारण-काल और न अपभ्रंश-काल।

आचार्य शुक्ल से पूर्व ही ग्रियर्सन और मिश्रबन्धुओं ने अपने ढंग से साहित्येतिहास का काल-विभाजन किया था। ग्रियर्सन ने काल-विभाजन करते हुए डॉ० वर्मा से पहले ही ग्यारह खण्डों में साहित्येतिहास को वर्गीकृत किया था, यथा—

१. चारण-काल
२. पन्द्रहवीं शती का धार्मिक पुनर्जागरण
३. मलिक मुहम्मद जायसी की प्रेम-कविता
४. ब्रज का कृष्ण-सम्प्रदाय
५. मुगल-दरबार
६. तुलसीदास
७. रीतिकाव्य
८. तुलसीदास के अन्य परवर्ती
९. अट्ठारहवीं शताब्दी

१०. कम्पनी शासन में हिन्दुस्तान

११. महारानी विक्टोरिया के शासन में हिन्दुस्तान

उक्त काल-विभाजन न तो कालखण्ड-सम्मत है और न साहित्यिक प्रवृत्तिपरक। पर मिश्रबन्धुओं ने कालखण्डपरक साहित्येतिहास का विभाजन निम्नरूपेण किया है —

| | |
|---|---|
| १. पूर्वारम्भ काल | सम्वत् ७००-१३४३ |
| २. उत्तरारम्भ काल | १३४४-१४४४ |
| ३. पूर्व माध्यमिक काल | १४४५-१५६० |
| ४. प्रौढ़ माध्यमिक काल | १५६१-१६८० |
| ५. पूर्व अलंकृत काल | १६८१-१७९० |
| ६. उत्तरालंकृत काल | १७९१-१८८९ |
| ७. परिवर्तन काल | १८९०-१९२५ |
| ८. वर्तमान काल | १९२६- |

इस साहित्येतिहास के काल-विभाजन में वे डॉ० ग्रियर्सन के ऋणी रहे हैं। पर आचार्य शुक्ल ने इन दोनों काल-वर्गीकरण के रहते हुए कालगत एवं प्रवृत्तिगत दृष्टियों से वैज्ञानिक काल-विभाजन प्रस्तुत किया जो परवर्ती साहित्येतिहासकारों में नानावधि चर्चा का विषय तो बनता रहा, पर नवीन रूप में सटीक काल-विभाजन आज तक प्रस्तुत नहीं किया जा सका है। यद्यपि डॉ० भोलाशंकर व्यास इसे तीन कालों में ही बाँटकर देखते हैं[३३] तथा उनकी मान्यता है कि "मध्ययुग में १४वीं सदी के बाद से १९वीं सदी के आरम्भ तक का सामाजिक परिवेश और उसकी द्वन्द्वात्मक प्रतिक्रिया से उदित सर्जनात्मक साहित्य की गतिविधि प्रायः एक-सी रही है, भले ही इसमें मात्रात्मक परिवर्तन होता रहा हो, पर सबसे पहले अगर साहित्यिक प्रवृत्तियों में गुणात्मक परिवर्तन के लक्षण नजर आते हैं, तो वे भारतेन्दु और उनके समसामयिक रचनाकारों में ही·········हमारी मध्यकाल की परिभाषा भारत के राजनीतिक इतिहास में प्रसिद्ध मध्यकाल से भिन्न है।"[३४]

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने हिन्दी साहित्येतिहास का आरम्भ दशम विक्रमाब्द से ही स्वीकार कर काल-विभाजन करते हुए प्रारम्भिक काल को 'आदिकाल' नाम से ही अभिहित करते हैं। डॉ॰ रामखेलावन पाण्डेय ने इसे 'संक्रमण-काल' से नामाभिहित करते हुए इसका प्रारम्भ वि० सम्वत् १०५७ (सन् १००० ई०) माना है।[३५] बाबू गुलाबराय साहित्येतिहास का आरम्भ वि० सम्वत् १००० से स्वीकार करते है।[३६] राहुल एवं आचार्य चतुरसेन साहित्येतिहास का आरम्भ विक्रम सम्वत् ८१७ से १३५७ (सन् ७६० से १३०० ई०) बताकर इसे "अपभ्रंश-युग" नाम से अभिहित करते हैं तथा सरहपा को प्रथम कवि के रूप में स्वीकार करते हैं।[३७] डॉ० रामगोपाल शर्मा दिनेश का विचार ध्यातव्य है—"राहुल जी ने सातवीं शताब्दी ईसवी के सरहपाद को हिन्दी का प्रथम कवि माना है······उनकी कविता में अपभ्रंश का साहित्यिक रूप छूट गया है तथा बोलचाल की भाषा, जो आरम्भिक हिन्दी है, प्रयुक्त हुई है।······सरहपाद को हिन्दी का प्रथम कवि मान लेने से हिन्दी साहित्य के आरम्भ की सीमा आठवीं शती विक्रम (सन् ७०३ ईस्वी) निश्चित हो जाती है।"[३८] लेकिन यह द्रष्टव्य है कि सरहपाद की जिन रचनाओं का विद्वान् उल्लेख कर रहे हैं, उनमें हिन्दी में रचित कोई भी कृति नहीं है। डॉ० दिनेश का मत भी सार्थक सिद्ध नहीं होता है, वह भी उक्त विद्वानों की भाँति ही किसी विशेष स्थिति का परिचायक नहीं है। उनसे पूर्व सरहपाद को अन्य विद्वान् भी याद कर चुके हैं, पर समस्या

पहले भी कब सुलझ सकी थी। यहाँ डॉ० हरिश्चन्द्र का मत विचारणीय है जिसमें कहा गया है कि—"सरहपाद की हिन्दी में रचित एक भी कृति आज तक उपलब्ध नहीं है। राहुल जी ने 'दोहाकोश' में सरहपाद के नाम से जो कविता के नमूने प्रस्तुत किये हैं, वे तिब्बती भाषा में प्राप्त प्रति के स्वयं राहुल जी द्वारा किये गये अनुवाद हैं।"[३९] अस्तु, इन रचनाओं के आधार पर हिन्दी साहित्येतिहास का काल-निर्णय करना तार्किक नहीं है। विषयवस्तु को दृष्टि में रखते हुए राहुल जी ने सिद्धसामन्त-काल का नामाभिधान दिया, पर इस कालखण्ड-विशेष में सिद्धों के धार्मिक साहित्य की बहुलता है और उसमें विशुद्ध साहित्य का अभाव है। इसी प्रकार डॉ० रामकुमार वर्मा ने हिन्दी साहित्येतिहास का प्रारम्भिक काल वि० सम्वत् ७५० से स्वीकार कर इसे 'सन्धिकाल' से अभिहित किया है। पर इस कालावधि में अपभ्रंश भाषा में लिखित सिद्ध, जैन तथा नाथ-कवियों की रचनाओं का समावेश कर हिन्दी साहित्य के सन्धिकाल के औचित्य की स्थापना करते हैं, ठीक उसी प्रकार जैसे राहुलजी अनूदित दोहाकोश से सरहपाद को हिन्दी का प्रथम कवि मानने की रस्साकसी कुछ विद्वान् करते रहे हैं।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने भी अपने मत-वैभिन्न्य का प्रतिपादन करते हुए सबसे पहले यह स्वीकार किया है कि—"शिक्षित जनता की प्रवृत्तियों के अनुसार होने वाले परिवर्तन के आधार पर साहित्यिक रचनाओं के काल-विभाजन का प्रयास किया गया। उनकी दृष्टि व्यापक थी। उन्होंने अपने इतिहास के पुस्तक-रूप में प्रकाशित प्रथम संस्करण में आदिकाल के भीतर अपभ्रंश रचनाओं को भी ग्रहण किया था, क्योंकि वे सदा से भाषा-काव्य के अन्तर्गत मानी जाती रहीं।"[४०]

यह निर्विवाद है कि आचार्य शुक्ल जब १६२६ में साहित्येतिहास की रचना कर रहे थे, तब आधार-सामग्री की वह सहज उपलब्धता नहीं थी जो परवर्ती साहित्येतिहासकारों को प्राप्त हो सकी है। परवर्ती काल में अपभ्रंश, राजस्थानी, गुजराती और मैथिली आदि में ऐसी प्रामाणिक पुस्तकें उपलब्ध हुई हैं तथा विषयानुरूप में चरित-काव्य, कथा, आख्यानक और चम्पू, निजंधरी एवं ऐतिहासिक रचनाओं के रूप में साहित्येतिहास की आधार-सामग्री में प्रमुख उपादान हैं, जबकि आचार्य शुक्ल ने दसवीं से लेकर चौदहवीं शती के काल को साहित्येतिहास के काल-विभाजन के अन्तर्गत 'हिन्दी साहित्य का आदिकाल' कहते हुए इस कालखण्ड-विशेष की अपभ्रंश और देशभाषा-काव्य की बारह पुस्तकों को साहित्यिक इतिहास की विवेचना के योग्य समझा था। ये पुस्तकें निम्नांकित हैं—

| | |
|---|---|
| १. विजयपाल रासो | ७. पृथ्वीराज रासो |
| २. हम्मीर रासो | ८. जयचन्द्र प्रकाश |
| ३. कीर्तिलता | ६. जयमयंक जसचंद्रिका |
| ४. कीर्तिपताका | १२. परमाल रासो (आल्हा का मूल) |
| ५. खुमान रासो | ११. खुसरो की पहेलियाँ |
| ६. बीसलदेव रासो | १२. विद्यापति पदावली |

उक्त बारह पुस्तकों के आधार पर शुक्लजी ने कहा है कि—'इन्हीं बारह पुस्तकों की दृष्टि से आदिकाल का लक्षण, निरूपण और नामकरण हो सकता है। इसमें से अन्तिम दो तथा बीसलदेव रासो को छोड़कर शेष सभी ग्रन्थ वीरगाथात्मक हैं। अतः आदिकाल का नाम 'वीर-गाथाकाल' ही रखा जा सकता है।"[४१] आचार्य शुक्ल ने मिश्रबन्धुओं द्वारा उल्लेखित बहुत-सी पुस्तकों को विवेचनयोग्य ही नहीं समझा और उन्हें—१. कुछ पीछे की रचनाएँ, २. कुछ नोटिस मात्र और ३. कुछ को जैनधर्म के उपदेश-विषयक कहकर छोड़ दिया है। परवर्ती कालीन शोध के

अनुसार यह स्पष्ट हो गया है कि—"जिन बारह पुस्तकों के आधार पर शुक्लजी ने इस काल की प्रवृत्तियों का विवेचन किया था, उनमें से कई पीछे की रचनाएँ हैं और कई नोटिस मात्र हैं और कई के सम्बन्ध में यह निश्चित रूप से नहीं किया जा सकता कि उनका मूल रूप क्या था।"[४२] आचार्य शुक्ल ने जैन साहित्य-विषयक रचनाओं को साहित्येतिहास की आधार-सामग्री में गणनीय नहीं समझा, पर परवर्ती शोधें सिद्ध करती हैं कि ये रचनाएँ मात्र धार्मिक नहीं हैं। इससे साथ आचार्य द्विवेदी का यह मत भी साहित्येतिहास-लेखन एवं काल-निर्धारण के लिए ग्राह्य होना उचित प्रतीत होता है कि—धार्मिक साहित्य होने मात्र से कोई रचना साहित्यिक कोटि से अलग नहीं की जा सकती। यदि ऐसा समझा जाने लगे तो तुलसीदास का रामचरित-मानस भी साहित्य-क्षेत्र में अविवेच्य हो जायेगा और जायसी का पद्मावत भी साहित्य-सीमा के भीतर नहीं घुस सकेगा। वस्तुतः लौकिक निजंधरी कहानियों को आश्रय करके धर्मोपदेश देना इस देश की चिरपरिचित प्रथा है।……जो भी पुस्तकें आज संयोग और सौभाग्य से बची रह गई हैं, उनके सुरक्षित रहने का कारण प्रधान रूप से धर्मबुद्धि ही रही है। काव्यरस की भी वही पुस्तकें सुरक्षित रह सकी हैं जिनमें किसी न किसी प्रकार धर्मभाव का संस्पर्श रहा है। ……'सन्देशवासक' और 'कीर्तिलता' इसी श्रेणी की रचनाएँ हैं।[४३]

इस संदर्भ में मोतीलाल मेनारिया का विचार भी विशेष उल्लेखनीय है कि—इनमें से कई की प्रामाणिकता संदिग्ध है और कई नोटिस-मात्र हैं……इसके अतिरिक्त ये रासो ग्रन्थ, जिनको वीरगाथाएँ नाम दिया गया है और जिनके आधार पर वीरगाथाकाल की कल्पना की गई है, राजस्थान के किसी समय-विशेष की साहित्यिक प्रवृत्ति को भी सूचित नहीं करते।'[४३ अ]

आचार्य शुक्ल ने 'वीरगाथा काल' से आदिकाल का नाम अभिहित करने के लिए जिन बारह पुस्तकों का आश्रय लिया है, उनका एक वर्गीकरण निम्न प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है[४४]—

(i) अपभ्रंश ग्रंथ— (१) विजयपाल रासो (२) हम्मीर रासो
(३) कीर्तिलता (४) कीर्तिपताका

(ii) देशभाषा ग्रंथ— (५) खुमान रासो (६) पृथ्वीराज रासो
(७) जयचंद्र प्रकाश (८) जयमयंक जस चंद्रिका
(९) परमाल रासो

(iii) साहित्यिक ग्रंथ—(१०) वीसलदेव रासो (शृंगारी काव्य)
(११) खुसरो की पहेलियाँ (मनोरंजक साहित्य)
(१२) विद्यापति पदावली (शृंगारी काव्य)

लेकिन इस वर्गीकरण को रासो संज्ञक रचनाओं एवं रासो संज्ञारहित रचनाओं के आधार पर निम्न रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है—

(१) रासो संज्ञक रचना ग्रंथ—(१) विजयपाल रासो (२) हम्मीर रासो
(३) खुमान रासो (४) पृथ्वीराज रासो
(५) परमाल रासो (६) वीसलदेव रासो

(२) रासो संज्ञारहित ग्रंथ— अ—अपभ्रंश भाषा ग्रंथ—
(१) कीर्तिलता (२) कीर्तिपताका

आ—देशभाषा ग्रंथ—

(१) जयचन्द्र प्रकाश (२) जयमयंक जस चन्द्रिका

इ—प्रकीर्णक ग्रंथ—

(१) खुसरो की पहेलियाँ

(२) विद्यापति की पदावली

उक्त बारह ग्रन्थों में से वीसलदेव रासो, खुसरो की पहेलियाँ और पदावली सांकेतिक रूप में भी वीरगाथात्मक नहीं हैं और देशभाषा काव्य-वर्ग में जयचंद्र प्रकाश और जसचंद्रिका नामक कृतियों की उपलब्धता आज भी संदिग्ध है। फिर विजयपाल रासो की उपलब्धता भी कम संदिग्ध नहीं है। आचार्य शुक्ल को इस ग्रन्थ की सूचनामात्र ही थी, क्योंकि मूलतः यह ग्रन्थ आज तक भी अनुपलब्ध रहा है। मात्र ५५ पद की ज्ञात रहे हैं जिनके लिये शुक्ल परवर्ती काल में मुंशी देवीप्रसाद और मोतीलाल मेनारिया का श्रम स्तुत्य है।[४५] इसके अतिरिक्त वर्तमान शोध के परिणामस्वरूप आचार्य शुक्ल द्वारा 'वीरगाथा' नामाभिधान के लिए परिगणित पुस्तकों में से खुमान रासो, कीर्तिलता और कीर्तिपताका चौदहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध की सिद्ध हो चुकी हैं तथा परवर्ती दो रचनाएँ भी पदावलीकार विद्यापति की रचनाएँ हैं, अतः पदावली में भी उस कालखण्ड-वैशिष्ट्य का अभाव है। खुसरो की पहेलियाँ तो इनसे भी परवर्ती काल की रचना सिद्ध हो चुकी हैं। इसके अतिरिक्त हम्मीर रासो और परमाल रासो का अस्तित्व भी संदिग्ध है। इस प्रकार ये नोटिस मात्र हैं। अब मात्र पृथ्वीराज रासो एकमात्र ऐसी कृति है जिसे वीर-गाथात्मक कहा जा सकता है। पर विद्वानों में इसके पाठ और रचनाकाल को लेकर अत्यधिक मतभेद है तथा विद्वानों का एक वर्ग-विशेष इसे सत्रहवीं शती की रचना मानता है। आचार्य द्विवेदी ने इसके रचनाकाल को आदिकाल में ही स्थान दिया है। लेखकीय शोध के निकष पर तद्युगीन काव्य-परम्परा के निकष पर पृथ्वीराज रासो १२ से १४वीं शती की रचना सिद्ध होती है तथा परम्परा की पुष्टि सन्देशरासक के इतर उक्तिव्यक्ति-प्रकरण तथा वर्णरत्नाकर से हो जाती है।[४६] आचार्य द्विवेदी ने शुक्लजी के कालखण्ड विशेष के नामाभिधान-विषयक मानदण्ड के सम्बन्ध में वर्तमान शोध के आधार पर श्लाघनीय निष्कर्ष प्रस्तुत करते हुए कहा है कि—"उनमें से कई पीछे की रचनाएँ हैं और कई नोटिस मात्र हैं और कई के सम्बन्ध में यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि उनका मूल क्या था?"[४७] फिर भी यह कहा जा सकता है कि हिन्दी साहित्य के इतिहास के काल-विभाजन की समस्या पहले कालखण्ड के लिए ही नहीं, अपितु मध्यकाल-खण्ड के लिए भी अनेक प्रश्न उठाती रहेगी। पर इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि आचार्य शुक्ल ने जिन परिस्थितियों में. जिस साधनहीनता के बीच, जिस समर्थता और वैज्ञानिक दृष्टिकोण का आश्रय लेकर अपनी उपलब्धि और सीमाओं के निकष पर जो साहित्येतिहास प्रस्तुत किया था, आज तक परवर्ती साहित्येतिहासकार आगे नहीं बढ़ सके हैं।

इस निबन्ध का पाठ समाप्त करते हुए मैं विद्वत्जनों के समक्ष यह कहने की धृष्टता कर रहा हूँ कि जिस विजयपाल रासो को आचार्य शुक्ल ने अपभ्रंश भाषा की रचना कहकर बारह ग्रन्थों में सबसे पहले गणनीय माना है, वह अपने उपलब्ध रूप में परवर्ती काल की रचना सिद्ध होती है। अब तक जिन बयालीस पदों की उपलब्धता का संकेत मोतीलाल मेनारिया के माध्यम से मिला था[४८], उसके अतिरिक्त तेरह पदों की सूचना मुंशी देवीप्रसाद मुंसिफ के माध्यम से मिलती है। इसके अतिरिक्त इन पंक्तियों के लेखक को एक सौ नवीन छन्द करौली के एक मित्र के माध्यम से प्राप्त हुए हैं जिसमें विजयपाल की दिग्विजय और बंगयुद्ध का उल्लेख है और

जयचंद, कैमास आदि का भी वर्णन है। इसका मूल पाठ क्या रहा होगा, नहीं कहा जा सकता इन पदों की भाषा इसे आदिकालीन रचना के तेवर नहीं दिखाती है। इसके साथ ही इसका रचनाकाल भी संदिग्ध है।[४६]

आचार्य द्विवेदी ने आचार्य शुक्ल द्वारा पूर्व उच्चरित 'आदिकाल' नाम से अभिहित काल-खण्ड का नामकरण सार्थक माना है और कहा है कि—हिन्दी साहित्य का सचमुच ही क्रमबद्ध इतिहास पं० रामचन्द्र शुक्ल ने 'हिन्दी शब्दसागर' की भूमिका के रूप में सन् १६२६ ई० में प्रस्तुत किया। बाद में यह कुछ परिवर्तन के साथ पुस्तकाकार प्रकाशित हुआ। शुक्लजी ने प्रथम बार हिन्दी साहित्य के इतिहास को कविवृत्त-संग्रह की पिटारी से बाहर निकाला।[५०] परन्तु भारतीय समाज की सामाजिक इकाइयों के विभाजन और निश्चित-निर्दिष्ट लोकप्रवृत्ति के अभाव में यह आदिकाल शुक्लजी के समक्ष अन्तर्विरोध का काल था और इस अन्तर्विरोध को साहित्य के सर्जनात्मक धरातल पर समझने का प्रयास शुक्लजी ने अपने ढंग से किया। परिणामतः वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि—"इस दशा में काव्य या साहित्य के विभिन्न अंगों की पूर्ति का सामुदायिक प्रयत्न कठिन था। उस समय तो केवल वीरगाथाओं की उन्नति सम्भव थी।"[५१]

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि आचार्य शुक्ल द्वारा प्रथित हिन्दी के साहित्येतिहास-लेखन की परम्परा का एक गहन सन्दर्भ खोजा जा सकता है। आचार्य शुक्ल विविध संदिग्ध व्यवस्थाओं के मध्य स्व-विचारों की गहनता प्रस्तुत करने में सफल होकर ही वैज्ञानिक ढंग से साहित्येतिहासपरक निर्णय करते हैं। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी तत्कालीन स्थितियों एवं दशाओं का पुनर्मूल्यांकन करते हुए शुक्लजी की नामकरण की समस्या तथा तद्‌विषयक सामग्री की विवेचना एवं विश्लेषण प्रस्तुत करते हैं तथा साहित्येतिहास के निर्माण में अपने-अपने ढंग से योग देते हैं। अतः प्रतीत यह होता है कि दोनों ही आचार्य साहित्येतिहास के सन्दर्भ में आदिकाल में एक खास चेतना देखना चाहते हैं, पर वहाँ का पूरा समाज एक सामाजिक समुदाय में संगठित न होकर कई सामाजिक समुदायों में बँटा है।[५२] इसीलिए आचार्य द्विवेदी ने कहा है कि हिन्दी में दो प्रकार की भिन्न-भिन्न जातियों की दो चीजें अपभ्रंश से विकसित हुईं—

(१) पश्चिमी अपभ्रंश से—राजस्तुति, ऐहिकतामूलक शृंगारी काव्य, नीति-विषयक फुटकल कविताएँ और लोक-प्रचलित कथानक

(२) पूर्वी अपभ्रंश से—निर्गुणियाँ सन्तों की धर्म-निरपेक्षता, उग्र विचारधारा, झाड़-फटकार, अक्खड़पना, सहज शून्य की साधना, योगपद्धति और भक्तिमूलक रचनाएँ।[५३]

पर इस वर्गीकरण को दो भिन्न वैचारिक सारणियाँ भी स्वीकार कर लेने के उपरान्त हिन्दी साहित्येतिहास पर विवेचन करना उचित प्रतीत होता है। इस सन्दर्भ में भोलाशंकर व्यास ने आदिकाल के इतिहास के पुनर्निर्माण करने की दिशा में प्रामाणिक और अप्रामाणिक कृतियों का मूल्यांकन भी कराना चाहा है।[५४] लेकिन इसमें दो मत स्वीकार्य नहीं हैं कि दो प्रकार के कवि आलोच्य काल में सर्जनात्मक मेधा का परिचय दे रहे थे। इनमें से पहला सामन्ती जीवन और चिन्तन-प्रक्रियायुक्त वर्ग था और दूसरा वर्ग जनकाव्यों की परम्परा में सृजनरत था। परवर्ती कविवर्ग निहित स्वार्थों की अभिपूर्ति के बिना जन के सुख-दुःख, हर्ष-शोक, प्रेम-मिलन एवं विरह आदि का कलात्मक उल्लेख करना कर्तव्य मानकर सृजनरत होता था।

हिन्दी साहित्येतिहास के पुनर्लेखन की आवश्यकता आज भी है और आज से पहले इसके लिए अनेक बार विद्वानों की विचार-गोष्ठियाँ भी की गई हैं। परन्तु यथार्थ तो यह है कि

वे सभी आचार्य शुक्ल से आगे नहीं बढ़े हैं। आचार्य शुक्ल ने लगभग पचपन वर्ष पूर्व तत्कालीन सीमित साधन और उपयुक्त आधार-सामग्री के अभाव में भी अपनी सर्जनात्मक मेधा और विलक्षण विश्लेषण-वृत्ति के आधार पर साहित्येतिहास-लेखन में जिस वैज्ञानिक दृष्टि का उपयोग किया, उस पर किसी को शंका नहीं है, पर उनके काल-विभाजन और नामकरण को लेकर जितनी पारस्परिक स्पर्धात्मकता विकसित हुई है, उसका परिणाम यह है कि अनेक विद्वानों ने अपने विशिष्ट दृष्टिकोण से साहित्येतिहास-लेखन में योगदान किया है, पर आचार्य शुक्ल के निष्कर्ष आज भी अपनी महत्ता सर्वोच्च स्तर पर स्थापित किये हुए हैं। इस सन्दर्भ में डॉ० नगेन्द्र का मत अधिक समीचीन प्रतीत होता है कि ऐतिहासिक अनुसन्धाता जहाँ नवीन तथ्यों के अन्वेषण और उपलब्ध तथ्यों के नवीन आख्यान पर बल देता है, वहाँ इतिहास-लेखक इन दोनों दिशाओं में एक सीमा से आगे नहीं बढ़ सकता। उसके लिए नवीन की अपेक्षा प्रामाणिक और समय-सिद्ध का अधिक महत्त्व है। नये तथ्यों और नये शोध-निष्कर्षों का वह आदर करता है, किन्तु उसके लिए वे तब तक ग्राह्य नहीं होते जब तक कि समय का प्रमाण-पत्र उन्हें प्राप्त न हो जाय।[५५]

निष्कर्षतः हिन्दी साहित्येतिहास-लेखन की परम्परा में आचार्य शुक्ल के परवर्ती काल में जो साहित्येतिहास सामने आते हैं, उनकी संख्या में तो निरन्तर अभिवृद्धि हो रही है तथा उनमें स्थापित निष्कर्षों एवं परिणामों को देखकर यह भलीभाँति विदित हो जाता है कि हिन्दी साहित्येतिहास के लेखन की परम्परा उन पूर्वस्थापित मूल्यों, दृष्टियों और मानों से आज आगे विकसित नहीं हो सकी है जिनकी प्रामाणिकता आचार्य शुक्ल ने पचपन वर्ष पूर्व स्थापित की थी। भले ही आदिकाल और मध्यकाल के नामकरण के प्रकरण पर आलोचक विद्वानों में मतभेद रहा है, परन्तु कालान्तर में जो भी इतिहास आये हैं, उनमें आचार्य शुक्ल-प्रथित चिन्तन को ही अपने ढंग से पुनर्व्याख्यायित किया गया है। यहाँ यह उल्लेख भी समीचीन होगा कि आदिकालीन साहित्य की विपुल सामग्री अब प्रकाश में आ गई है या आती जा रही है तो साहित्येतिहास के पुनर्लेखन की आवश्यकता है। इन्हीं पंक्तियों के लेखक ने लगभग सात सौ रासो काव्यों की सूचना हिन्दी जगत् को सबसे पहली बार दी है।[५६] उस दीर्घ सूची में साहित्येतिहास-विषयक भाषा एवं साहित्य के वैशिष्ट्य से साहित्येतिहास के पुनर्मूल्यांकन को कोई दिशा मिल सकती है।

अन्त में आचार्य शुक्ल के महत् व्यक्तित्व के प्रति अपनी श्रद्धा-भावनाएँ अर्पित करते हुए कहना उचित समझता हूँ कि हिन्दी साहित्येतिहास की परम्परा में आचार्य शुक्ल का जो गौरवमय स्थान बना है, वह परवर्ती साहित्येतिहासकारों की अपनी निरन्तर खोजों, निष्कर्षों, मान्यताओं तथा स्वदृष्टियों के बावजूद पूर्णतया सुरक्षित एवं प्रतिष्ठित है, पर फिर भी आलोचना-प्रत्यालोचना के पूर्व-निष्कर्षों से आगे बढ़कर गुरु-गम्भीर साहित्येतिहास-लेखन के लिए कतिपय विकासात्मक एवं वैज्ञानिक कदम उठाये जाने की आवश्यकता आज भी है।

## संदर्भ-संकेत

१. डॉ० रामगोपाल शर्मा दिनेश (अब आचार्य, हिन्दी विभाग, उदयपुर विश्वविद्यालय) के सान्निध्य में हिन्दी उपनिषद् (एम० बी० कालेज, उदयपुर के किसी सभाकक्ष) में 'कामायनी में इतिहास-तत्त्व' नामक निबन्ध-पाठ के सन् १९६६ के समय डॉ० दिनेश इस बात से रुष्ट थे कि पुराणादि में इतिहास की चर्चा एक मानसिक रुग्णता ही हो सकती है। उक्त चर्चा में डॉ०

बलवीर भटनागर का मत इस लेखक के साथ था। २. व्यास, भोलाशंकर (डॉ०) : साहित्य का इतिहास-लेखन : समस्या-समाधान, राजस्थान साहित्य अकादमी, १९७७, प्र० सं०, पृष्ठ ८। ३. प्रथम भाग सन् १८३८ ई०, द्वितीय भाग १८४९ ई० एवं तृतीय भाग १८७१ ई० में प्रकाशित हुआ। इसमें अंग्रेजी वर्णक्रम से कवियों का वर्णन है जिसमें लगभग ७० हिन्दी के हैं। ४. अनुक्रम २, पृष्ठ १९। ५. उपरिवत्। ६. आचार्य शुक्ल का मत भी अन्तर्विरोधयुक्त है—"प्राकृत की अन्तिम अपभ्रंश अवस्था से ही हिन्दी साहित्य का आविर्भाव माना जा सकता है"। किन्तु दूसरी ओर वे यह भी कहते हैं कि 'हिन्दी साहित्य का सच्चा स्वरूप उन्हीं रचनाओं में है जो अपभ्रंश या प्राकृताभास से मुक्त हैं और बोलचाल की देशी भाषा में निबद्ध हैं'। आचार्य ही एक ओर भाषा को साहित्य का वाहन मानते हैं, पर दूसरी ओर 'साहित्य' इतिहास लिखने के साथ भाषा के विकास का इतिहास लिखने की आवश्यकता' (चतुरसेन : हिन्दी भाषा और साहित्य का इतिहास, १९४९, पृष्ठ ९) का अनुभव नहीं करते हैं। जबकि हिन्दी के साहित्येतिहास-लेखक के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि वह हिन्दी के साहित्य के विकास के साथ-साथ भाषा के विकास का भी अनुशीलन करे। ७. इसके विस्तृत सन्दर्भ में तत्कालीन ग्रन्थ द्रष्टव्य हैं—चौरासी वैष्णवन की वार्ता, दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता, भक्तमाल कविमाला, नखशिख हजारा, कालिदास हजारा, बालावबोध, शृंगार-संग्रह, रसचन्द्रोदय, गोसाईं चरित आदि। ८-अ. ग्रियर्सन; एब्राहम, जार्ज : द माडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर आव द नोदर्न हिन्दुस्तान, भूमिका, पृष्ठ १३। ८-ब. द्रष्टव्य—डॉ० नगेन्द्र : हिन्दी साहित्य का इतिहास, द्वितीय संस्करण, १९७३, पृष्ठ ४५—"यहाँ इतना अवश्य कहा जा सकता है कि हिन्दी भाषा और साहित्य के स्वरूप और विकास के सम्बन्ध में जिस दृष्टिकोण का परिचय ग्रियर्सन ने दिया है, वह परवर्ती इतिहासकारों के लिए भी पथ-प्रदर्शक सिद्ध हुआ। मुख्य बात यह है कि इन्होंने हिन्दी-साहित्य का भाषा की दृष्टि से क्षेत्र निर्धारित करते हुए स्पष्ट किया कि इसमें न तो संस्कृत-प्राकृत को सम्मिलित किया जा सकता है और न अरबी-फारसी मिश्रित उर्दू को।" ९. ग्रियर्सन, जार्ज एब्राहम, [अनुवादक : गुप्त, डॉ० किशोरीलाल] : हिन्दी साहित्य का प्रथम इतिहास, पृष्ठ ४१। १०. मिश्रबन्धु, शुकदेव बिहारी एवं श्याम बिहारी : भूमिका—हिन्दी भाषा और साहित्य का इतिहास (आचार्य चतुरसेन), द्वितीय आवृत्ति, सन् १९४९, पृष्ठ ७। ११-अ. आचार्य चतुरसेन : हिन्दी भाषा और साहित्य का इतिहास : दो शब्द, पृष्ठ २ पर द्रष्टव्य—सन् १९१४ में विनोद के प्रकाशन के बाद इतिहास-ग्रन्थों के जो ढेर लगे हैं; वे 'विनोद' की तुलना में बहुत ही कम आगे बढ़े हैं। उनमें न नई खोज का विशेष समावेश हुआ, न नये-नये ऐतिहासिक दृष्टिकोण ही स्थापित किये गये।" ११-ब. उल्लेखनीय है कि यह कृति सन् १९४६ में प्रथम बार प्रकाशित हुई तथा इसकी भूमिका मिश्रबन्धुओं ने लिखी थी। १२. आचार्य चतुरसेन, अनुक्रम ११, पृष्ठ १-२। १३. मिश्र, श्यामबिहारी एवं शुकदेवबिहारी : हिन्दी भाषा और साहित्य का इतिहास : भूमिका, पृष्ठ ३। १४. शुक्ल, रामचन्द्र : हिन्दी साहित्य का इतिहास, वक्तव्य, पृष्ठ १। १५. उपरिवत्, पृष्ठ २। १६. कुलश्रेष्ठ, डॉ० विजय : साहित्येतिहास-लेखन की परम्परा और आचार्य शुक्ल, परिषद् पत्रिका, वर्ष २४, अंक २, जुलाई १९८४, पृष्ठ ९४। १७ गुप्त, डॉ० किशोरीलाल : आचार्य शुक्ल के ऐतिहासिक निष्कर्ष—अनुसन्धान के निकष पर : पं० रामचन्द्र शुक्ल जन्म शताब्दी समारोह (विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के आर्थिक सहयोग से आयोजित), राजकीय महाविद्यालय, झालावाड़, (राजस्थान) अक्तूबर १०-१२, १९८४ के अवसर प्रस्तुत निबन्ध में व्यक्त विचार। १७-अ. वर्मा, रामकुमार : हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास (छठा संस्करण, १९७१), विषय-प्रवेश, पृष्ठ ७। १७-ब. अनुक्रमित १३, पृष्ठ २। १७-स. अनुक्रमित १७-अ. पृष्ठ ९। १७-द. डॉ० नगेन्द्र (सं०) हिन्दी साहित्य का इतिहास (१९७८ ई०), पृष्ठ ४७।

१७-इ. अनुक्रमित १३; पृष्ठ २ । १८. अवस्थी, डॉ० देवीशंकर : हिन्दी साहित्य कोश, भाग दो । १९. उपरिवत् । २०. मिश्रबन्धुओं द्वारा व्यक्त विचार—'यह न तो ऐतिहासिक दृष्टिकोण से लिखा गया है और न उसकी परिपाटी ही इतिहास के ढंग की है'—भूमिका, हिन्दी भाषा और साहित्य का इतिहास (आचार्य चतुरसेन), पृष्ठ ३ । २१. द्विवेदी, हजारीप्रसाद : हजारीप्रसाद ग्रंथावली, तृतीय खण्ड, हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पृष्ठ ५४६ । २२. उपरिवत् । २३. अनुक्रमित १४, पृष्ठ २ । २४. झालावाड़ (राजस्थान) में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल शताब्दी समारोह, अक्तूबर, १९८४ में पठित निबन्ध "आचार्य शुक्ल की इतिहास-दृष्टि", पृष्ठ २-३ । २५. उपरिवत् : राजमणि तिवारी का आलेख : हिन्दी साहित्य का इतिहास और रामचन्द्र शुक्ल पृष्ठ ६ । २६. सेंगरजी द्वारा प्रयुक्त सामग्री-संकलन के तीन स्रोत द्रष्टव्य हैं :—(अ) कवियों के मूल कृतित्व या हस्तलिखित ग्रंथ । (आ) प्राचीन काव्य-संग्रह । (इ) ऐतिहासिक ग्रंथ । २७ सिंह, डॉ० वासुदेव : हिन्दी साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास, पृष्ठ १० । २८. अनुक्रमित १४, पृष्ठ १ । १९. नगेन्द्र (सम्पादक) : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ५१ । ३०. अनुक्रमित १६, पृष्ठ ९६ । ३१. चतुरसेन, आचार्य : हिन्दी भाषा और साहित्य का इतिहास, द्वितीय १९४९ ई०, पृष्ठ ७४-७५ । ३२. व्यास, भोलाशंकर (डॉ०) : साहित्य का इतिहास-लेखन : समस्या-समाधान, १९७७, पृष्ठ २३ । ३३. उपरिवत्, पृष्ठ २५ पर द्रष्टव्य—आदिकाल सन् १०००-१४०० ई०, मध्यकाल सन् १४०१-१८०० ई०, आधुनिक काल सन् १८०१ से अद्यतन । ३४. अनुक्रमित ३२, पृष्ठ २५ । ३५. पाण्डेय, डॉ० रामखेलावन : हिन्दी साहित्य का नया इतिहास, पृष्ठ २८ । ३६. गुलाबराय : हिन्दी साहित्य का सुबोध इतिहास, पृष्ठ १४-१५ । ३७. अनुक्रमित ३१, पृष्ठ ८२ । ३८. अनुक्रमित २९, पृष्ठ ६५-६६ । ३९. वर्मा, हरिश्चन्द्र (डॉ०) एवं रामनिवास गुप्त : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ २२ । ४०. द्विवेदी, हजारीप्रसाद : हिन्दी साहित्य का आदिकाल, तृ० सं० १९६१, पृष्ठ २ । ४१. अनुक्रमित । ४२. अनुक्रमित ४०, पृष्ठ १० । ४३. उपरिवत्, पृष्ठ १२ । ४३-अ. मेनारिया, मोतीलाल (डॉ०) : राजस्थानी भाषा और साहित्य, पृष्ठ ८१ । ४४. अनुक्रमित १७, पृष्ठ ३ । ४५. इन्हीं पंक्तियों के लेखक को करौली में किसी बन्धु के पास 'विजयपाल रासो' के सौ छन्द देखने का अवसर अपनी शोध-प्रायोजना (विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के आर्थिक सहयोग) के लिये कार्यरत होने पर प्राप्त हुआ है । ४६. विस्तृत अध्ययनार्थ द्रष्टव्य है शोधप्रबन्ध 'पृथ्वीराज रासो का लोकतात्त्विक अध्ययन' मंगल प्रकाशन, जयपुर, प्र० सं० १९८४ । ४७. अनुक्रमित ४०, पृष्ठ १० । ४८. मेनारिया, मोतीलाल : राजस्थानी भाषा और साहित्य (१९७८), पृष्ठ १०६ । ४९. विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा प्रदत्त आर्थिक सहायता से सम्पन्न शोध प्रायोजना 'राजस्थान का रासो साहित्य' के अन्तर्गत शोधयात्रा में प्राप्त विवरण । इस शोध प्रायोजना का प्रकाशन 'रासो काव्यधारा' के रूप में किताब महल, इलाहाबाद से हो चुका है । ५०. अनुक्रमित ४०, पृष्ठ २ । ५१. अनुक्रमित ३२, पृष्ठ ३१ । ५२. अनुक्रमित ३२, पृष्ठ ३०-३१ । ५३. उपरिवत्, पृष्ठ ३२ । ५४. उपरिवत्, पृष्ठ ३४ । ५५. अनुक्रमित २९, पृष्ठ २० । ५६. (अ) पृथ्वीराज रासो का लोकतात्त्विक अध्ययन (१९८४) मंगल प्रकाशन, जयपुर । (आ) रासो काव्यधारा, किताब महल, इलाहाबाद (१९८४) । (इ) विश्वविद्यालय अनुदान आयोग को प्रेषित "राजस्थान का रासो साहित्य : सर्वेक्षण, वर्गीकरण एवं मूल्यांकन शोध-प्रायोजना", प्रतिवेदन दिसम्बर, १९८४ ।

●

हिन्दी विभाग
कुमाऊँ विश्वविद्यालय
नैनीताल—२६३००२

# आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की गद्य-भाषा

●

डॉ० (श्रीमती) शारदा शर्मा

अभिव्यक्ति के मुख्य तत्त्व तीन ही हैं—(१) अर्थ, (२) भाव-विचार, (३) भाषा। साहित्यकार विचार-संप्रेषण के लिए अथवा विचार-भाव की अभिव्यक्ति के लिए भाषा को ही साधन बनाता है। साहित्यकार प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से जीवन के पक्षों पर ही प्रकाश डालता है। साहित्यकार के रचना-जगत् का मूलाधार विचार-भाव-तत्त्व ही है। विचार-तत्त्व का मूल अनुभूति है और यह विचार-तत्त्व कला का अंग है। भाषा मूलतः साहित्यकार के भावों या विचारों की सशक्त एवं समर्थ संवाहिनी है। वह अन्तस् के सूक्ष्म तथा अमूर्त भावों की मूर्त प्रतिकृति भी है।

भाषा 'शब्द' का विराट् रूप है और 'शब्द' अर्थ तथा भाव से समन्वित है। अतः अव्यक्त भाव या विचार का व्यक्त रूप 'भाषा' है। भाव और विचार अर्थ के ही गर्भ में निवास करते हैं। बिना भाषा के साहित्यकार के भावों या विचारों की अवगति असंभव है। भाषा का अध्ययन ही विचारों की जानकारी है और भावों की अनुभूति है। शब्दमयी भाषा जल है, तो अर्थ लहर। तत्त्वतः दोनों एक, किन्तु रूपतः दोनों भिन्न-भिन्न।

भाषाभिव्यक्ति समय, शिक्षा, मनोदशा, अनुभूति, संस्कार आदि से प्रभावित होती रहती है। यही कारण है कि एक साहित्यकार के साहित्य में भाषा-स्वरूप का वैविध्य पाया जाता है। भाषा विषयानुगामिनी भी है। विषय की गम्भीरता-अगम्भीरता के आधार पर भाषा भी गम्भीर-अगम्भीर रूप धारण करती है।

साहित्य के सामान्यतः दो पक्ष हैं—(१) भाव-विचार-पक्ष, (२) कला-पक्ष। कला-पक्ष में शैली समाविष्ट है। साहित्यकार जब बुद्धि तथा तर्क के साथ विषय के विवेचन में अग्रसर होता है, तब विचारों को भाषा में उतारता है। साहित्यकार की भावनाएँ जब घनीभूत होकर बाहर निकलना चाहती हैं, तब भाषा भावमयी हो जाती है। भावात्मक भाषा बुद्धि की अपेक्षा हृदय के साथ अधिक रहती है। उस समय भावात्मक गद्य कविता के अधिक निकट आ जाता है। साहित्यकार का मन हृदय और बुद्धि में विभक्त होकर क्रियाशील बनता है।

भाषा-शैली की स्वरूपांकना के लिए साहित्यकार के जीवन की तथा उसके संस्कारों की जानकारी प्रमुख है, अभीष्ट है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का जन्म सन् १८८४ ई० में बस्ती जिले के अगोना नामक गाँव में हुआ था। वह अपनी परीक्षाओं को उत्तीर्ण करने के साथ-साथ हिन्दी, उर्दू, अंग्रेजी तथा संस्कृत साहित्य का भी अध्ययन करते रहे। सन् १९०९-१० ई० से उनकी लेखन-प्रतिभा चमकी। साहित्य के दोनों क्षेत्रों (गद्य तथा पद्य) में इनकी लेखनी ने पर्यटन किया। संवत् १९६० वि० (सन् १९०३ ई०) में 'सरस्वती' पत्रिका में 'ग्यारह वर्ष का समय' कहानी प्रकाशित हुई जो हिन्दी की सर्वप्रथम साहित्यिक मौलिक कहानी मानी गयी। सन् १९२९ के जनवरी मास में 'हिन्दी शब्दसागर' की भूमिका के रूप में 'हिन्दी साहित्य का विकास' नाम से एक

लेख लिखा गया। उसी का बृहत् रूप 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' है जो सन् १६२६-३० ई० में काशी नागरी प्रचारिणी सभा से प्रकाशित हुआ। सन् १६३६ में उनके निबन्धों का एक संकलन 'चिन्तामणि' भाग १ नाम से प्रकाशित हुआ जिसमें बुद्धितत्त्व के साथ-साथ भावतत्त्व का समावेश है। शुक्लजी ने श्रव्य-काव्य के साथ दृश्य-काव्य की भी रचना की। 'हास्य-विनोद', 'पृथ्वीराज' आदि आपके प्रसिद्ध नाटक हैं। 'जोसेफ एडिसन' के 'प्लैजर्स ऑफ इमैजिनेशन' का 'कल्पना का अनन्द' नाम से रोचक अनुवाद किया। शुक्लजी बहुमुखी प्रतिभा-सम्पन्न साहित्यकार थे। इन्होंने गद्य के साथ पद्य में भी रचना की। ब्रजभाषा और खड़ीबोली में इनका पद्य साहित्य है। इन्होंने 'एडविन आर्नल्ड' के 'लाइट ऑफ एशिया' का 'बुद्धिचरित' नाम से ब्रजभाषा में बड़ा ही सुन्दर अनुवाद किया।

शुक्लजी ने सैद्धान्तिक समीक्षा पर जो कुछ लिखा, वह 'रस-मीमांसा' में है। इसका संपादन श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने संवत् २००७ वि० में किया। 'विश्व प्रपंच' दर्शन और सृष्टि-रचना से सम्बद्ध गद्य-रचना है।

शुक्लजी की महत्त्वपूर्ण कृतियों का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

### गद्य-कृतियाँ

(१) हिन्दी साहित्य का इतिहास, (२) जायसी-ग्रंथावली की भूमिका, (३) तुलसी-ग्रंथावली की भूमिका, (४) भ्रमरगीतसार की भूमिका, (५) चिन्तामणि (भाग १, २, ३)। चिन्तामणि, भाग ३ डॉ० नामवर सिंह द्वारा संपादित है। (६) रस-मीमांसा (सं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, प्रका० ना० प्र० सभा, काशी, सं० २००७ वि०)।

### पद्य-कृतियाँ

(१) बुद्धचरित ('लाइट ऑफ एशिया का ब्रजभाषा में अनुवाद)

(२) मधुस्रोत (ब्रजभाषा और खड़ीबोली की कविताओं का संकलन)

### अनूदित कृतियाँ

(१) शशाङ्क (बंगला उपन्यास का हिन्दी अनुवाद), (२) विश्व-प्रपंच*, (३) आदर्श जीवन*, (४) राज्य प्रबन्ध-शिक्षा*, (५) मेगास्थनीज का भारतवर्षीय वर्णन*, (६) कल्पना का आनन्द*, (७) अँग्रेजी भाषा के कतिपय स्फुट लेखों का अनुवाद।

आचार्य शुक्ल ने अच्छी भाषा की चार विशेषताओं का संकेत किया है—

(१) भाषा अगोचर विचारों और भावनाओं को स्थूल एवं गोचर रूप प्रदान करने में सक्षम हो; अर्थात् मूर्त-विधायिनी हो।

(२) भाषा जाति-संकेत के स्थान की अपेक्षा विशेषतः रूप-व्यापार-सूचक हो, अर्थात् सामान्य की अपेक्षा विशेष की संकेतिका हो।

(३) भाषा सुन्दर वर्ण-विन्यास से पुष्ट हो।

(४) भाषा में रूप-गुण-कार्य बोधक शब्दों की अधिकता हो।

*ये सभी कृतियाँ अंग्रेजी से अनूदित हैं।

शुक्ल-साहित्य में भाषा के चारों रूप मिलते हैं। उन्होंने हिन्दी-जगत् को केवल विचार-प्रधान साहित्य ही नहीं दिया, अपितु श्रेष्ठ एवं उपयुक्त भाषा भी दी। उनके हिन्दी-गद्य-साहित्य को भाषा की दृष्टि से दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—

(१) सामान्य हिन्दी का गद्य साहित्य।

(२) उच्च हिन्दी का गद्य साहित्य।

मुंशी प्रेमचंद का गद्य सामान्य हिन्दी का श्रेष्ठ गद्य-साहित्य है, आचार्य शुक्ल का गद्य उच्च हिन्दी का गद्य-साहित्य।

डॉ० नगेन्द्र (साहित्य का समाजशास्त्र) के मतानुसार साहित्यकार सामान्यतः दो धरातलों पर भावानुभूति करता है—(१) जैविक धरातल पर, (२) सामाजिक धरातल पर। इनके अतिरिक्त एक तीसरा धरातल और है। वह है 'चित्' का धरातल। यह इंद्रियातीत है, आध्यात्मोन्मुखी है। जैविक धरातल का आश्रय पाकर ही साहित्यकार सामाजिकता से सामंजस्य करता है तथा सार्वभौम सत्य को अपने साहित्य में भावात्मक रूप में प्रस्तुत करता है।[1]

आचार्य शुक्ल के गद्य में उपर्युक्त प्रथम दोनों धरातलों पर भावराशि मिलती है।

## आचार्य शुक्ल के गद्य की भाषा और शैली

१. **बुद्धिसम्मत विचार-प्रधान उच्च भाषा की शैली**—शुक्लजी के बुद्धिप्रधान गद्य में बुद्धि एवं तर्कसम्मत विचार-प्रधान उच्च भाषा-शैली का जो रूप पाया जाता है, उसकी भाषा संस्कृत-निष्ठ एवं परिष्कृत है। 'रस-मीमांसा' के निम्नांकित उदाहरण से इस तथ्य की पुष्टि होती है—

"अभिव्यक्ति के क्षेत्र में ब्रह्म के 'आनन्द' स्वरूप का सतत् आभास नहीं रहता, उसका आविर्भाव और तिरोभाव होता रहता है। इस जगत् में न तो सदा और सर्वत्र लहलहाता वसंत-विकास रहता है, न सुख-समृद्धि-पूर्ण हास-विलास।"[2]

शुक्लजी ने इस प्रकार की भाषा-शैली निबन्धों और हिन्दी साहित्य के इतिहास में भी प्रयुक्त की है। निबन्धात्मक गद्य की भाषा-शैली के संबंध में उनका अपना निजी मत भी था। शुक्लजी ने निबन्धात्मक गद्य की भाषा-शैली को प्रमुखतः दो भागों में बाँटा है—**१—तथ्य-निरूपण शैली २. भावावेश की शैली।**

बुद्धिसम्मत गूढ़ विचारपरक निबन्ध तथ्य-निरूपण शैली में ही ठीक तरह से लिखे जा सकते हैं। शुक्लजी लिखते हैं कि—

"शुद्ध विचारात्मक निबन्धों का चरम उत्कर्ष वहीं कहा जा सकता है जहाँ एक-एक पैराग्राफ में विचार दबा-दबाकर कसे गए हों और एक-एक वाक्य किसी सम्बद्ध विचार-खंड को लिए हो।"[3]

२. **शास्त्रीय विश्लेषणपरक उच्च भाषा की शैली**—शास्त्रीय विश्लेषण में शुक्लजी की भाषा-शैली में शास्त्रीय पारिभाषिक शब्दावली की प्रचुरता है। जैसे—

"जिस प्रकार काव्य में वर्णित **आलम्बनों** के **कल्पना** में उपस्थित होने पर **साधारणीकरण** होता है, उसी प्रकार हमारे भावों के कुछ आलम्बनों के सम्बन्ध में लोक के साथ या कम से कम **सहृदयों** के साथ हमारा **तादात्म्य** रहता है।"[4]

यहाँ आलम्बन, कल्पना, साधारणीकरण, सहृदय, तादात्म्य आदि ऐसे काव्यशास्त्रीय पारिभाषिक शब्द हैं जिनसे विश्लेषणपरक उच्च भाषा की शैली अभिव्यक्त हो रही है।

विषय एवं भाषा का शिव-शक्ति जैसा संबंध है। वही साहित्य श्रेष्ठ कहलाता है जिसमें भाषा विषयानुगामिनी और समर्थ हो। विषय की गुरुता आचार्य शुक्ल की भाषा को सशक्त, संस्कृतनिष्ठ एवं शास्त्रसम्मत बनाती है।

३. **हृदय-सम्मत भाव-भावना-प्रधान उच्च भाषा की शैली**—शुक्लजी के निबंधों में भाव-भावना का प्राधान्य है। भाव या मनोविकार संबंधी निबंधों में हृदयगत भावों को शुक्लजी ने भाव-भावना-प्रधान उच्च भाषा-शैली में अभिव्यक्त किया है। जैसे—

"प्रभु की अनन्त शक्ति के प्रकाश में उसकी (भक्त मनुष्य की) असामर्थ्य का, उसकी दीन दशा का, बहुत साफ चित्र दिखाई पड़ता है और वह अपने जैसा दीन-हीन संसार किसी को नहीं देखता।"[५]

प्रस्तुत पंक्तियों में भक्त के भावों की अभिव्यंजना है। भक्त की असामर्थ्य, दैन्य आदि भावों की व्यंजना है। भक्त (तुलसी) अपने आराध्य को अनन्त-शक्ति का पुंज तो मानता ही है, वह स्वयं को असमर्थ और दीन-हीन भी मानता है।

ऐसे ही भाव का एक उदाहरण निम्नांकित है—

"उनके सामीप्य का आनन्द लेने के लिए कभी वह उनके अलौकिक रूप-सौन्दर्य की भावना करता है, कभी उनकी बाल-लीला के चिंतन से विनोद प्राप्त करता है, कभी धर्म, बल-पूर्ण उनके निर्मल चरित्र का गान करता है, कभी सिर झुकाकर वंदना करता है—यहाँ तक कि जब जी में आता है, प्रेम से भरा उलाहना भी देता है।"[६]

यहाँ शुक्लजी ने एक ही स्थान पर आध्यात्मिक, शृंगारिक, धार्मिक, वात्सल्य, आनन्द, वीरता, भक्ति आदि भावों का उल्लेख करके भक्त के हृदय की भावनाओं को अभिव्यक्त किया है। ऐसे स्थलों पर भाव-भावना-प्रधान उच्च भाषा की शैली का ही प्रयोग हुआ है।

शुक्लजी का विचार है कि कल्पना-प्रधान तथा भाव-भावना-प्रधान शैली में प्रायः भावावेश-परक निबन्ध लिखे जाते हैं। 'धारा', 'तरंग' तथा विक्षेप नामक उपशैलियाँ भावावेश की शैली के ही अन्तर्गत हैं।

शुक्लजी ने हिन्दी-निबन्ध को तीन भागों में विभक्त किया है—१. विचारात्मक निबन्ध, २. भावात्मक निबन्ध, ३. वर्णनात्मक निबन्ध। इनके अतिरिक्त उन्होंने विचार-भाव-मिश्र निबन्ध का भी संकेत किया है। अध्यापक पूर्णसिंह के निबन्ध इसी चौथे वर्ग में आते हैं। सरदार पूर्णसिंह के निबन्ध लक्ष्यार्थ-प्रधान हैं।

शुक्लजी निबन्ध के लिए लेखक की व्यक्तिगत विशेषता की अभिव्यक्ति को ही प्रमुख मानते हैं। इस सम्बन्ध में उनके विचार इस प्रकार हैं—

"निबन्ध-लेखक अपने मन की प्रवृत्ति के अनुसार स्वच्छन्द गति से इधर-उधर फूटी हुई सूत्र-शाखाओं पर विचरता चलता है। यही उसकी अर्थ-संबंधी व्यक्तिगत विशेषता है। अर्थ-सम्बन्ध-सूत्र की टेढ़ी-मेढ़ी रेखाएँ ही भिन्न-भिन्न लेखकों का दृष्टिपथ निर्दिष्ट करती हैं।"

"जो करुण प्रकृति के हैं, उनका मन किसी बात को लेकर अर्थ-सम्बन्ध-सूत्र पकड़े हुए करुण स्थलों की ओर झुकता और गम्भीर वेदना का अनुभव करता चलता है। जो विनोदशील हैं, उनकी दृष्टि उसी बात को लेकर उसके ऐसे पक्षों की ओर दौड़ती है जिन्हें सामने पाकर कोई हँसे बिना नहीं रह सकता।"[७]

४. **व्यंग्य-विनोदपरक व्यावहारिक सरल भाषा-शैली**—शुक्लजी केवल बुद्धि और तर्क प्रधान निबन्धों के लिखने में ही पटु नहीं थे; अपितु व्यंग्य-विनोद भाव को सरल भाषा में प्रस्तुत करने में भी सिद्धहस्त थे। ऐसे स्थलों पर उनकी दृष्टि आलोचना प्रधान ही है; किन्तु इस अलोचना-पद्धति ने व्यंग्य-विनोद का रूप धारण कर लिया है।

नागरिक जीवन वाले व्यक्ति पर करारा व्यंग्य करते हुए आचार्य शुक्ल कहते हैं—

"महुओं की कैसी मीठी महक आ रही है।" इस पर लखनवी महाशय ने मुझे रोककर कहा, "यहाँ महुए-सहुए का नाम न लीजिए, लोग देहाती समझेंगे।" मैं चुप हो गया, समझ गया कि महुए का नाम जानने से बाबूपन में बड़ा भारी बट्टा लगता है।"[८]

शहरी जीवन व्यतीत करने वाले बाबू आपको शहरी खोल से ढके रहते हैं। शहरी जीवन जीने वाले महाशयों पर बड़ा करारा व्यंग्य शुक्लजी की लेखनी ने किया है। यह व्यंग्य ही तो साहित्य में सत्य को प्रतिपादित करने में सफल सिद्ध हुआ है।

गरीबों का खून चूसकर मोटे होने वालों को लक्ष्य करके आचार्य शुक्ल बड़े ही सहज रूप से कह गये हैं—

"मोटे आदमियो! तुम जरा-सा दुबले हो जाते, अपने अंदेसे से ही सही, तो न जाने कितनी ठठरियों पर मांस चढ़ जाता।"[६]

व्यंग्य-विनोद के समय शुक्लजी की शैली विनोदपरक, व्यावहारिक, सामान्य सरल भाषा की ही रहती है। जहाँ बुद्धिसम्मत विचारों की अभिव्यक्ति के समय तथा शास्त्रीय विश्लेषण के स्थलों पर उच्चभाषा की संस्कृतनिष्ठ शैली का प्रयोग आचार्य शुक्ल के गद्य साहित्य की विशिष्टता है, वहाँ भाव एवं व्यंग्यपरक स्थलों पर सामान्य भाषा की शैली ही प्रमुख है।

शुक्लजी का साहित्यकार पहले कवि-रूप में ही हिन्दी-जगत् के समक्ष आया था। सन् १६०१ ई० में उनकी प्रथम मुक्तक रचना 'मनोहर छटा' प्रकाशित हुई थी और १६२६ ई० तक वे ब्रजभाषा और खड़ीबोली में कविताएँ लिखते रहे। इस तरह अलोचक और कवि दोनों रूपों में शुक्लजी साहित्य की सेवा करते रहे। यही कारण है कि चिन्तामणि, भाग १ के निबन्धों में आचार्य शुक्ल की बुद्धि यत्र-तत्र हृदय को साथ लेकर भी चलती रही है, जैसा कि चिन्तामणि, भाग १ की भूमिका में शुक्ल जी ने स्वयं स्वीकारा है।

## पुनरावृत्ति की अध्यापकीय शैली

अध्यापक के कथन का प्रमुख दृष्टिकोण अपने विद्यार्थियों को विषय-बोध कराना होता है। इसीलिए शुक्लजी किसी विषय पर लिखते-लिखते जब यह अनुभव करते हैं कि सम्भवतः मेरा पाठक विषय को न समझा हो, तो वह फिर विवेचित विषय को **'सारांश यह कि'** अथवा **'सारांश यह है कि'** लिखकर पुनः संक्षेप में व्यक्त करते हैं। तब वे समास-शैली अपनाते हैं। शुक्लजी की रचनाओं में यह शैली अनुच्छेदों के तथा अध्याय के अन्त में मिलती है, जैसे—

"सारांश यह कि अपभ्रंश की यह परम्परा विक्रम की १५वीं शताब्दी के मध्य तक चलती रही।"[१०]

× × ×

"सारांश यह है कि करुणा की प्राप्ति के लिए पात्र में दुःख के अतिरिक्त और किसी विशेषता की अपेक्षा नहीं।"[११]

उनके गद्य में समझाने की दृष्टि से कहीं शब्द का अर्थ अथवा समानार्थी शब्दों का प्रयोग भी कोष्ठक में रहता है। शुक्लजी ने स्थान-स्थान पर ऐसा भी किया है। इतिहास में कुछ शब्दों के अर्थों को उन्होंने कोष्ठक में लिखा है जिससे पाठक एवं विद्यार्थी को असुविधा न हो, जैसे—

"(करहा=(१) करभ, हाथी का बच्चा, हठयोग की क्रिया करने वाला)"[१२]

× × × ×

"मार्ग में ये अपने प्रिय विग्रह विठोवा (भगवान्) के वियोग में व्याकुल रहा करते थे।"[१३]

भाव-भाषा एवं शब्दों का पारम्परिक संबंध है। इस पारम्परिक संबंध का निर्वाह शुक्लजी के साहित्य में सर्वत्र देखने को मिलता है।

विषय के अनुरूप ही उनके गद्य में शब्दावली का प्रयोग हुआ है। उनके गद्य में प्रयुक्त शब्दावली को इस प्रकार वर्गीकृत किया जा सकता है—

## संस्कृतयुक्त तत्सम शब्द

**सौन्दर्य्य माधुर्य्य**, दीप्ति, कान्ति, प्रताप, ऐश्वर्य, विभूति[१४] आदि तत्सम शब्दों का प्रयोग शुक्लजी के गद्य की विशिष्टता है। सैद्धांतिक आलोचना के निबन्धों में ऐसे संस्कृत शब्दों का प्रयोग अधिक हुआ है। जैसे—

"**प्रत्यक्ष** से हमारा अभिप्राय केवल **चाक्षुष ज्ञान** से नहीं है। रूप शब्द के भीतर **शब्द, गन्ध, रस** और **स्पर्श** भी समझ लेना चाहिए। वस्तु-व्यापार-वर्णन के अन्तर्गत ये विषय भी रहा करते हैं।"[१५]

## तद्भव शब्द

तद्भव वे शब्द हैं जो संस्कृत से प्राकृत भाषा में होकर हिन्दी में आये हैं। जैसे—सं० **अग्नि** > प्रा० **अग्गि** > हि० **आग**। हिन्दी में 'आग' तद्भव शब्द है।

तद्भव शब्द शुक्लजी की भाषा में पर्याप्त हैं। वास्तव में तद्भव शब्द ही हिन्दी का अपना रूप सजाते हैं। जैसे—

"किसी **घर** या **चबूतरे** को देखकर भी अतीत दृश्य इस प्रकार हमारे मन में आ जाते हैं और हमारा मन कुछ और हो जाता है।"[१६]

## देशज शब्द

**देशज शब्द** बोली के वे शब्द हैं जो ग्रामीण या अशिक्षित जनता के मुंह से स्थानीय क्षेत्र में जन्म लेते हैं। इनकी व्युत्पत्ति का कोई पता नहीं होता। जिस दिन उनके मूल स्रोत शब्दों का पता लग जाएगा, उसी दिन उनकी 'देशज' संज्ञा समाप्त हो जाएगी। 'देशज' शब्दों में ध्वन्यात्मक शब्द भी समाविष्ट हैं। '**फटफट**' करती गाड़ी को देखकर ग्रामीण जनता ने उसका नाम **फटफटिया** रख लिया। बस '**फटफटिया**' देशज शब्द बन गया। **ठंडाई, चालू** आदि देशज शब्द ही हैं। शुक्लजी ने अपने गद्य में निम्नांकित देशज शब्द प्रयुक्त किये हैं—

| | |
|---|---|
| गड़बड़झाला | (रस-मीमांसा, पृ० २२) |
| छटपटाता | (चिंतामणि १, पृ० २११) |
| झोंकने वाले | ( ,, ,, पृ० २६२) |

## विदेशी शब्द

भाव एवं विचार को स्पष्ट करने के लिए तथा भाषा को सरल एवं व्यावहारिक बनाने के लिए शुक्लजी ने विदेशी शब्दों के प्रयोगों को स्वीकार किया है। ये विदेशी शब्द दो प्रकार के हैं—

### १. अरबी-फारसी के विदेशी शब्द

| | | |
|---|---|---|
| अक्सर | चिन्तामणि, भाग १, पृ० | ६७ |
| फालतू | ,, | ३८ |
| बरकत | ,, | १३६ |
| नक्काशी | ,, | २४६ |
| निकम्मा | ,, | ५२ |
| सिर्फ | मधुस्रोत, वही | १२ |

अरबी-फारसी के शब्दों का प्रयोग होने पर भी शुक्लजी की भाषा में हिन्दी का हिन्दीपन बना हुआ है। व्यंग्य-विनोद के समय भावप्रधान निबन्धों में अरबी-फारसी के शब्दों की अधिकता है।

### २. अंग्रेजी के विदेशी शब्द

विषय की स्पष्टता एवं बोधगम्यता की दृष्टि से शुक्लजी ने अँग्रेजी के शब्दों का प्रयोग भी किया है। हिन्दी के पारिभाषिक शब्द को समझाने की दृष्टि से अँग्रेजी शब्द प्रायः छोटे कोष्ठक में प्रयुक्त हैं। जैसे—

नाटकीय या निरपेक्ष दृष्टि (Dramatic or Absolute vision)[१७]
पुनरुत्थान (Renaissance)[१८]
प्रतिवर्तन (Reaction)[१९]
शिक्षावाद (Didacticism)[२०]
स्वच्छन्दता का आन्दोलन (Romantic movement)[२१]

सैद्धान्तिक आलोचना से संबद्ध निबंधों में विषय की चर्चा करते हुए आचार्य शुक्ल भारतीय काव्यशास्त्र की मान्यताओं के साथ ही साथ पाश्चात्य विद्वानों के विचारों को भी लेकर चले हैं। बात बुद्धि में जमती हो, शुक्लजी में पूर्व-पश्चिम का भेद नहीं।

पाठकों की सुविधा को ध्यान में रखते हुए आचार्य शुक्ल ने हिन्दी-शब्दों के समान ही अँग्रेजी के शब्दों का प्रयोग देवनागरी लिपि में ही किया है, जैसे—

| | |
|---|---|
| स्टेशन | — रस-मीमांसा, वही, पृ० ६ |
| | मधु स्रोत, ,, पृ० ३ |
| एंजिन | —रस-मीमांसा, वही, पृ० ६ |

अँग्रेजी के शब्दों प्रयोग में शुक्लजी बुद्धिवादियों में माने जाएँगे। यदि वे चाहते तो हिन्दी की प्रकृति में मिलाकर एंजिन के स्थान पर 'अंजन' का प्रयोग कर सकते थे, जैसे—रेल का अंजन। लेकिन ऐसा उन्होंने नहीं किया।

### सामासिक शब्द

सामासिक शब्दों के प्रयोग शुक्लजी ने गद्य में सामासिकता के लिये किये हैं। ये सामासिक शब्द दो प्रकार से मिलते हैं—

१. एक शिरोरेखा के साथ।

२. योजक चिह्न के साथ।

### एक शिरोरेखा वाले सामासिक शब्द

नादसौंदर्य—मधुस्रोत, पृ० १२।
गिरिधर— ,, १३।
ज्ञानदशा—चिंतामणि, भाग १, पृ० १४।।
कर्मयोग, ज्ञानयोग— ,, ,, ,, ।

### २. योजक चिह्नवाले सामाजिक शब्द

भाव-भूमि —चिंतामणि, भाग १, पृ० १४१
लोक-सत्ता — ,, ,,
अनुभूति-योग — ,, ,,

संस्कृत-सामासिक शब्द दोनों रूपों में मिलते हैं। 'मधुस्रोत' (कविता-संकलन) की भूमिका में एक शिरोरेखा के समास अधिक हैं। 'चिन्तामणि' आदि में योजक चिह्न के समासों की संख्या अधिक है। वहुत संभव है, यह लिपि-भेद प्रकाशन-संस्था के नियमों के कारण हो गया हो।

### ३. प्रतिध्वनित सामासिक शब्द

हिन्दी को व्यावहारिकता प्रदान करने के लिए शुक्लजी ने प्रतिध्वनित सामासिक शब्दों का भी प्रयोग किया है—

उछल-कूद—चिंतामणि, भाग १, पृ० २४६
तोड़-मरोड़—हिन्दी साहि० का इति०, पृ० १७३
तड़क-भड़क—चिंतामणि, भाग २, पृ० ७
चमक-दमक— ,, ,, ,,
ऊबड़-खाबड़— ,, ,, ,,

### ४. द्विरुक्तिमूलक शब्द-पुंज

साहित्यकार अपनी बात कहने के लिए भाषा का प्रयोग दो दृष्टियों से करता है— १. विचार-संप्रेषण के लिए, २. भावाभिव्यक्ति के लिए।

भावाभिव्यक्ति के समय साहित्यकार बल देने के लिए शब्दों में द्विरुक्ति भी कर देता है। यह द्विरुक्ति अव्यवधानमूलक भी होती है और व्यवधानमूलक भी। अव्यवधानमूलक द्विरुक्ति में वह निरन्तर कुछ क्षण वैसे ही चलता है। व्यवधानमूलक में बीच-बीच में विश्राम लेकर द्विरुक्ति करता है। किसी भाव को दीर्घ काल तक मानस में बनाये रखने के लिए अव्यवधानमूलक द्विरुक्ति अपनायी जाती है।

भाव या विचार पर बल देने अथवा घनीभूत स्थिति लाने के दृष्टिकोण से पदों में द्विरुक्ति भी कर दी गयी है। जैसे--

पूरा-पूरा—चिंतामणि, भाग २, पृ० ४

ठीक-ठीक— ,, ,, ५

## भाववाचक संज्ञा बनाने वाले व्युत्पादक प्रत्ययों का प्रयोग

-'ता' व्युत्पादक प्रत्यय की अपेक्षा -'त्व' व्युत्पादक प्रत्यय में बल-पौरुष की गंध अधिक है। शुक्लजी कोमलता या निर्बलता के लिए -'ता' और परुषता या सबलता के लिए -'त्व' का प्रयोग करते हैं।

### -'ता' व्युत्पादक प्रत्यययुक्त शब्द

**तुच्छता**—"अपनी **तुच्छता** का अनुभव किए बिना लोग प्राय: नहीं रहते।"

(चिंतामणि भाग १, पृ० ६२)

**साधुता**—"कोरी **साधुता** का उपदेश पाखंड है।"

(चिंतामणि भाग १, पृ० २०१)

**मधुरता**—"इस विधान में इनकी कल्पना की **मधुरता** झलकती है।"

(हिंदी साहित्य का इतिहास वही, पृ० १७२)

**सजीवता**—"वर्णन में **सजीवता** आ जायेगी"

(मधुस्रोत, वही, पृ० ८)

### -'त्व' व्युत्पादक प्रत्यययुक्त शब्द

**व्यक्तित्व**—"प्रस्तुत विषय को हम अपने **व्यक्तित्व** से सम्बद्ध रूप में नहीं देखते।"

(चिंता०, भाग १, वही पृ० २४७)

**लोकोत्तरत्व** } "इसी को चाहे रस का **लोकोत्तरत्व** या<br>**सहोदरत्व** } ब्रह्मानन्द-**सहोदरत्व** कहिए"

(चिंता० भाग १, पृ० २४७)

### वाक्य-रचना

भावों या विचारों को साहित्यकार पद-संयोजना के माध्यम से वाक्यों में अभिव्यक्त करता है। वाक्य के भी विभिन्न रूप एवं प्रकार होते हैं। भाव एवं विचार की स्पष्टता के ही कारण वाक्य कहीं छोटे एवं सरल लिखे जाते हैं, तो कहीं बड़े-बड़े एवं पेचीदे। शुक्लजी के साहित्य में छोटे एवं बड़े संयुक्त एवं मिश्र वाक्य तो मिलते हैं। किन्तु वे पेचीदे नहीं हैं, सुविज्ञ पाठक के लिए बोधगम्य हैं। जैसे—

### सरल छोटे एवं साधारण वाक्य

"एक और बात जरा खटकती है। वह है, उनका भाषा के साथ मजाक। कुछ दिन पीछे इन्हें उर्दू लिखने का शौक हुआ। उर्दू भी ऐसी वैसी नहीं, उर्दू-ए-मुअल्ला।"[२२]

सरल वाक्य की रचना में समापिका क्रिया एक ही होती है। शुक्लजी विचार को कथन-प्रणाली का सहज रूप देने के लिए कभी-कभी समापिका क्रिया को वाक्य के प्रारम्भ में भी रख देते हैं, जैसे—"वह है उनका भाषा के साथ मजाक।"[२३]

### मिश्र वाक्य

मिश्र वाक्य में एक प्रधान उपवाक्य और शेष उसके आश्रित उपवाक्य रहते हैं। एक विचार के सहयोगी उपविचार की प्रस्तुति के लिए ऐसे वाक्यों की रचना की जाती है। जैसे—

"यह तो प्रत्यक्ष बात है कि कल्पना के भीतर जो कुछ रहता है या आता है, वह प्रकृति के ही विशाल क्षेत्र से प्राप्त होता है।"[२४]

× × ×

"बरसात के दिनों में जब सुरखी-चूने की कड़ाई की परवा न करके हरी-भरी घास पुरानी छत पर निकल पड़ती है, तब मुझे उसके प्रेम का अनुभव होता है।"[२५]

× × ×

"जहाँ किसी प्रकार की रस-व्यंजना होगी, वहीं किसी वर्णन-प्रणाली को अलंकारिता प्राप्त हो सकती है।"[२६]

### संयुक्त वाक्य

संयुक्त वाक्य में दो या दो से अधिक प्रधान उपवाक्य होते हैं। दो या दो से अधिक पूर्ण विचार एकसाथ व्यक्त करने के लिए भाषा में संयुक्त वाक्यों की रचना की जाती है। जैसे—

"नाथ संप्रदाय के सिद्धान्त-ग्रंथों में ईश्वरोपसाना के बाह्य विधानों के प्रति उपेक्षा प्रकट की गई है, घट के भीतर ही ईश्वर को प्राप्त करने पर जोर दिया गया है, वेदशास्त्र का अध्ययन व्यर्थ ठहराकर विद्वानों के प्रति अश्रद्धा प्रकट की गई है। तीर्थाटन आदि निष्फल कहे गए हैं।"[२७]

शुक्लजी के गद्य में साधारण, संयुक्त एवं मिश्र वाक्य अधिकतर हिन्दी की प्रकृति के अनुसार कर्ता, कर्म एवं क्रियापदों के क्रम-विधानानुसार ही प्रयुक्त हुए हैं—

"क्रोध शान्ति भंग करने वाला मन-विकार है।" (चिन्तामणि भाग १, पृ० १३५)

उपर्युक्त उद्धरण में 'मन-विकार' सामासिक पद है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि हिन्दी में शुक्लजी पूर्णतः संस्कृत के व्याकरण का अनुगमन नहीं करते। संस्कृत के व्याकरण के आधार पर संधिगत समास 'मनोविकार' बनता है, क्योंकि संस्कृत में 'मनस्' प्रातिपदिक है; अतः मन+विकार=मनोविकार। शुक्लजी हिन्दी में प्रातिपदिक 'मन' स्वीकारते हैं। अतः सामासिक पद 'मनविकार' प्रयुक्त किया गया है।

'कविता क्या है' जैसे निबंधों में साधारण वाक्यों की अपेक्षा संयुक्त एवं मिश्र वाक्यों का प्रयोग ही अधिक है। शुक्लजी के गद्य में वाक्य-गठन विषयानुगामी रहा है।

## मुहावरों, लोकोक्तियाँ एवं सूक्तियों का प्रयोग

'मुहावरा' भाषा की जान है। इसमें लक्ष्यार्थ प्रधान होता है। लक्ष्यार्थ की दृष्टि से मुहावरा अलंकार से अधिक अर्थवत्ता रखता है।

भावाभिव्यक्ति की सबलता जहाँ सार्थक शब्द-योजना पर अवलम्बित है, वहाँ मुहावरे, लोकोक्तियाँ एवं सूक्तियाँ भी अपना चमत्कारी प्रभाव डालने में अचूक हैं। ये मुहावरे अपनी भाषा की निजी सम्पत्ति हैं। आचार्य शुक्ल ने अपने गद्य-साहित्य में अपनी मूल भाषा में ही उनका प्रयोग किया है। जैसे—

काटने दौड़ना—रस-मीमांसा, वही, पृ० ८।
घड़ों पानी पड़ जाता—चिन्तामणि, भाग १, पृ० ५७।
बगलें झांकते हैं— ,, ,,, पृ० ६१।
मन मारना— मधुस्रोत पृ० ६।
काम से हाथ खींचना ,, ,, पृ० ६।

मुहावरों के अतिरिक्त कुछ लोकोक्तियों के प्रयोग भी शुक्लजी के साहित्य में मिलते हैं, जैसे—'जीवो जीवस्य जीवनम्' (चिंतामणि, भाग १, वही, पृ० ३८)

लोकोक्तियों से तात्पर्य उन उक्तियों से है जो सामान्य जन-जीवन की नैरन्तर्यमयी अनुभूतियों से उद्भूत होती हैं। लोकोक्तियाँ मानव-लोक के युगों के अनुभव हैं जो वाणी का रूप लेकर मानव से निस्सृत हुए हैं। कभी-कभी कवि की अपनी व्यक्तिगत अनुभूति भी ऐसी उक्ति को जन्म देती है कि वह उक्ति जन-समष्टि की अनुभूति का श्रेय प्राप्त करके लोक में लोकोक्ति का रूप ग्रहण कर लेती है। इसे लोकोक्ति नहीं 'प्रज्ञोक्ति' कहा जाता है, जैसे—तुलसी की एक उक्ति है—'कोउ नृप होउ हमहि का हानी' [२८]—यह प्रज्ञोक्ति ही है। इसने लोकोक्ति का-सा प्रचार पा लिया है।

## शुक्लजी की गद्य-भाषा में बिम्ब-योजना

कविता के लिए तो शुक्लजी बिम्ब-योजना को अनिवार्य मानते ही हैं। उनका मत है कि बिम्ब मूर्त पदार्थों का ही बनता है। वही पाठक के मन पर प्रभाव भी डालता है और रस में वृद्धि करता है। स्पष्ट है कि शुक्ल जी चाक्षुष बिम्ब को ही बिम्ब मानते हैं।

शुक्लजी ने काव्य में अर्थग्रहण की अपेक्षा बिम्बग्रहण को अधिक महत्ता दी है। उनका विचार है कि काव्य में अर्थग्रहण मात्र से काम नहीं चलता, बिम्बग्रहण उसके लिए अपेक्षित है।[२९]

यह बिम्ब शब्द की अभिधा शक्ति द्वारा जितना प्रभावशाली होता है, उतना किसी अन्य शक्ति के द्वारा नहीं। बिम्ब विशेष का ही होता है, सामान्य का नहीं। शुक्लजी के गद्य-साहित्य में विभिन्न स्थलों पर बिम्ब का सौन्दर्य मिलता है—इसे शब्द-चित्र भी कह कहते हैं। जैसे—

"बुड्ढी की झोंपड़ी में न कोई चमक-दमक थी. न कला-कौशल का वैचित्र्य। मिट्टी की दीवारों पर फूंस का छप्पर पड़ा था, नींव के किनारे चढ़ी हुई मिट्टी पर सत्यानासी के नीलाभ-हरित कँटीले, कटावदार पौधे खड़े थे जिनके पीले फूलों के गोल संपुटों के बीच लाल-बिंदियाँ झलकती थीं।"[३०]

## शुक्लजी की भाषा-ज्ञान-गरिमा

शुक्लजी की भाषाशास्त्रीय ज्ञान-गरिमा का पता उनके दो विशेष ग्रंथों—'हिन्दी साहित्य का इतिहास' और 'बुद्धचरित' से लग जाता है।

'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में शुक्लजी ने खड़ीबोली हिन्दी की जननी (भाषा) की ओर संकेत किया है तथा खड़ीबोली हिन्दी की आकारान्तता को उपभ्रंश से विकसित माना है।[३१]

ब्रजभाषा के अनूदित प्रबन्धकाव्य 'बुद्धचरित' की भूमिका में शुक्लजी ने ब्रजभाषा के व्याकरणिक रूप का शास्त्रीय विश्लेषण किया है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के सम्पूर्ण गद्य-साहित्य का अवलोकन करने के उपरान्त यह दृढ़तापूर्वक कहा जा सकता है कि शुक्लजी की भाषा विचार-भाव की अनुगामिनी तो है ही, साथ ही वह गरिमा एवं विस्तार-भाव से भी परिपूर्ण है। इसीलिए तो संस्कृत के शब्दों के साथ उसमें हिन्दी की प्रकृति में ढले हुए विदेशी शब्दों का प्रयोग सहज रूप से हुआ है। कभी शब्द के रूप में, कभी मुहावरे के रूप में और सूक्ति के रूप में हिन्दी से इतर भाषा को सुविज्ञ आचार्य शुक्लजी ने स्थान दिया है। अपने गद्य-साहित्य में विषयानुसार छोटे-बड़े वाक्यों को लिखा है। किन्तु प्रवृत्ति बड़े वाक्यों के लिखने की ही रही है जिसमें मिश्र और संयुक्त ही अधिक हैं, साधारण वाक्य अपेक्षाकृत संख्या में कम हैं।

आचार्य शुक्ल की गद्य-भाषा गंभीर, संस्कृतनिष्ठ तथा विषयानुगामिनी है। उनका गद्य जर्मन विद्वान् बफ़न की इस उक्ति का स्मरण करा देता है कि शैली ही मनुष्य का स्वरूप है--"Style is the man himself." उनकी शैली पाठक को यह बतलाती है कि गंभीर विषय का प्रतिपादन गंभीर शैली में हो रहा है और व्यंग्य की अभिव्यक्ति सरल और चुभीली भाषा में हो रही है। उनकी भाषा में विचार की चादर पर भावों के छींटे भी मिलते हैं। इसी को शुक्लजी ने इन शब्दों में कहा है—

"यात्रा के लिए निकलती रही है बुद्धि, पर हृदय को भी साथ लेकर"—(चिन्तामणि, भाग १, निवेदन)।

## संदर्भ-संकेत

१. साहित्य का समाजशास्त्र, डॉ० नगेन्द्र, प्रका० नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, सन् १९८४ ई०, पृ० १३५। २. 'रस-मीमांसा', सम्पादक विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, प्रका० नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, सं० २०२३ वि०; चौथा संस्क०, पृ० ४४। ३. हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, सं० २०२९, पृ० ३४७। ४. 'चिन्तामणि' भाग १ (रसात्मक बोध के विविध रूप), लेखक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, प्रकाशक इंडियन प्रेस प्राइवेट लिमिटेड, प्रयाग, सन् १९६३, पृ० ७२। ५. चिंतामणि, भाग १, वही, पृ० २०४। ६. वही, पृ० ४०। ७. हिन्दी साहित्य का इतिहास, वही, पृ० ३४५। ८. चिंतामणि, भाग १, वही, पृ० ७८। ९. रस-मीमांसा, संपा० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, प्रका० काशी नागरी प्रचारिणी सभा, सं० २०२३ वि०, चतुर्थ संस्क०, पृ० १२२। १०. हिन्दी साहित्य का इतिहास, आ० रामचन्द्र शुक्ल, प्रका० ना० प्र० सभा काशी, सं० २०२९, पृ० ४। ११. चिंतामणि, भाग १, वही, पृ० ४५। १२. हिं० सा० इ०, आ० शुक्ल, वही, पृ० ४६। १३. वही, पृ० ४७। १४. चिंतामणि, भाग १, वही, पृ० २६६। १५. वही, पृ० २४४। १६. चिन्तामणि, भाग १, वही, पृ० २५६। १७. चिन्तामणि, भाग १, वही, पृ० २३४। १८. वही, पृ० २३६। १९. वही, पृ० ९५। २०. वही, पृ० २१८। २१. वही, पृ० २३८। २२. हिन्दी साहित्य का इतिहास, आ० रामचन्द्र शुक्ल, प्रका० नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, सं० २०२९ वि०, पृ० ३४०। २३. वही, पृ० ३४०। २४. चिन्तामणि, भाग २, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, प्रका० सरस्वती-मन्दिर, जतनबर, काशी, सं० २००२ वि०, पृ० १२७। २५. चिन्तामणि, भाग २, वही, पृ० ११। २६. मधुस्रोत,

आ० रामचन्द्र शुक्ल, ना० प्र० स० काशी, सं० २०२८ वि०, पृ० १४। २७. हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, सं० २०२६ वि०, पृ० ११। २८. गीताप्रेस, 'रामचरित-मानस', अयोध्या काण्ड, दोहा १६।३। २६. चिंतामणि, भाग १, पृ० १४५। ३०. रस-मीमांसा, वही, पृ० ११। ३१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, वही, पृ० १५।

●

A—८७ विवेकनगर,<br>
दिल्ली रोड,<br>
सहारनपुर—२४७०२१

# 'चिन्तामणि' और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

डॉ० त्रिवेणीदत्त शुक्ल

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के मनोविकार-सम्बन्धी निबन्ध सन् १९१२ से १९१८ ई० तक 'नागरी प्रचारिणी' पत्रिका में 'मनोविकारों का विकास' शीर्षक से धारावाहिक रूप में प्रकाशित होते रहे। प्रारम्भ में वही निबन्ध 'विचार-वीथी' नामक संग्रह में सन् १९३० में संगृहीत किये गये। तदनन्तर शुक्लजी ने अपने निबन्धों के प्रारम्भिक संग्रह 'विचार-वीथी' को ही परिवर्द्धित तथा परिष्कृत कर चिन्तामणि—पहला भाग नाम से अभिहित किया। चिन्तामणि का अर्थ है—एक प्रसिद्ध कल्पित मणि या रत्न, जिसके सम्बन्ध में कहा जाता है कि जिसके पास यह रहता है, उसकी सभी आवश्यकताएँ-मनोकामनाएँ आप-से-आप पूरी हो जाती हैं। उक्त नामकरण के सम्बन्ध में शुक्लजी के विचार चाहे जो भी रहे हों, लेकिन इतना तो निश्चित ही है कि चिन्तामणि साहित्यिक सुधी साधकों को परितुष्टि प्रदान करने में पूर्ण सक्षम है और उसमें संगृहीत एक-एक निबन्ध रत्न-सदृश ही हैं। चिन्तामणि के निबन्धों को पढ़कर समृद्धता का बोध होता है और एक कलात्मक सौन्दर्यानुभूति की उदात्त अभिव्यक्ति मन को उद्बोधित करती है। इन निबन्धों में वस्तुनिष्ठता के साथ व्यक्तिनिष्ठता, बौद्धिकता के साथ रागात्मिकता, वैदुष्य के साथ स्वाभाविकता, गूढ़ विषय-प्रतिपादन के साथ सहजता तथा मनोहरता एवं प्रभविष्णुता के साथ संप्रेषणीयता के गुण सर्वत्र संवर्धित हैं। 'बैर क्रोध का अचार या मुरब्बा है', 'हृदय की मुक्तावस्था का नाम रस-दशा है', 'कोरी साधुता का उपदेश पाखण्ड है, कोरी वीरता का उपदेश उद्दण्डता है, मनोवेग-वर्जित सदाचार दम्भ या झूठी कवायत है।'—गूढ़ गुंफित शैली में अनुभूति-जन्य, सारगर्भित, सुनिर्णीत ये सिद्धान्त-कथन निश्चय ही चिन्तामणि की मूल्यवत्ता तथा आचार्य शुक्ल की मर्मग्राहिणी प्रज्ञा एवं तलस्पर्शी पाण्डित्य को प्रतिपादित करते हैं।

अब यहाँ पर चिन्तामणि में संकलित आचार्य शुक्ल के निबन्धों पर विचार करना समीचीन होगा। सम्प्रति चिन्तामणि तीन भागों में प्रकाशित है जिनमें चिन्तामणि-पहला भाग का प्रकाशन स्वत: शुक्लजी ने किया था। दूसरा भाग का प्रकाशन आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के सम्पादकत्व में हुआ। चिन्तामणि के ये दोनों भाग पहले से ही उपलब्ध हैं। किन्तु डॉ० नामवर सिंह ने विगत वर्ष (सन् १९८३ में) शुक्लजी के शेष दुर्लभ निबन्धों को चिन्तामणि भाग-३ में संकलित कर शुक्ल साहित्य में एक नई कड़ी जोड़ी है। चिन्तामणि के प्रथम भाग के निबन्धों में प्रारम्भिक दस निबन्ध मनोविकार-संबंधी तथा शेष निबन्ध आलोचनात्मक हैं। मनोविकार, उत्साह, श्रद्धा-भक्ति, करुणा, लज्जा और ग्लानि, लोभ और प्रीति, घृणा, ईर्ष्या, भय तथा क्रोध। इन निबन्धों के द्वारा सामाजिक स्वरूप की व्याख्या शुक्लजी का प्रतिपाद्य विषय रहा है। साहित्य एवं जीवन में किस भाव का कौन-सा स्वरूप श्रेयस्कर है; किस मनोविकार का कौन-सा रूप लोक मंगलकारी है और कौन-सा स्वरूप मानसिक विकृतियों को पैदा करने वाला मनुष्यता के लिए घातक है—इन सब बातों की संतुलित व्याख्या उक्त निबन्धों में मिलती है। शुक्लजी जिस भाव की व्याख्या प्रारम्भ करते हैं, सर्वप्रथम उसके स्वरूप पर चिंतन करते हैं और फलस्वरूप सूत्रात्मक ढंग से उसकी परिभाषा प्रस्तुत कर देते हैं। परिभाषा के

पश्चात् विधिवत् व्याख्या करते हैं। मनोभावों के स्वरूपों को व्याख्यायित करते हुए, जीवन में उसकी प्रासंगिकता खोजना तथा उसकी मूल्यवत्ता को प्रतिपादित करना शुक्लजी आवश्यक मानते हैं।

शुक्लजी का विवेचन लोकमंगल तथा रसवाद के दार्शनिक पक्षों से प्रतिबन्धित है। इसीलिए वे अपने मनोविकार-संबंधी निबन्धों में मनोवृत्तियों के लोकहितकारी सामाजिक पक्ष पर अधिक बल देते हैं और उनके असामाजिक पक्षों का खण्डन करते हैं। उन्हें अपने युगीन समाज में जहाँ भी भ्रष्टाचार, अभद्रता, अनैतिकता, विद्रूपता एवं अनौचित्य दिखाई पड़ता है, वहाँ उसकी बौद्धिक ढंग से कटु आलोचना करते हैं। लोभियों के संबंध में शुक्लजी का विचारोत्तेजक यह कथन समाज के एक विशेष वर्ग के लोगों का कितना सजीव चित्र उपस्थित करता है—"लोभियो! तुम्हारा अक्रोध, तुम्हारा इन्द्रिय-निग्रह, तुम्हारी मानापमान-समता, तुम्हारा तप अनुकरणीय है। तुम्हारी निष्ठुरता, तुम्हारी निर्लज्जता, तुम्हारा अविवेक, तुम्हारा अन्याय विग्रहणीय है। तुम धन्य हो, तुम्हें धिक्कार है।"[1]

शुक्लजी ने अपने मनोविकार-संबंधी निबन्धों में जीवनगत स्थिति पर विस्तृत व्याप्ति तथा गहराई के साथ विचार किया है। ये निबन्ध विचारात्मक होते हुए भी व्यक्ति-तत्त्व की प्रधानता रखते हैं। इनमें बुद्धितत्त्व तथा हृदयतत्त्व दोनों का योग है। मर्यादा, नीति एवं आदर्श के पुट के साथ विस्तृत विषय-व्याप्ति तथा मनोवृत्तियों का सूक्ष्म विश्लेषण सर्वत्र सन्निहित है। अपने इन निबन्धों में वे किसी भी भाव के नैतिक-अनैतिक, वैयक्तिक-सामाजिक रूपों की तुलना करना नहीं भूलते। वस्तुतः मनोविकारों के भेदों-प्रभेदों के निरूपण में, उनकी विशेषताओं के प्रतिपादन में शुक्लजी की तत्त्वाभिनिवेशी बुद्धि तथा मौलिक सूक्ष्म दृष्टि का यथेष्ट प्रमाण मिलता है।

चिन्तामणि-पहला भाग में अन्य निबन्ध—कविता क्या है, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, तुलसी का भक्तिमार्ग, 'मानस' की धर्मभूमि, काव्य में लोकमंगल की साधनावस्था, साधारणीकरण और व्यक्ति-वैचित्र्यवाद, रसात्मक बोध के विविध रूप शीर्षक से प्रकाशित हैं। शुक्लजी के इन निबन्धों के केन्द्र-विन्दु में प्रायः साहित्य ही प्रमुख रहा है। इनकी समीक्षाओं में किसी प्रकार के साहित्येतर मानदण्ड का आग्रह नहीं है। सत्य तो यह है कि उन्होंने अपने सैद्धान्तिक समीक्षा-विषयक इन निबन्धों में अपना साहित्य-दर्शन प्रस्तुत कर साहित्य-दार्शनिक व्यक्तित्व का परिचय दिया है। साहित्य को समग्र रूप में देखने के कारण ही शुक्लजी ने साहित्य-क्षेत्र के बहुप्रचलित संकीर्ण वादों का विरोध कर अपने भारतीय साहित्य को पाश्चात्य साहित्य से श्रेष्ठ घोषित किया। शुक्लजी एक चिन्तक कोटि के साहित्यिक-दार्शनिक थे। वे हिन्दी समीक्षा के लिए एक नवीन पंथ का निर्माण करना चाहते थे। उनके साहित्यिक जीवन का वास्तविक प्रयत्न यही था। पाश्चात्य समीक्षा के अनुयायी तथा प्रशंसक भारतीय दकियानूसी समीक्षकों पर व्यंग्य करते हुए शुक्लजी कहते हैं—"वर्तमान हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में कुछ लोग ऐसे हैं जो लक्षणों की पुरानी लकीर से जरा भी इधर-उधर होने की कल्पना ही नहीं कर सकते। बेचारे नवीनतावादी अभी कलाबाजी कर रहे हैं; उन्हें विलायती समीक्षा-क्षेत्र में उड़ते हुए लटकों की उद्धरणी और योरोप के ग्रन्थकारों की नाम-माला जपने से फुरसत नहीं।"[2] हिन्दी साहित्य के विकास में बाधक वादों का आधिक्य उन्हें सह्य नहीं था। इसीलिए इन्दौर अधिवेशन के अवसर पर साहित्य परिषद् के अपने अध्यक्षीय भाषण में वे कहते हैं—"आजकल पाश्चात्य वाद-वृक्षों के बहुत से पत्ते कुछ हरे, कुछ पीले, कुछ सूखकर गिरे पाये हुए यहाँ पारिजात पत्र की तरह प्रदर्शित किये जाने लगे हैं जिससे साहित्य के उपवन में बहुत गड़बड़ी दिखाई देने लगी है।"[3] उनके निबन्धों से स्पष्ट होता है कि वे साहित्य

में जीवनवादी दृष्टि रखते हैं और साहित्य की सार्थकता मानव-जीवन को उदात्त, महान् एवं सौन्दर्यशाली बनाने में ही मानते हैं।

आचार्य शुक्ल को उनके इस विशिष्ट निबन्ध-संग्रह चिन्तामणि-पहला भाग पर हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग द्वारा सन् १९३८ ई० में 'मंगलाप्रसाद पारितोषिक' भी प्रदान किया गया था। उस समय पुरस्कार के लिए निम्नलिखित निर्णायक चुने गये थे—

(१) श्री जैनेन्द्र कुमार, दिल्ली, (२) बाबू गुलाबराय, आगरा, (३) सद्गुरुशरण अवस्थी, कानपुर, (४) श्री गुरुप्रसाद टण्डन, ग्वालियर, (५) श्री सूर्यकान्त, लाहौर, (६) डॉ० अमरनाथ झा, इलाहाबाद, (७) श्री शिवाधार पाण्डेय, इलाहाबाद, (८) आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, शान्ति-निकेतन, (९) श्री जनार्दन मिश्र, पटना, (१०) दीनदयालु गुप्त, लखनऊ। सम्मेलन के तत्कालीन प्रधान मंत्री डॉ० बाबूराम सक्सेना इस पुरस्कार के संयोजक थे। प्रसंगतः यहाँ पर चिन्तामणि के सम्बन्ध में कतिपय निर्णायकों की सम्मतियों का उल्लेख करना समीचीन होगा—

(१) मैं प्रमाणित करता हूँ कि मैंने निष्पक्ष भाव से सत्य और न्याय की दृष्टि से ही अपना निर्णय दिया है और मुझ पर कोई अनुचित दबाव नहीं पड़ा है। चिन्तामणि पुस्तक में सूक्ष्म मनोभावों के मूल खोजने की वृत्ति है। साहित्य-कार्य में इस वृत्ति को मैं सबसे ऊँची मानता हूँ। और यह काम पर्याप्त दायित्वशाली और निराग्रही भाव से पुस्तक में सम्पन्न हुआ है। —श्री जैनेन्द्र कुमार

(२) निबन्ध-साहित्य में चिन्तामणि का विशेष स्थान है। इसमें साहित्य और मनोविज्ञान संबंधी उच्चकोटि के निबन्ध हैं। मनोवैज्ञानिक लेखों में क्रोध, लोभ, प्रीति आदि मनोवृत्तियों का बड़ा सूक्ष्म विश्लेषण है। इन मनोवृत्तियों का साहित्य से भी विशेष संबंध है। इसलिए ये लेख भी साहित्यिक ही हैं.........इन निबन्धों में यही विशेषता है कि जैसा भाषा का चमत्कार चाहिए, वह इनमें पूर्णतया वर्तमान है। इन्हीं कारणों से मैंने इसको प्रथम स्थान दिया है।

—बाबू गुलाबराय

(३) चिन्तामणि को मैं सबसे ऊँचा स्थान इसलिए देता हूँ कि उसके प्रबन्धों की विचार-धारा नितान्त मौलिक और उसकी शैली सुगठित और परिपक्व है। इस पुस्तक के प्रत्येक प्रबन्ध में विषय की ऊँची और मौलिक चिन्तना के साथ-साथ आकर्षक और सुबोध व्याख्या मिलती है। ये बातें किसी दूसरी पुस्तक में नहीं मिलतीं। —श्री सद्गुरुशरण अवस्थी

(४) चिन्तामणि में पं० रामचन्द्र शुक्ल के भिन्न-भिन्न साहित्यिक एवं मनोवैज्ञानिक विषयों पर लिखे गये सत्रह निबन्ध हैं। श्रद्धा-भक्ति, लोभ-प्रीति, ईर्ष्या, क्रोध, कविता क्या है, साधारणीकरण और व्यक्ति-वैचित्र्यवाद आदि निबन्धों के शीर्षकों से ही पता चलता है कि लेखक कैसे जटिल और गूढ़ विषयों पर चिन्तन करना चाहता है। इन विषयों पर लेख लिखना सहज नहीं है।......तार्किक पद्धति पर जो आलोचनाएँ आज निकल रही हैं, उस प्रवृत्ति को फैलाने का श्रेय शुक्लजी को ही है। निबन्ध और आलोचना के क्षेत्र में उन्होंने आचार्यवत् कार्य किया है। निबन्ध के क्षेत्र में चिन्तामणि शीर्ष स्थान पाने योग्य है। —श्री गुरुप्रसाद टण्डन।[४]

चिन्तामणि-दूसरा भाग में केवल तीन निबन्ध—१. काव्य में प्रकृति-दृश्य, २. काव्य में रहस्यवाद एवं ३. काव्य में अभिव्यंजनावाद हैं जिनमें तीसरा निबन्ध 'काव्य में अभिव्यंजनावाद' हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग के चौबीसवें इन्दौर अधिवेशन की 'साहित्य परिषद्' के सभापति पद से किया हुआ शुक्लजी का भाषण है। आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र के अनुसार—"इसे

भाषण का रूप कुछ वाक्यों ने आदि, मध्य और अन्त में जुड़कर दिया है। यदि यह वाक्यावली हटा ली जाए तो यह वर्तमान हिन्दी-साहित्य का सिंहावलोकन करने वाला निबन्ध ही दिखाई देगा। वस्तुतः साहित्य की अन्य शाखाओं का अवलोकन तो इसमें नाम मात्र को है, कविता और काव्य-क्षेत्र में फैले अभिव्यंजनावाद की विस्तृत मीमांसा ही प्रमुख है।"[४] इस निबन्ध में सर्वप्रथम साहित्य की परिभाषा, व्याप्ति, उसके प्रमुख तत्त्व तथा उसके विविध रूपों पर विचार किया गया है। तदनन्तर साहित्य के विकास-पथ को निर्देशित करते हुए शुक्लजी ने वर्तमान हिन्दी साहित्य के विभिन्न रूपों—काव्य, समालोचना, नाटक, उपन्यास, कहानी, गद्य-काव्य एवं निबन्ध की तत्कालीन गतिविधि, स्थिति, प्रवृत्ति आदि का सम्यक् विवेचन प्रस्तुत किया है।

'काव्य में प्रकृति-दृश्य' निबन्ध सन् १९२३ ई० में 'माधुरी' के जून-जुलाई अंक में प्रकाशित हुआ था। इस निबन्ध का प्रतिपाद्य विषय काव्य में प्रकृति-वर्णन-सम्बन्धी सिद्धान्त है। शुक्लजी ने इस निबन्ध के माध्यम से अपनी साहित्यिक, सांस्कृतिक, ऐतिहासिक तथा मनोवैज्ञानिक दृष्टियों से यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि काव्य में प्रकृति-वर्णन अंगी रूप से हमारे रतिभाव का स्वतन्त्र आलम्बन हो सकता है। इस निबन्ध में रस एवं अलंकार संबंधी शुक्लजी के महत्त्वपूर्ण विचार भी यत्र-तत्र समाविष्ट हैं।

'काव्य में रहस्यवाद' निबन्ध की रचना शुक्लजी ने अपने समय में रहस्यवाद एवं छायावाद संबंधी हिन्दी कविता के विषय में परिव्याप्त विवाद के निवारणार्थ की थी। उन्होंने अपने साहित्यिक, धार्मिक, मनोवैज्ञानिक एवं दार्शनिक तथ्यों के माध्यम से यह स्पष्ट किया है कि रहस्यवाद या छायावाद संबंधी रचनाएँ काव्य की व्यापक मान्यताओं को समाहित नहीं कर सकतीं, अपितु काव्य के एक पक्ष-विशेष को प्रतिपादित करती हैं। शुक्लजी ने वादग्रस्त एवं पाश्चात्य अनुकरण पर चलने वाले अध्यात्मवादी, अलोकोन्मुखी छायावाद अथवा रहस्यवाद का डटकर विरोध किया। किन्तु इस विरोध के मूल में उनकी ईर्ष्या-द्वेषमूलक अथवा प्रतिशोधी प्रवृत्ति नहीं थी, बल्कि दृढ़ सिद्धान्तनिष्ठा, साहित्यिक मूल्यों की स्थापना तथा राष्ट्र के प्रति उनके प्रकृष्ट प्रेम का भाव ही सन्निहित था।

सम्प्रति चिन्तामणि के तीसरे भाग का संक्षिप्त विवेचन प्रासंगिक होगा। चिन्तामणि–३ का प्रकाशन, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली से हुआ है। डॉ० नामवर सिंह इसके सम्पादक हैं। इस निबन्ध-संग्रह में शुक्लजी के सन् १९०४ से १९३९ ई० के बीच यत्र-तत्र पत्रिकाओं में फैले हुए छत्तीस वर्षों के चिंतन का महत्त्वपूर्ण अंश संकलित है। निबन्धों के संकलन में काल-क्रम का विशेष रूप से ध्यान दिया गया है। उक्त ग्रन्थ में कुल इक्कीस निबन्ध संकलित हैं जिनके शीर्षक इस प्रकार हैं—'साहित्य, कल्पना का आनन्द, बाबू काशीनाथ खत्री, अपनी भाषा पर विचार, फ्रेडरिक पिन्काट, कविता क्या है, उपन्यास, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और हिन्दी, हिन्दी की पूर्व-वर्तमान स्थिति, विश्व प्रपंच की भूमिका, छात्रधर्म का सौन्दर्य, शशांक की भूमिका, बुद्धचरित की भूमिका, सभ्यता के आवरण और कविता, प्रेमघन की छायास्मृति, प्रेम आनन्द-स्वरूप है, गद्य-प्रबन्ध के प्रकार, कविता की परख, हिन्दी और हिन्दुस्तानी, शेष स्मृतियों की प्रवेशिका, स्वागत भाषण।' इन निबन्धों के संबंध में पुस्तक के फ्लैप पर प्रकाशित प्रस्तुत अंश विशेष रूप से उद्धरणीय है।

"चिन्तामणि का यह तीसरा भाग आचार्य शुक्ल के अब तक असंकलित ऐसे इक्कीस निबन्धों का अनूठा संग्रह है जो पुरानी पत्रिकाओं में बिखरे रहने और अप्राप्य पुस्तकों की भूमिका के रूप में प्रकाशित होने के कारण प्रायः दुर्लभ रहे हैं। इन निबन्धों में गोरखपुर के 'स्वदेश' में

प्रकाशित 'छायाधर्म का सौन्दर्य' और 'प्रेमा' में प्रकाशित 'प्रेम आनन्द-स्वरूप है' ऐसे निबन्ध हैं जिनकी जानकारी भी लोगों को नहीं है। 'हंस' के आत्मकथा अंक में प्रकाशित 'प्रेमघन की छायास्मृति' भी ऐसा ही निबन्ध है जो लगभग अचर्चित रहा है, जबकि आचार्य शुक्ल के आरम्भिक जीवन की झाँकी के लिए वह अनमोल दस्तावेज है। 'साहित्य' और 'उपन्यास' शीर्षक आरम्भिक निबन्धों से जहाँ शुक्लजी के एतद्विषयक अनुपलब्ध विचार पहली बार प्रकाश में आते हैं, वहाँ १९०९ की 'सरस्वती' में प्रकाशित 'कविता क्या है' इसी शीर्षक से सर्वविदित परवर्ती निबन्ध के प्रथम प्रारूप की हैसियत से ऐतिहासिक महत्त्व रखता है। इसी प्रकार 'कल्पना का आनन्द' यद्यपि हाई स्कूल के एक छात्र का अनुवाद है, फिर भी आचार्य शुक्ल के 'काव्य में प्रकृति-दृश्य' तथा 'रसात्मक बोध के विविध रूप' जैसे प्रौढ़ निबन्धों के लिए वह नींव का पत्थर है।''

यह पुस्तक (चिन्तामणि-३) सम्पादक महोदय के सारस्वत प्रयास का प्रतिफल है। इसके निबन्धों में सर्जनाकाल की सभी मानसिक स्थितियाँ, साहित्य-बोध, विषय-बोध, अनुभूति-संचयन एवं भाव-बोध की अभिव्यक्ति स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ती है। शुक्लजी के व्यक्तित्व के अनुकूल ही उनके इन निबन्धों के विषय गम्भीर, विचार गम्भीर, तदनुसार ही उनकी प्रतिपादन-शैली भी गम्भीर है। आद्यन्त विवेचन शैली में भव्यता, पदावली में शास्त्रीयता, क्रमबद्ध तार्किक विश्लेषण, उपयुक्त उदाहरण, विचारों का पूर्वापर संबंध-निर्वाह तथा दार्शनिक विचारधारा के कारण निबन्धों में कहीं भी शैथिल्य नहीं है।

'चिन्तामणि' में संकलित शुक्लजी के निबन्धों की भाषा सर्वत्र भावों तथा विचारों के अनुसार अपना रंग बदलती चलती है। नैतिक व्यक्तित्व के कारण इनकी भाषा में गरिमा, औचित्य, संयम एवं शालीनता है। एक-एक शब्द के चयन में बुद्धि की सुदृढ़ता एवं मौलिकता विद्यमान है। वाक्य में एक शब्द भी कहीं भरती का नहीं है। संस्कृत के वाक्य-खण्ड, लोकोक्तियों तथा मुहावरों से भरी उक्तियाँ एवं सामासिक पदावली से निर्मित सिद्धान्त-कथन इनकी भाषा में स्थान-स्थान पर प्रयुक्त हुए हैं। कहीं-कहीं पर भाषा को प्रभावशाली बनाने के लिए शुक्लजी ने अमूर्त भावसूचक संज्ञा को मानवीयकरण के रूप में व्यक्त किया है। उदाहरणार्थ—"पर अज्ञान, चाहे अपना हो, चाहे पराया, सब दिन रक्षा नहीं कर सकता, बलि-पशु होकर ही हम उसके आश्रय में पलते हैं।" लोकोक्तियों तथा मुहावरों से संयुक्त होने के कारण लाक्षणिक पदावली तथा अभिव्यंजना-शक्ति से युक्त भाषा का एक उदाहरण यहाँ पर द्रष्टव्य है—"मन की जो वृत्ति बड़ों की बात का उत्तर देने से रोकती है, बार-बार किसी से कुछ माँगने से रोकती है, किसी पर किसी प्रकार का भार डालने से रोकती है, उसके न रहने से भलमनसाहत भला कहाँ रहेगी ? यदि सबकी धड़क एकबारगी खुल जाय तो एक ओर छोटे मुँहों से बड़ी-बड़ी बातें निकलने लगें, चार दिन के मेहमान तरह-तरह की फरमाइशें करने लगें, उँगली का सहारा पाने वाले बाँह पकड़कर खींचने लगें, दूसरी ओर बड़ों का बहुत कुछ बड़प्पन निकल जाय, गहरे-गहरे साथी बहरे हो जायँ या सूखा जवाब देने लगें, जो हाथ सहारा देने के लिए बढ़ते हैं, वे ढकेलने के लिए बढ़ने लगें, फिर तो भलमनसाहत का भार उठाने वाले इतने कम रह जायँ कि वे उसे लेकर चल ही न सकें।" इनके निबन्धों की भाषा में धर्मो रक्षति रक्षितः, स्वान्तः सुखायः, वज्रादपि कठोर, काव्यजीवितम्, ब्रह्मानन्द-सहोदरत्व इत्यादि संस्कृत के कुछ वाक्यांश तथा उक्तियाँ भी देखी जा सकती हैं।

शुक्लजी साहित्यिक भाषा की मुख्य विशेषता बिम्ब ग्रहण करना मानते हैं। उनके निबन्धों की भाषा में यह विशेषता प्रायः अधिक मिलती है। 'लोभ और प्रीति' नामक निबन्ध में देश-प्रेम की व्याख्या बिम्ब-विधायक ढंग से कितनी सुन्दर और साकार बन पड़ी है, द्रष्टव्य है—"यदि किसी को अपने देश से प्रेम है, तो उसे अपने देश के मनुष्य, पशु, पक्षी, लता-गुल्म, पेड़-पत्ते, वन-पर्वत, नदी-निर्झर, सबसे प्रेम होगा। सबको चाह-भरी दृष्टि से देखेगा। सबकी सुध करके वह विदेश में आँसू बहायेगा। जो यह भी नहीं जानते कि कोयल किस चिड़िया का नाम है, जो यह भी नहीं सुनते कि चातक कहाँ चिल्लाता है, जो आँख भरकर यह भी नहीं देखते कि आम्र-प्रणय सौरभपूर्ण मंजरियों से कैसे लदे हुए हैं, जो झाँककर यह भी नहीं देखते कि किसानों के झोंपड़ों के भीतर क्या हो रहा है, वे यदि दस वने-ठने मित्रों के बीच प्रत्येक भारतवासी की औसत आमदनी का परता बताकर देश-प्रेम का दावा करें तो उनसे पूछना चाहिए कि भाइयो, बिना परिचय का यह प्रेम कैसा?"[७]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि शुक्लजी के निबन्धों में उनके हृदय की छाप, उनकी भावुकता एवं काव्यात्मकता स्पष्ट रूप से प्रकट हुई है। उनके निबन्धों में हिन्दी गद्य का सर्वोत्कृष्ट रूप मिलता है। वे हिन्दी की स्वतन्त्र अभिव्यंजना-शक्ति के पक्षपाती थे। उनके निबन्धों की भाषा में हिन्दी की स्वतन्त्र अभिव्यंजना-शक्ति का विकास दिखायी पड़ता है। निश्चय ही उनकी भाषा की स्वाभाविकता, सरसता, व्यावहारिकता, व्यंजनात्मकता, बोधगम्यता, चमत्कार-प्रवाह एवं प्रभविष्णुता श्लाघनीय हैं।

'चिन्तामणि' के निबन्धों पर विचार करते समय उनकी शैली पर संक्षेप में विवेचन प्रस्तुत करना आवश्यक प्रतीत होता है। कहना न होगा कि शुक्लजी की निबन्ध-शैली उनके गम्भीर व्यक्तित्व के कारण सर्वत्र बहुत ही उच्चकोटि की है। भाषा-सौन्दर्य, काव्य-रचना में सौन्दर्य, शब्दों की संगति, रसानुकूल पद-योजना, सुन्दर वर्ण-मैत्री, सानुप्रासिक छटा, तुकयुक्त पदावली, बिम्बग्राहिणी चित्रात्मकता, उद्धरणों की उपयुक्तता—ये सभी गुण उनके निबन्धों में देखे जा सकते हैं। वस्तुतः हिन्दी गद्य की प्रायः समस्त शैलियों—आगमन-निगमन, व्यासप्रधान, समासप्रधान, भावात्मक, व्यंग्य-विनोदात्मक, उक्ति एवं सूक्ति प्रधान, तार्किक, काव्यात्मक, निर्णयात्मक, गवेषणात्मक, आलोचनात्मक एवं सानुप्रासिक का संश्लेषण शुक्लजी के निबन्धों में वर्तमान है। इसके अतिरिक्त महत्त्वपूर्ण सम्भाषण शैली का बहुत ही भव्य रूप शुक्लजी के निबन्धों में स्थान-स्थान पर मिलता है। ऐसे स्थलों पर अभिव्यक्ति नितान्त सहज, स्वाभाविक तथा हास्य-व्यंग्य से परिपूर्ण होती है। आज के बाबूपन की सभ्यता एवं उसकी कृत्रिमता पर व्यंग्य करते हुए अपने एक लखनवी दोस्त की चर्चा शुक्लजी कितने सहज, स्वाभाविक एवं मार्मिक ढंग से करते हैं, द्रष्टव्य है—"मैं अपने एक लखनवी दोस्त के साथ साँची का स्तूप देखने गया था। वसन्त का समय था। महुए चारों ओर टपक रहे थे। मेरे मुँह से निकला—'महुओं की कैसी मीठी महक आ रही है।' इस पर लखनवी महाशय ने मुझे रोककर कहा—'यहाँ महुए-वहुए का नाम न लीजिए, लोग देहाती समझेंगे।' मैं चुप हो गया और समझ गया कि महुए का नाम लेने से बाबूपन में बड़ा भारी बट्टा लगता है।"[८]

शुक्लजी ने अपने निबन्धों द्वारा हिन्दी-समीक्षा के जो लोकमंगलकारी एवं रस-सिद्धान्त पर आधारित नवीन मूल्यवादी दृष्टि दी, वही आज हिन्दी-समीक्षा में परिव्याप्त है। उन्होंने अपने निबन्धों के स्वरूप-निर्माण में भी पूर्ण रूप से मौलिकता का निदर्शन किया है। वस्तुतः

हिन्दी-निबन्ध-विधा को नई दिशा देने एवं निबन्धगत अपने विचारों द्वारा साहित्य तथा समाज को अभिनव दृष्टि प्रदान करने में शुक्लजी की अभूतपूर्व भूमिका रही है।

## संदर्भ-संकेत

१. चिन्तामणि : पहला भाग, पृष्ठ ११६-११७। २. इन्दौर अधिवेशन : अभिभाषण, पृष्ठ ६३। ३. वही, पृ० १२। ४. सम्मेलन पत्रिका : भाग २७, संख्या १-२, भाद्रपद-आश्विन १९९६, पृ० १-८। ५. चिन्तामणि : दूसरा भाग, दो बोल, पृ० १। ६. चिन्तामणि : पहला भाग, पृष्ठ ९०। ७. चिन्तामणि : पहला भाग, पृ० १०४-१०५। ८. चिन्तामणि : पहला भाग, पृ० १०७।

३५०, ए-बस्कीखुर्द,
दारागंज, इलाहाबाद

# ब्रजभाषा का अप्रतिम महाकाव्य : 'बुद्धचरित'

●

डॉ० (श्रीमती) हर्षनन्दिनी भाटिया

सुप्रसिद्ध आलोचक, निबंधकार, विचारक, इतिहासकार, कोशकार आचार्य रामचन्द्र शुक्ल मूलत: कवि थे। 'मनोहर छटा' शीर्षक कविता सन् १९०१ की सरस्वती में प्रकाशित हो चुकी थी। तरुणावस्था में उनका सान्निध्य भारतेन्दु-मंडल के कवि तथा आलोचक श्री प्रेमघन से हो गया था और उनसे प्रेरित होकर वह काव्य-रचना करने लगे थे। कविताएँ प्रारंभ में 'आनन्द कादम्बिनी' तथा 'सरस्वती' में प्रकाशित हुईं और बाद में सुधा, माधुरी, ना० प्र० पत्रिका आदि में। इस प्रकार साहित्य-साधना का प्रारंभ १६-१७ वर्ष की अवस्था से हो गया और वह भी ब्रजभाषा में काव्यरचना से १९०१ में :

तरु मंडप के रन्ध्रन बिच सों छनि-छनि आवत।
ससि किरनन को पुंज सरस सोभा सरसावत।
करत अलौकिक नृत्य आय निरमल जल माहीं।
निरखि ताहि मन मुग्ध होय थिर रहत तहाँ हीं।

सन् १९०१-०२ तक उनकी कोई विशेष प्रसिद्धि नहीं हुई थी। प्रकाशित करने से पूर्व आचार्य द्विवेदी उनकी कविता देखना पसन्द करते थे। इस आशय का एक पत्र आचार्य द्विवेदी ने दिनांक ५-६-१९०३ को श्रीधर पाठक को लिखा, "कोई दो सप्ताह पूर्व मिर्ज़ापुर के पं० रामचन्द्र शुक्ल ने मुझे लिखा था कि क्या मैं आपके ऊपर 'सरस्वती' में एक कविता प्रकाशित कर दूँगा। उत्तर में मैंने लिखा कि निश्चित उत्तर देने से पूर्व मैं कविता को देखना चाहूँगा। × × × संभव है कि यह 'व्याकरणी' रामचन्द्र शुक्ल हो—परन्तु ऐसा मेरा अनुमान ही है।" यही पं० शुक्ल आगे चलकर सुप्रसिद्ध आलोचक हुए।

इसके बाद भी उनकी फुटकर कविताएँ प्रकाशित होती रहीं जिनमें से मधुस्रोत, बसंत, विरह सत्तक, प्रेमप्रताप, हृदय का मधुर भार, भारत और बसन्त, आशा और उद्योग, पाखण्ड प्रतिषेध, आमन्त्रण, वह छवि आदि उल्लेखनीय हैं। सन् १९०२ से १९३० तक उनकी सामाजिक व राजनीतिक समस्याओं से सम्बन्धित कविताएँ 'मधुस्रोत' शीर्षक से प्रकाशित हैं। इन कविताओं में उनका जनवादी रूप मुखरित हुआ है।

मिर्ज़ापुर में रहते हुए उन पर वहाँ के सघन वन-वृक्षों से लदी पर्वतमालाओं, टेढ़े-मेढ़े बहते नालों और लहलहाते कछारों का विशेष प्रभाव पड़ा था। वे वहाँ के एक-एक नाले से परिचित थे, यह बात मृत्यु से पूर्व उनके इन उद्‌गारों से स्पष्ट होती है—'मेरी हार्दिक इच्छा तो यही है कि जब मेरे प्राण निकले, तब मेरे सामने मिर्ज़ापुर का यही भूखण्ड रहे। मैं यहाँ के एक एक-एक नाले से परिचित हूँ। यहाँ की नदियों, काँटों, पत्थरों तथा जंगली पौधों में एक-एक को जानता हूँ।' वाराणसी के नागरिक जीवन में रह-रहकर उन्हें अपने मिर्ज़ापुर की स्मृतियाँ आती रहती थीं। 'हृदय का मधुर भार' में अपने उद्‌गार व्यक्त किये हैं :

ए हो बन बंजर कछार हरे-भरे खेत;
विटप विहंग ! सुनो अपनी सुनावें हम।
छूटे तुम, तो भी चाह चित्त से न छूटी यह,
बसने तुम्हारे बीच फिर कभी आवें हम।
सड़े चले आ रहे हैं गड़े अपने ही बीच,
जो कुछ बचा है उसे बचा कहाँ पावें हम।
मूल रसस्रोत ही हमारे वही छोड़ तुम्हें,
सूखते हृदय सरसाने कहाँ जावें हम।

लेकिन सर्वाधिक चर्चित कृति 'बुद्धचरित' महाकाव्य है। वस्तुतः यह एडविन आर्नाल्ड रचित **'लाइट ऑफ़ एशिया'** का भावानुवाद है। अंग्रेजी में उत्कृष्ट रचनाओं का अनुवाद किया जाने लगा था। श्रीधर पाठक के गोल्डस्मिथ की 'डेजर्टेड विलेज' के 'ऊजड़ ग्राम', सत्यनारायण कविरत्न के 'होरेशस' के अनुवाद की परम्परा में सर्वाधिक चर्चित 'बुद्धचरति' है। ब्रजभाषा में काव्यरचना के पीछे शुक्लजी ने दो कारण बताये हैं—ब्रज में राम तथा कृष्ण पर पर्याप्त काव्य लिखे गये हैं, अतएव बुद्ध का चरित भी ब्रजभाषा में उपलब्ध होना चाहिए और दूसरे ब्रजभाषा को आधुनिक विचारों को प्रकट करने में सक्षम होना चाहिए। इस दृष्टि से 'बुद्धचरित' के माध्यम से ब्रजभाषा को नवीन काव्य-सम्पत्ति प्रदान हुई और भाषा में निखार आया। प्रकृति-प्रेम सर्वत्र भरा पड़ा हैं :

छिटकी विमल विश्राम बन पै जामिनी मृदुता भरी।
बासित सुगंध प्रसून परिमल सों नछत्रन सों जरी।
ऊँचे उठे हिमवान की हिमरासि सो मनभावनी।
संचरित सैल सुवायु सीतल मंद मंद सुहावनी।

'बुद्धचरित' लाइट ऑफ एशिया पर आधारित है, अनुवाद नहीं भावानुवाद है। इसमें शुक्ल की भावुकता, कल्पनाजन्य अनुभूति का अद्भुत सम्मिश्रण है, अतएव मौलिक काव्यकृति-सा प्रतीत होता है। डॉ० राजेन्द्रकुमार के अनुसार "बुद्धचरित नामक भावानुवाद है जिसका महत्त्व अनुवाद की दृष्टि से ही नहीं, एक सफल मुक्तकप्रधान ब्रजभाषा काव्य के रूप में भी है। 'बुद्धचरित' अपनी भावप्रवणता, प्रकृति एवं मनोभावों के चित्रण की कला एवं सानुप्रासिक पदावलीयुक्त ब्रजभाषा के कारण मौलिक रचना के समान सरस बन गया है।" (द्विवेदीयुगीन प्राचीन काव्यधारा)

मूल तथा अनूदित दोनों कृतियों में आठ सर्ग हैं। शुक्लजी ने यथास्थान परिवर्तन के साथ कल्पना से परिवर्द्धन भी किया है। पुस्तक के प्रारंभ में 'भाषा'परक अध्ययन ४५ पृष्ठों में प्रस्तुत किया गया है जिसमें ब्रज, अवधी और खड़ीबोली के स्वरूप का विस्तार से विवेचन है। बौद्धशास्त्र-सम्बन्धी शब्दों की आवश्यकतानुसार संक्षिप्त तथा विस्तृत टिप्पणियाँ दी गई हैं। यह ग्रन्थ 'सूर्यकुमारी पुस्तकमाला' में प्रकाशित हुआ। शुक्लजी ने स्वयं स्वीकार किया है कि 'एक स्वतन्त्र हिन्दी काव्य के रूप में इसका ग्रहण हो।' [(बुद्धचरित, वक्तव्य, पृ० १) प्रकाशन वर्ष सन् १९२२]। इस ग्रन्थ का संपादन पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ने किया और 'निवेदन' शीर्षक से टिप्पणी भी लिखी। जब इस पर पारिश्रमिक देने का मामला आया तो अनुवाद की कोटि में रख दिया गया होगा। इस सम्बन्ध में १३ मई, १९२२ को गुलेरी जी ने बाबू श्यामसुन्दरदास

जी को जो पत्र लिखा, उससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि उनकी दृष्टि में यह मात्र अनुवाद नहीं था :

"शुक्लजी के 'बुद्धचरित' के पुरस्कार के विषय में आपने मेरा मत पूछा था। मैंने इस विषय पर विचार किया, किन्तु निश्चय स्थिर करने में कुछ कठिनता पाई क्योंकि कविता है, कोरा अनुवाद नहीं है और लगभग मौलिक ग्रन्थ है। मूल के पृ० २३८ का हिन्दी अनुवाद २३० पृष्ठों में हुआ है। भूमिका के लगभग ५० पेज हैं—मोटे भाव से २८० हुए। 'हुएनसांग' के अनुवाद का आपने १५) फार्म तथा 'सुलेमान' का १) प्रति पृष्ठ दिया है। कविता के मानसिक श्रम को अनुवाद स्थिर नहीं किया जा सकता। साधारण प्रकाशक के लिए अनुवाद और मौलिक ग्रन्थ एक ही है। किन्तु सभा के विवेकशाली लोगों को सब धान बाईस पंसेरी नहीं तौलना चाहिए। मेरी सम्मति में ५००) कुल पुरस्कार देना ठीक होगा। भूमिका भी मौलिक है, उसे पृथक् करने की आवश्यकता नहीं, यह सब २) पेज से कम पड़ा।" (श्री मुरारीलाल केड़िया के सौजन्य से डॉ० मनोहरलाल को प्राप्त व हिन्दुस्तान में प्रकाशित)

मूल ग्रन्थ के कुछ अंशों से मिलान कर स्पष्ट हो जाता है कि किस प्रकार मात्र आधार लेकर उन्हें भाव-पल्लवन किया :

लाइट आफ एशिया

सॉफ्टी दि इण्डियन नाइट सिंक्स ऑन दि प्लेन्स
ऐट फुल मून, इन दि मन्थ ऑफ चैत्र शुद,
ह्वेन मैंगोज रेड्डेन ऐण्ड दि अशोका बड्स
स्वीटेन दि ब्रीज, ऐण्ड रामाज़ बर्थ डे कम्स
ऐण्ड ऑल दि फील्ड्स आर ग्लेड ऐण्ड ऑल दि टाउन्स।

इस प्रकृति-चित्रण को शुक्लजी, 'बुद्धिचरित' में देखिए :

निखरी रैन चैत पूनो की अति निर्मल उजियारी।
चारुहासिनी खिली चाँदनी पटपर पै अति प्यारी॥
अमराइन में धँसि अमियन को दरसावति बिलगाई।
सींकन में गुहि झूलि रही जो मन्द झकोरन पाई॥
चुवत मधूक परसि भू जौं लौं 'टप टप' शब्द सुनावैं।
ताके प्रथम पलक भारत भर में निज झलक दिखावैं॥
महकति कबहुँ अशोक मंजरी, कतहुँ-कतहुँ पुर माहीं।
रामजन्म-उत्सव के अब लौं साँज हरे हैं नाहीं॥

(बुद्धचरित, पृ० ७५)

एक और उदाहरण द्रष्टव्य है :

आइज़ लाइटेड विद लव फ्लेम्स एल्यूरिंग स्माइल्स
इन ह्वाष्टान डान्स विद देयर सफल साइड ऐण्ड लिम्ब्स

यही 'बुद्धचरित' में :

मद की दुति नैनन में दरसै, अधरान पै मन्द तरी मुसकान
फिर नाचत मैं सुठि अंग सुढार छपैं उघरैं ललचावत प्रान।

अंग्रेजी मुहावरों तथा अलंकारों का भी बड़ी खूबसूरती से निर्वाह किया गया है—'लाइक वर्स्ट बड्स' को ब्रज में उसकी प्रकृति के अनुरूप 'खिलिकैं कछु मानहुँ कम्प कली' लिखा गया है।

'बुद्धचरित' करुण रसप्रधान महाकाव्य है। विविध छन्दों में लिखकर ब्रजभाषा की काव्य-परम्परा को अक्षुण्ण रखा गया है। 'गौतम-गेह' के कुछ अंश यहाँ काव्य-सरसता के उदाहरण-स्वरूप प्रस्तुत हैं :

सोवती सँभार बिनु सोभा सरसाय, गात,
आधे खुले गोरे सुकुमार मृदु ओप धर।
चीकने चिकुर कहूँ बँधे हैं कुसुम दाम,
कारे लटकारे कहूँ लहरत लंक पर॥
सोवैं थकि हास औ विलास सों पसारि पाँय,
जैसे कलकंठ रस-गीत गाय दिन भर।
पंख बीच नाए सिर आपनो लखाति तौं लौं,
जौं लौं न प्रभात आय खोलन कहत स्वर॥

× × ×

ह्वैं कै परी लाँबी कोऊ बीना लै कपोल तर,
आँगुरी उरुझि रहीं तब ताईं तार पर।
वाही रूप जैसे जब कढ़ति सो तान रही,
झूमि रस जाके झपे लोचन विशाल वर॥
लैके परी कोऊ मृग शावक हिये तें लाय,
सोय गयो टूँगत कुसुम पाय जासु कर।
कुतरो कुसुम लसै कामिनी के कर बीच,
पाती लपटानी हरी हरित अधर तर॥

शुक्लजी का कविरूप भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितना आलोचक रूप। लखनऊ विश्वविद्यालय की एक सभा में मृत्यु से पूर्व उन्हें अश्रुपूर्ण नेत्रों से स्वीकार करना पड़ा कि विश्वविद्यालय की उच्च कक्षाओं में हिन्दी को स्थान दिलाने के लिए उच्चस्तरीय समीक्षा-पुस्तकों तथा निबन्धों की रचना करनी पड़ी। परिस्थितवश उनका कविरूप उपेक्षित हो गया।

ब्रजभाषा कैसे सम्पन्न हो, इस ओर उनका ध्यान निरन्तर बना रहा। 'बुद्धचरित' की भूमिका में तथा यत्र-तत्र 'हिन्दी साहित्य के इतिहास' में वह इस पर लिखते रहे।

'ब्रजभाषा' के सम्बन्ध में शुक्लजी ने लिखा :

"जो भाषा साहित्य की भाषा बनकर बोलचाल की भाषा से कुछ अलग-अलग बड़ी ठसक से चल रही थी, वह ब्रजमण्डल की चलती हुई भाषा के प्रवाह में डुबाई गई, जिससे उसमें नया जीवन आ गया, वह निखरकर जीती-जागती भाषा के मेल में हो गई। × × × राजा साहब ने (राजा लक्ष्मणसिंह) बहुत पुराने पड़े हुए, व्यवहार से उठे हुए और आजकल के कामों को भद्दे लगनेवाले सड़े-गले शब्दों को छाँटकर ब्रज की बोलचाल का निखरा हुआ माधुर्य दिखाया। उन्होंने ब्रजभाषा की कविता को फिर जीता-जागता रूप दिया × × ऐसी भाषा (श्रीधर पाठक के 'ऋतुसंहार' के अनुवाद की ओर संकेत करते हुए) को देखते ब्रजभाषा की जो 'ऐतिहासिक'

या 'मरी हुई' कहें, उसे अपना अनाड़ीपन दूर करने के लिए दिल्ली भाड़ झोंकने न जाना होगा, मथुरा की एक परिक्रमा से ही काम चल जायगा।"

चिन्तामणि, भाग ३, पृ० २०७ तथा २२५

शुक्लजी ने 'बुद्धचरित' की रचना कर ब्रजभाषा को और अधिक पुष्ट तथा सम्पन्न बनाया।

●

रिसर्च एसोशियेट (यू० जी० सी०)
हिन्दी विभाग,
नई लाइन, मु० विश्वविद्यालय,
नन्दन, भारती नगर, मैरिसरोड,
अलीगढ़-२०२००१

# आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और मीरजापुर

**श्री व्योमकेश**

मिर्जापुर जनपद के प्रति आचार्य शुक्ल का अत्यधिक लगाव था। शुक्लजी दो दशक से अधिक मिर्जापुर नगर में रहे, बाल्यावस्था से युवावस्था का उनका समय विंध्य पर्वत की गोदी में बीता। मिर्जापुर में शुक्लजी का निवास काल उनकी साधना का काल था। मिर्जापुर में वे निरन्तर बीस वर्ष तक साहित्य-साधना में लीन रहे और अपनी साधना के बल पर ही शुक्लजी काशी जाकर राष्ट्रभाषा हिन्दी की सेवा में अपने को समर्पित कर दिया और एक सच्चे साधक के रूप में हिन्दी साहित्य-जगत् में पूज्य हुए। शुक्लजी की प्रतिभा के विकास में मिर्जापुर जनपद के योगदान को भूला नहीं जा सकता। उनकी लेखनी में मिर्जापुरी अक्खड़पन देखा जा सकता है। अपने लेखों में, भाषणों में, कविता में, शुक्लजी ने मिर्जापुर के प्रति अपना अनुराग व्यक्त किया है।

"यद्यपि मैं काशी में रहता हूँ और लोग मुझे बनारसी समझते हैं, तथापि मेरा मन मिर्जापुर में ही रहता है। वह सदैव यहीं के पहाड़ों पर घूमा करता है। स्वप्न में भी मुझे यहीं के दृश्य दिखाई पड़ते हैं। यहाँ के एक-एक कण से मुझे प्रेम है।......दुनिया मुक्ति के लिए काशी में मरना चाहती है, लेकिन विश्वास कीजिए, मैं सत्य कहता हूँ कि मेरी कामना है कि प्राण निकलते समय मेरी आँखों के सामने यहीं का दिव्य भूखण्ड उपस्थित रहे। यहाँ का पार्वत्य दृश्य देखते-देखते ही मेरा शरीर टूटे, यही मेरी आन्तरिक अभिलाषा और लालसा है। मुझे इससे इतना प्रगाढ़ स्नेह है कि देश और काल का व्यवधान मुझे इससे दूर नहीं कर सकता।"

आचार्य रामचन्द्र शुक्लजी ने ये उद्गार अपनी मृत्यु के कुछ वर्ष पूर्व, सन् १६३८ ई० में नारघाट-स्थित 'साहित्य-सदन पुस्तकालय' में अपने स्वागत के उत्तर में व्यक्त किये थे। मिर्जापुर-जनपद से शुक्लजी का यह प्रगाढ़ प्रेम अनायास न था और न ही गृह-जनपद एवं पारिवारिक दृष्टि से था। इसके पीछे उनके साहित्यिक विकास में इस जनपद एवं इस जनपद के साहित्यकारों के अग्रज प्रेमघन जी का साहित्याशीर्वाद था।

किसी भी व्यक्ति के व्यक्तित्व के निर्माण में उस क्षेत्र के वातावरण का अपना अलग अस्तित्व होता है। वातावरण में पनप रही मानसिकता उस वातावरण की प्रत्येक इकाई को प्रभावित ही नहीं करती, अपितु उसके भविष्य निर्माण की आधारशिला का भी काम करती है। आचार्य शुक्ल के साथ कुछ ऐसा ही था। आठ-नौ वर्ष की अवस्था में जब वह मिर्जापुर आये थे, तब उनकी बाल्य मानसिकता में राजा हरिश्चन्द्र और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र में कोई अन्तर स्पष्ट नहीं हो रहा था। इस कारण, वहाँ जाने पर उनकी मानसिकता में विकास हुआ। इसकी तरफ संकेत करते हुए वह स्वयं लिखते हैं: "बहुत दिनों तक 'सत्य-हरिश्चन्द्र नाटक' के नायक हरिश्चन्द्र और कवि हरिश्चन्द्र में मेरी बालबुद्धि कोई भेद न कर पाती थी। हरिचन्द्र शब्द

से दोनों की एक मिली-जुली अस्पष्ट भावना एक अद्भुत माधुर्य का संचार करती है। मिर्जापुर आने पर धीरे-धीरे यह स्पष्ट हुआ कि कवि हरिश्चन्द्र तो काशी के रहने वाले थे और कुछ वर्ष पूर्व विद्यमान थे।" ('प्रेमघन सर्वस्व', भाग १, पृ० ५)

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के चिन्तन और निष्कर्ष की भावना का उदय यहीं से आरम्भ होता है। शुक्लजी की जनस्थली 'अगौना' बस्ती अवश्य रही है, परन्तु उनके विकास का प्रथम चरण मिर्जापुर से प्रारम्भ होता है। उनके जीवन की अवधि (सन् १८८४ ई० से १९४१ ई० तक) का अधिकतर भाग मीरज़ापुर में ही व्यतीत हुआ था। सन् १८९३ से १९०६-१९०७ ई०, अर्थात् नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी आने तक की अवधि में उनका साहित्यिक प्रादुर्भाव काल कहा जा सकता है। इसी अवधि को शुक्लजी के भतीजे स्व० चन्द्रशेखर शुक्ल ने अपनी पुस्तक (रामचन्द्र शुक्ल : जीवन और कृतित्व) में स्वीकारते हुए लिखा है : "इस तरह से विचार करने पर शुक्लजी के साहित्यिक जीवन को तीन स्पष्ट कालों में बांटा जा सकता है : सन् १८८४ से १९०७ ई० तक २३ वर्षों का निर्माण-काल या मीरजापुर-खण्ड; सन् १९०८ से १९२९ ई० तक २२ वर्षों का संघर्ष-काल या काशीखण्ड (पूर्वार्द्ध) और सन् १९३० से १९४१ ई० तक ११ वर्षों का शान्ति-काल या काशीखण्ड (उत्तरार्द्ध) माना जा सकता है। शुक्लजी की कृतियाँ उनके इस क्रमिक विकास को अच्छी तरह व्यक्त करती हैं।" (पृष्ठ १७७)

उपर्युक्त काल-विभाजन को स्वीकार कर लेने पर शुक्लजी की साहित्यिक यात्रा का क्रमिक विकास स्पष्ट होता है; यद्यपि अन्य कालखण्डों का समय पूर्णतः काशी में व्यतीत नहीं हुआ। समय-समय उनका आगमन मीरजापुर में होता रहा और इसी अवधि में उनकी काव्य-प्रतिभा मुखरित होती रही। क्योंकि, यहाँ की उपत्यकाओं तथा झरनों ने उन्हें अपनी तरफ काशी से कहीं अधिक आकृष्ट किया था। नौ वर्ष की अवस्था में मीरजापुर आने के बाद शुक्लजी की एक मण्डली बन गई थी जो रमईपट्टी के आसपास के क्षेत्रों की थी। धीरे-धीरे शुक्लजी की प्रतिभा का विकास होता रहा और उनका जागरूक मन साहित्य के प्रति अधिक आकर्षित हुआ। नौ वर्ष की अवस्था में हरिश्चन्द्र नाम को लेकर जो भ्रम बना था, वह अब समाप्त हो चला था और एक नई उत्कण्ठा ने जन्म लिया। वह उत्कण्ठा थी भारतेन्दु के मित्र चौधरी बदरीनारायण उपाध्याय 'प्रेमघन' के प्रति। इस उत्कण्ठा के सम्बन्ध में स्वयं शुक्लजी का ही संस्मरण पर्याप्त होगा : "कुछ दिनों में किसी से सुना कि हरिश्चन्द्र के मित्र यहीं रहते हैं और हिन्दी के प्रसिद्ध कवि हैं। उनका शुभ नाम है बदरीनारायण चौधरी। भारतेन्दु-मण्डल के किसी जीते-जागते अवशेष के प्रति मेरी कितनी उत्कण्ठा थी, इसका मुझे अब भी स्मरण है। मैं नगर के बाहर रहता था। अवस्था थी १२ या १३ वर्ष की। एक दिन बालकों की एक मण्डली जोड़ी गई। उनमें जो चौधरी साहब के मकान से परिचित थे, वह अगुआ हुए।" ('प्रे० स०' भाग १, पृ० ५)

यह रहा शुक्लजी की उत्कण्ठा का प्रथम समाधान। इसी समाधान से उनका परिचय भारतेन्दु-मण्डल के रचनाकार से अप्रत्यक्ष ढंग से हुआ। उम्र के साथ-साथ मानसिकता भी विकसित होती रही। और, इस विकसनशील प्रकृति ने उन्हें नवीन और प्राचीन साहित्य के अन्तर को समझने में सहायता प्रदान की। नये और पुराने के प्रति इस झुकाव की ओर प्रेरित करने में सहायक हुए उनकी मित्र-मण्डली के सदस्य। मण्डली के सदस्यों में सर्वश्री डॉ० काशी-प्रसाद जायसवाल, बाबू भगवानदास हालना, भगवानदास, पं० बदरीनाथ गौड़, पं० लक्ष्मीशंकर द्विवेदी और उमाशंकर द्विवेदी के नाम उल्लेखनीय हैं। सभी सदस्य हिन्दी-साहित्य की किसी-न-

किसी विधा एवं क्षेत्र में, कालान्तर में पर्याप्त ख्याति अर्जित किये। इन्हीं मित्रों के बीच विचारों का आदान-प्रदान तथा नये-पुराने कवियों और लेखकों की चर्चा हुआ करती थी।

सन् १८९९ ई० में उन्होंने एडिसन के प्रसिद्ध लेख 'एसे ऑन इमैजिनेशन' का हिन्दी-रूपान्तर 'कल्पना का आनन्द' नाम से किया। इसके पूर्व उन्होंने 'हास्य-विनोद' नाम के एक प्रहसन (सन् १८९६ ई०) तथा 'पृथ्वीराज' नामक नाटक (सन् १८९८ ई०) में लिखा था, परन्तु, ये दोनों ही रचनाएँ हास्य-विनोद ही बनकर रह गईं। सन् १८९० ई० के पूर्व ही आचार्य शुक्ल का परिचय, मीरजापुर-निवासी पं० केदारनाथ पाठक से हो चुका था। पं० केदारनाथ पाठक ने घण्टाघर में 'मेयो लाइब्रेरी' नामक एक पुस्तकालय खोल रखा था। शुक्लजी का अधिकांश समय इसी पुस्तकालय की पुस्तकों के मध्य व्यतीत होता था। यह वही पाठकजी थे जिन्होंने शुक्लजी को नागरी-प्रचारिणी सभा में प्रवेश दिलाया था और आचार्यजी ही उनकी प्रतिभा के आधार पर 'हिन्दी-शब्दसागर' के सहायक सम्पादक के रूप में उन्हें नियुक्त कराया। इन्हीं पाठकजी की लाइब्रेरी में आचार्य शुक्लजी ने हिन्दी-साहित्य ही नहीं, बल्कि अंगरेजी-साहित्य का भी गहन अध्ययन किया। यही अध्ययन उनके लिए तत्कालीन अंगरेजी-प्रधान वातावरण में सहायक हुआ। अपनी २३ वर्षों की उम्र तक मीरजापुर से ग्रहण किया गया विद्याध्ययन जीवन-पर्यन्त उन्हें सहायता प्रदान करता रहा। यदि यह कहा जाय, तो अत्युक्ति न होगी कि यह लाइब्रेरी एवं इसके संस्थापक पं० केदारनाथ पाठक ने आचार्य शुक्ल का निर्माण किया। जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि मीरजापुर-जनपद में प्राप्त साहित्यिक मण्डली में आचार्य शुक्ल को अपने विचारों की अभिव्यक्ति का अवसर समय-समय मिलता रहा। इसके परिणामस्वरूप उनमें यह दृढ़ अनुभूति उत्पन्न हो गई थी कि 'मैं भी साहित्यकार हूँ।' स्वयं के सम्बन्ध में वास्तविकता की अनुभूति व्यक्ति की विकसनशील प्रवृत्ति को प्रोत्साहित करती है। इस सम्बन्ध में आचार्य शुक्ल ने लिखा है : "मैं भी अब अपने को एक कवि और लेखक समझने लगा था। हम लोगों की बातचीत प्रायः लिखने-पढ़ने की हुआ करती थी। चौधरी साहब से तो अच्छी तरह परिचय हो गया था। अब उनके यहाँ मेरा आना-जाना एक लेखक की हैसियत से होता था। हम लोग उन्हें एक पुरानी चीज समझा करते थे। इस पुरातत्त्व की दृष्टि में प्रेम एवं कुतूहल का एक अद्भुत मिश्रण था।" (प्रेमघन सर्वस्व, पृ० ७)

यहाँ यह भी बता देना आवश्यक होगा कि उस समय तक शुक्लजी की अवस्था १६-१७ वर्ष की हो चुकी थी और वह कई लेखों का सर्जन भी कर चुके थे। कविता और लेख भी प्रकाशित हो चुके थे। 'सरस्वती' तथा 'आनन्दकादम्बिनी' पत्रिकाओं में उनके लेख और कविताएँ प्रकाशित होने लगी थीं। शुक्लजी को साहित्य-प्रेरणा दिन-प्रतिदिन प्रेमघनजी से मिलती रही। प्रेमघनजी के यहाँ उपस्थित रहने वाली साहित्यिक मण्डली के लोगों में वामनाचार्य गिरि, केदारनाथ सेठ, प्रमथलाल भट्टाचार्य और भागदास रामानन्दी सदृश साहित्यकारों का जमघट लगा रहता था। इन्हीं साहित्यकारों के मध्य आचार्य शुक्ल की मण्डली रहा करती थी जो वहाँ की साहित्यिक गतिविधियों में भाग लिया करती थी। परन्तु, इस मण्डली के लोगों में आचार्य शुक्ल ही प्रेमघन के अधिक कृपापात्र रहे, क्योंकि इन्होंने शुक्लजी की प्रतिभा का सूक्ष्म अवलोकन किया था। शुक्लजी की प्रतिभा ने इन्हें इस तरह आकृष्ट कर रखा था कि नये साहित्यकारों में केवल शुक्लजी ही 'आनन्दकादम्बिनी' के नियमित लेखकों में थे। प्रेमघन और शुक्लजी का सम्बन्ध साहित्यिक पिता-पुत्र का रहा। शुक्लजी की साहित्यिक यात्रा का प्रथम पड़ाव चौधरी जी का

मकान था और इसी मकान में उन्होंने साहित्य के स्वरूप का साक्षात् परिचय प्राप्त किया था। प्रेमघन, शुक्लजी के प्रेरणा-स्रोत तो रहे ही, साथ ही उनके व्यक्तित्व के निर्माता भी रहे। शुक्लजी के प्रत्येक साहित्यिक कदम को प्रेमघनजी से प्रोत्साहन मिलता रहा। प्रेमघन एवं शुक्लजी के सम्बन्धों के विषय में स्व० चन्द्रशेखर शुक्ल का यह कथन कितना सटीक बैठता है कि प्रेमघन और शुक्लजी अंगरेजी-साहित्य के डॉ० जॉनसन और वर्ड्सवर्थ थे। अंगरेजी-साहित्य में जो काम डॉ० जॉनसन ने वर्ड्सवर्थ को प्रोत्साहित करके किया, वही काम हिन्दी के लिए चौधरी बदरीनारायण 'प्रेमघनजी' ने शुक्लजी को प्रोत्साहित करके किया। सच्ची बात तो यह है कि शुक्लजी हिन्दी को चौधरी साहब की सबसे बड़ी देन हैं। (रामचन्द्र शुक्ल : चन्द्रशेखर शुक्ल, पृ० ४८)

शुक्लजी और प्रेमघनजी के सम्बन्ध में इससे अधिक और क्या कहा जा सकता है। पारिवारिक सम्बन्धों में तनाव की स्थिति में शुक्लजी 'अगौना' चले गये थे, परन्तु वहाँ भी विपत्तियों और समस्याओं ने उनके सहचर बने रहने की जैसे प्रतिज्ञा कर रखी थी। इस अवस्था में पुनः मीरजापुर आने पर वैतनिक प्रूफ-संशोधन के रूप में 'आनन्दकादम्बिनी' प्रेस में नियुक्त कर प्रेमघनजी ने उन्हें आर्थिक दृष्टि से भी सहायता की थी। सन् १९०३ ई० तक आचार्य शुक्ल 'आनन्दकादम्बिनी' से जुड़े रहे। उनके लेखों और कविताओं को देखकर ही प्रयाग से आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने प्रेमघनजी को पत्र लिखकर यह निवेदन किया कि इन्हें (शुक्लजी को) सरस्वती में लेख वगैरह लिखने को कहें। शुक्लजी की 'मनोहर छटा' शीर्षक कविता 'सरस्वती' (सन् १९०१ ई०) में प्रकाशित हुई और सन् १९०३ ई० में उनकी एकमात्र कहानी 'ग्यारह वर्ष का समय' 'सरस्वती' में ही प्रकाशित हुई। इस प्रकार, शुक्लजी और 'सरस्वती' का सम्बन्ध स्थापित हुआ। इस संस्थान में भी प्रेमघनजी का योगदान बना रहा। इसी वर्ष 'ह्वाट इज इण्डिया टुडे' नामक उनका लेख 'हिन्दुस्तान रिव्यू' में प्रकाशित हुआ। इस लेख में भारत की तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक समस्याओं पर गम्भीर विचार करके भारतवासियों के कर्तव्य का अच्छा निर्धारण किया गया है। सन् १९०४ ई० की जुलाई में बीस रुपये के मासिक वेतन पर तत्कालीन लन्दन मिशन स्कूल (आज का बाबूलाल जायसवाल इण्टर कालेज) में ड्राइंग-अध्यापक के पद पर नियुक्ति हुई। इस पद पर वह सन् १९०८ ई० तक कार्यरत रहे। इस अवधि में उनका सम्बन्ध 'आनन्दकादम्बिनी' तथा 'सरस्वती' से बना रहा। शुक्लजी की कविताएँ 'मनोहर छटा', 'शिशिर पथिक' ('सरस्वती', सन् १९०५ ई०), 'भारत और वसन्त' (आनन्दकादम्बिनी', सन् १९०६ ई०), 'देशद्रोही की पुकार', ('आ० का०', सन् १९०७ ई०), 'फूट' ('आ० का०', सन् १९०७ ई०) आदि प्रकाशित हुईं। सन् १९०७ ई० की 'आनन्दकादम्बिनी' में ही उनका प्रसिद्ध लेख 'अपनी भाषा पर विचार' प्रकाशित हुआ।

इस प्रकार, शुक्लजी का सन् १९०१ ई० से ही 'सरस्वती' से सम्पर्क हो गया था और 'आनन्दकादम्बिनी' से भी इसी के आसपास सम्बन्ध स्थापित हुआ था। बनारस पहुँचने के पूर्व तक मीरजापुर-जनपद आचार्य शुक्लजी की साहित्यिक भूमि रहा है। और, यहीं पर उनके साहित्यिक भवन का शिलान्यास भी हुआ था। काशी पहुँचने पर एक ऐसे दृढ़ स्तम्भकार भवन का निर्माण हुआ, जो आज भी उसी प्रकार अटल है, जिस प्रकार वह सन् १९०८ से १९४१ ई० तक रहा। शुक्लजी को लन्दन मिशन स्कूल से काशी नागरी-प्रचारिणी सभा तक पहुँचाने में पं० केदारनाथ पाठक का अमूल्य योगदान रहा है। शुक्लजी और पाठक जी का परिचय भी यहीं प्रेमघन जी के यहाँ हुआ था। यह परिचय बढ़ते-बढ़ते मित्रता में बदल गया। पाठकजी शुक्लजी से १२ वर्ष बड़े थे, इस कारण शुक्लजी उनका बड़ा सम्मान करते थे। अपनी लाइब्रेरी

(मेयो लाइब्रेरी) में शुक्लजी को नियमित पाठक के रूप में देखकर पाठकजी शुक्लजी को आगे बढ़ाने के लिए सदैव प्रयत्नशील रहे। पाठकजी अपनी अन्वेषक प्रतिभा के कारण काफी प्रसिद्ध थे। नागरी-प्रचारिणी सभा से उनका घनिष्ठ सम्बन्ध था। जब सन् १९०७ ई० में हिन्दी का वृहत् कोश तैयार करने हेतु नागरी-प्रचारिणी सभा ने विचार किया, तब पाठकजी शुक्लजी को भी उस कोश-समिति में प्रवेश दिलाने हेतु प्रयत्नशील हो गये। उन्हीं के प्रयासों का ही परिणाम था कि नवम्बर, १९०७ ई० में पं० बालकृष्ण भट्ट, लाला भगवानदीन, बाबू अमीर सिंह और जगमोहन वर्मा के साथ रामचन्द्र शुक्लजी भी सहायक सम्पादक नियुक्त हुए। श्यामसुन्दरदास प्रधान सम्पादक पहले ही नियुक्त किये जा चुके थे। सहायक सम्पादक नियुक्त होने के पूर्व ही आचार्य शुक्ल और श्यामसुन्दरदास की मुलाकात पं० केदारनाथ पाठक के माध्यम से हो चुकी थी। इस मिलन-सन्दर्भ को बाबू श्यामसुन्दरदास ने अपनी 'मेरी आत्मकहानी' नामक जीवनी में लिखा है : 'एक दिन पं० केदारनाथ पाठक पं० रामचन्द्र शुक्ल को मेरे पास मिलाने लाये और कहा कि शुक्लजी से कुछ काम लीजिए। उस समय शुक्लजी मीरजापुर के लन्दन मिशन स्कूल में ड्राइंग मास्टर थे।'

इस प्रकार, लन्दन मिशन स्कूल के 'ड्राइंग मास्टर' के पद से नागरी-प्रचारिणी सभा में 'हिन्दी-शब्दकोश' के सहायक सम्पादक तक के पद पर नियुक्ति में केदारनाथ पाठक का अमूल्य योगदान रहा है। आचार्य शुक्ल उनके इस ऋण से कभी उऋण न हो सके। इस प्रकार, शुक्लजी के निर्माण में मीरजापुर-जनपद की भूमि ने महार्घ भूमिका निबाही थी।

●

३२२, फुलवरिया रोड,
दारागंज, प्रयाग

# विवादों की चहारदीवारी और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

●

श्री अशोककुमार मिश्र

आधुनिक हिन्दी-साहित्य अपने प्रारम्भिक दिनों से ही विवादों के घेरे में पलता हुआ विकसित होता रहा है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समय में प्रारम्भ हुए ब्रजभाषा बनाम खड़ीबोली को लेकर उठा विवाद महावीरप्रसाद द्विवेदी के इतिवृत्तात्मक-खड़ीबोली के व्यापक जनसमर्थन के कारण मन्द ही हुआ था कि हिन्दी साहित्य पुनः एक बार विवादों की सुरखियों का कारण बना। इस बार का विवाद 'अनिस्थिरता' जैसे शब्द को लेकर नहीं खड़ा हुआ, बल्कि रहस्यवाद व छायावाद को लेकर खड़ा किया गया था। यह विवाद सम्भवतः हिन्दी-साहित्य का सबसे जटिल एवं विद्वेषपूर्ण था। इसने हिन्दी-साहित्य के मूर्धन्य कवियों, लेखकों, समीक्षकों एवं पत्र-पत्रिकाओं तक को अपने में समेट रखा था। सन् १९१६-१७ से प्रारम्भ हुआ यह विवाद छायावाद के समापन वर्षों (१९३९-४० ई०) तक छिटपुट रूप में चलता रहा है। इस आन्दोलन ने सबसे अधिक विवादास्पद बनाया आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और निराला को, यद्यपि कि दोनों के सम्बन्धों का माधुर्य ज्यों का त्यों बना रहा, और दोनों ही एक-दूसरे के व्यक्तित्व की महानता को स्वीकार भी करते रहे हैं।

लेकिन आचार्य शुक्ल के ऊपर विवादों का यह कोई प्रथम आक्षेप नहीं था। इसके पूर्व भी इस प्रकार के विवादों की नींव पड़ चुकी थी। यह विवाद भी प्रारम्भ हुआ था—आचार्य शुक्ल और उनके ही घनिष्ठ मित्र बाबू काशीप्रसाद जायसवाल के बीच। सन् १९०५-०६ के आस-पास काशीप्रसाद जायसवाल ने अंग्रेजी के लेखों का अनुवाद करके उसे 'देवीप्रसाद' के छद्म नाम से प्रकाशित कराया करते थे। इन लेखों के कारण उस समय हिन्दी-साहित्य में बड़ा ही बवेला मचा हुआ था। आचार्य शुक्ल को जायसवाल जी के इस कर्म की जानकारी थी। संयोगात् कभी बातचीत के मध्य बाबू श्यामसुन्दर दास से शुक्ल जी ने इसकी चर्चा कर दी। श्यामसुन्दर दास जी ने इसको महावीर प्रसाद द्विवेदी तक प्रेषित कर दिया। जायसवाल जी नहीं चाहते थे कि द्विवेदी जी को उनके इस कृत्य की जानकारी हो। लेकिन द्विवेदी जी इस बात को पचा नहीं सके। बस यहीं से जायसवाल जी के मन में शुक्ल जी के प्रति कटुता का प्रादुर्भाव हुआ, जो उनके लन्दन से वापसी के बाद भीषण प्रतिशोध के रूप में परिवर्तित हो गया। जायसावाल जी ने काशी में आचार्य शुक्ल के ऊपर लाठियों के बरसने तक की व्यवस्था कर दी थी और उसमें वे सफल भी हो गये होते, यदि पं० उमाशंकर द्विवेदी (वासलीगंज, मीरजापुर निवासी) उस डण्ड-प्रहार को अपने मजबूत हाथों पर रोक न लिए होते।

आचार्य शुक्ल और जायसवाल जी के बीच उस समय चल रहे साहित्यिक विवादों की एक झलक 'सरस्वती' जैसी पत्रिका में देखने को मिल जाती है। विवाद एवं उसके परिणाम पर टिप्पणी देते हुए 'सरस्वती' के सम्पादक आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने लिखा था—

"चार-पाँच महीने से पण्डित रामचन्द्र शुक्ल के हिन्दी-साहित्य-विषयक लेखों की चर्चा हो रही है। इस विषय के वाद-प्रतिवाद रूप कई लेख 'इण्डियन पीपुल' और 'एडवोकेट' में

निकले। शुक्ल जी के पहले अँग्रेजी लेख का वह अंश हमने विशेष आक्षेप-योग्य नहीं समझा था जिसमें उन्होंने दूसरों की किताबों की नकल या उनका अनुवाद करके अपने नाम से प्रकाशित करने वालों की निन्दा की थी। पर 'मोहिनी' में मिर्जापुर के एक मनुष्य का जो लेख पीछे से छपा, उसे पढ़कर हमें बहुत परिताप हुआ। उसमें 'भारतमित्र' और बाबू काशीप्रसाद पर अशिष्ट, अनुचित और कठोर शब्दों में आक्रमण किया गया। साहित्य-समालोचना करने का सबको अधिकार है, उससे फायदा भी है, पर किसी के काम की बेजा आलोचना करना अच्छा नहीं।..........अब हमें एक छोटी-सी पुस्तक मिली है। उसमें 'मनस्ताप' नामक एक लेख है। उस लेख में शुक्लजी ने बाबू काशीप्रसाद जी से अपने इस अनुचित आक्रमण की क्षमा माँग ली है। यह बहुत अच्छा हुआ।"[1]

इस विवाद ने मीरजापुर के इन दोनों प्रतिष्ठित लेखकों के बीच एक ऐसी खाई खोद दी थी जिसने इन दोनों को जीवन-पर्यन्त पुनः एक न होने दिया। पं० केदारनाथ पाठक के पास शुक्लजी के प्रेषित पत्रों से शुक्लजी की उस पीड़ा को समझने का प्रयास किया जा सकता है।[2] बाबू काशीप्रसाद जायसवाल के पास 'लक्ष्मी' और 'सरस्वती' दोनों का अद्भुत सामंजस्य था, परन्तु 'सरस्वती' के वरद पुत्र के समक्ष, जायसवाल जी की एक भी नहीं चली। जायसवाल जी के पास उस समय आचार्य शुक्ल के आक्षेपों का कोई उत्तर न था। परिणाम यह हुआ कि यह विवाद अन्त में पं० केदारनाथ पाठक के प्रयासों से किसी प्रकार समाप्त हुआ था।

इस विवाद के कुछ ही वर्षों बाद प्रारम्भ होता है हिन्दी-साहित्य का बहु-चर्चित विवाद रहस्यवाद/छायावाद बनाम आचार्य शुक्ल। काव्य की भाषा को लेकर उठा विवाद ब्रजभाषा एवं खड़ीबोली तथा 'अनिस्थिरता' के विवादास्पद राह को छोड़कर शैली-छन्द और 'वाद' के प्रयोग का स्थान ले लिया। इस विवाद ने रहस्यवाद को जन्म दिया। शैली और छन्दों के नये प्रयोगों तथा कोमल-कान्त पदावली के नये प्रयोग ने कवियों को रहस्यवाद का जन्मदाता घोषित करने का प्रयत्न साहित्य में प्रारम्भ हुआ। रहस्यवाद जैसी चीज को इन कवियों ने सुप्ति की भावनाओं से मंडित करना चाहा। एक समालोचक के उत्तरदायित्व का निर्वाह करते हुए आचार्य शुक्ल ने इसका विरोध किया। कबीर और जायसी की रहस्यानुभूति की व्यापक धरातल पर व्याख्या करने वाले आचार्य शुक्ल इस नये रहस्यवाद को उससे संयोजित न कर सके। 'ईश के पीर' की रहस्यानुभूति और 'प्रेमी के पीर' की अनुभूति को एक धरातल पर स्थापित करने का उन्होंने विरोध किया। इस विरोध की सूक्ष्मता हेतु नये 'वाद' के प्रमुख कवियों-प्रवक्ताओं श्री मुकुटधर पाण्डेय, भगवतीचरण वर्मा, जयशंकर 'प्रसाद', पंत और निराला की उन रचनाओं का अध्ययन आवश्यक है जो उस समय तक 'रहस्यवाद' की श्रेणी में रखी जाती थीं। रहस्यवादी छायावाद के प्रबल समर्थक व प्रवक्ता श्री मुकुटधर पाण्डेय की प्रारम्भिक रचनाओं को देखने से यह बात स्पष्ट हो जायेगी कि स्वयं पाण्डेय जी कितने वर्षों बाद अपने सिद्धान्तों को चरितार्थ कर सके थे।

उस समय हिन्दी-साहित्य में सही अर्थों में शुक्लजी ही एकमात्र ऐसे व्यक्तित्व थे जो एक प्रतिष्ठित समीक्षक की श्रेणी में गिने जाते थे। यह उनका उत्तरदायित्व था कि वे हिन्दी-साहित्य के पाठकों को उस कवित्व-शक्ति से परिचित कराते जो उस समय तक तुकबन्दी-प्रधान सामान्य बोलचाल की भाषा की कविताओं से परिचित होते चले आ रहे थे। संस्कृतनिष्ठ, समासबहुल शब्दों के बोझ से बोझिल कविताओं से सामान्य जन अपने को अनभिज्ञ पा रहे थे। यही नहीं, इस प्रकार की कविताओं को उसके प्रवक्ता 'रहस्यवाद' नाम देकर पाठकों के

चेतन मन को गुमराह करने पर तुले हुए थे। शुक्लजी इस प्रकार के वादों को एक शरारत एवं अनर्गल प्रचार के अतिरिक्त कुछ और मानने को तैयार न थे। उनका कथन था कि रहस्यवाद कोई ऐसी चीज नहीं जो साहित्य में प्रथम बार प्रयुक्त हो रहा हो। कबीर और जायसी जैसे प्रसिद्ध कवियों की रचनाओं में इसे भली प्रकार देखा जा सकता है। विदेशों से आयातित तथा बंगला के आध्यात्मिक रहस्य के अनुकरण पर आधारित इस नए 'वाद' को एक मृतक-वाद से अधिक कुछ मानने को वे किसी भी प्रकार तैयार न थे। यही कारण है कि उन्होंने इसके प्रवक्ताओं के आक्षेपों का खुलकर विरोध किया और कहा कि—

'काव्य में रहस्य कोई 'वाद' है न ऐसा, जिसे
लेकर निराला कोई पंथ ही खड़ा करे'।[३]

इस प्रकार की पंक्तियों को लेकर लोगों ने इसे निराला और पंत पर आक्षेप समझा, जब कि इसके अभिधेयार्थ पर ध्यान नहीं दिया गया। सम्भवतः इस प्रकार के आक्षेप-विरोध के कारण ही निराला जी भी शुक्लजी पर व्यक्तिगत स्तर से आक्षेप लगाने शुरू कर दिये थे जिसमें उनकी अधोलिखित पंक्तियाँ अपना महत्त्व रखती हैं—

जब से एफ० ए० फेल हुआ,
हमारा कालेज का बचुआ
नाक दाब कर संपुट साधै,
महादेव जी को आराधै
भंग छान कर रोज रात को
खाता मालपुआ।..........
हिन्दी का लिक्खाड़ बड़ा वह
जब देखो तब अड़ा पड़ा वह,
छायावाद रहस्यवाद के,
भावों का बटुआ।[४]..........

इस प्रकार के कटु आक्षेपों की बौछार के कारण शुक्लजी इसके प्रतिवाद-हेतु सन्नद्ध हुए थे, परन्तु इस सन्नद्धता में भी प्रतिबद्धता के नाम पर कोरी भावुकता व हठधार्मिता न थी। इसके प्रमाण में उनके इतिहास को देखा जा सकता है। शुक्लजी अपने इतिहास के प्रथम संस्करण में इस 'वाद' के प्रमुख कवि 'निराला' के प्रति कुछ असहिष्णु दिखाई देते हैं, वहीं दूसरे संस्करण में निराला की अन्य रचनाओं की प्रशंसा ही नहीं, बल्कि उनकी गणना छायावाद के प्रमुख कवि के रूप में की।

छायावाद एवं रहस्यवाद के विरोध का श्रीगणेश हुआ था निरालाजी की प्रसिद्ध रचना 'जूही की कली' की वापसी से। वह वापसी भी 'सरस्वती' जैसी पत्रिका के सम्पादक पं० महावीर प्रसाद जी द्विवेदी के द्वारा हुई थी। 'जूही की कली' की वापसी का प्रमुख कारण था उसकी रोमांटिकता, छन्दहीनता तथा अतुकान्तता। द्विवेदीजी ने अपने इतिवृत्तात्मक सिद्धान्तों को ही काव्य का सर्वमान्य सिद्धान्त मान रखा था जिसका सर्वश्रेष्ठ प्रदर्शन मैथिलीशरण गुप्त की रचनाओं में हुआ था। शब्दाडम्बरों से बोझिल कविताओं की आलोचना जब शुक्लजी ने की, तो दूसरों को बुरा लगा। स्वयं निरालाजी भी उस धारा में प्रवाहित होते देखे गये, परन्तु उनका यह प्रवाह कुछ दिनों तक ही सीमित रहा। इस सच्चाई से कोई भी इन्कार नहीं कर सकता कि 'छायावाद' की प्रारम्भिक रचनाएँ रवीन्द्रनाथ ठाकुर की रचनाओं पर आधारित थीं और आचार्य शुक्ल को इस प्रकार की कोरी अनुकरणीयता असह्य थी। शुक्लजी के इस

स्पष्टात्मक विरोध को दूसरे अर्थों में ग्रहण किया गया। स्वयं शुक्ल भी यदा-कदा कविताएँ करते थे जो सही अर्थों में इतिवृत्तात्मक होते हुए भी जीवन की यथार्थता को चित्रित करती थीं। छायावादी कविताओं में भी इस प्रकार की प्रवृत्तियाँ विकसित हुईं, परन्तु बहुत बाद में चलकर।

रहस्यवाद/छायावाद के प्रमुख प्रवक्ता थे—श्री मुकुटधरजी पाण्डेय और बदरीनाथ भट्ट। इनमें श्री मुकुटधर जी कविता भी किया करते थे और इस क्षेत्र में उनकी गहरी पैठ भी थी। रहस्यवाद/छायावाद विरोधियों का कथन था कि संस्कृत शब्दों की अधिकता के कारण कविताएँ दुरूह हो जाती हैं। इसके प्रत्युत्तर में भी पाण्डेय जी ने लिखा था कि संस्कृत शब्दों के प्रयोग के बिना शुद्ध खड़ीबोली में कविता नहीं की जा सकती। फिर संस्कृत के शब्द भण्डार से अन्य भाषाएँ समृद्ध होती जली जा रही हैं, तो हिन्दी में इनका प्रयोग सर्वथा उचित है।

'सच तो यह है कि शुद्ध हिन्दी-शब्दों से काम नहीं निकल सकता। बिना संस्कृत शब्दों की सहायता के हिन्दी का चलना मुश्किल है, पर उसे जहाँ तक बने, संस्कृत के बड़े-बड़े शब्दों से, जिनका मतलब समझने में जन-साधारण को कठिनता हो, बचना चाहिए। साथ ही वह उर्दू-फारसी और अँगरेजी के प्रचलित शब्दों से काम लें तो अच्छा। ऐसे शब्दों का तत्सम या तद्भव जो रूप सर्वसाधारण में प्रचलित हो—वही रूप रहने देना चाहिए।'[५]

सर्वसाधारण की बोधगम्यता का इतना ध्यान रखने वाले पाण्डेय जी स्वयं उसका कितना निर्वाह कर सके हैं, इसे समझने के लिए उन्हीं की एक कविता की अन्तिम पंक्तियाँ प्रस्तुत करना अधिक उचित होगा—

सुन्दर सुस्निग्ध—रंजित-रसाल
यह गुँथी विकच-कचनार-माल
ले तू मदीय उपहार एष
वर्ष-शेष
हे वर्ष-शेष![६]

पाण्डेय जी की यह रचना सन् १९२२ ई० की है जब छायावाद/रहस्यवाद के नामकरण के विवाद का प्रथम दौर प्रारम्भ हुआ था। सुस्निग्ध, रसाल, मदीय तथा एष जैसे शब्दों का प्रयोग सर्वसाधारण के गले कब उतरा होगा, इसे सहज ही समझा जा सकता है। आचार्य शुक्ल का यही प्रथम और सबल आक्षेप था कि कविता सर्वसाधारण के समझने के योग्य होनी चाहिए। आश्चर्य तो तब होता है जब रहस्यवादी/छायावादी भी इसी की ढपली पीट रहे थे, परन्तु दोनों की कथनी और करनी में कितना अन्तर था। भावों के सम्प्रेक्षण को प्रमुखता प्रदान करने वाले शुक्लजी को अतिशय लाक्षणिकता एवं कल्पना प्रधान शब्दों से परहेज था। तुकान्त कविताओं तथा सरल-सुबोध कविताओं के समर्थकों पर परम्परानुगती, रूढ़िवादी तथा नयी कविताओं से अनभिज्ञ होने का आरोप लगाया गया था। रहस्यवाद तथा छायावाद के विरोधियों के सम्बन्ध में पं० बदरीनाथ भट्ट का कथन है कि—

"यह बात दूसरी है कि खड़ीबोली में कविता करने के इच्छुक कुछ लोग ऐसे हों जिनमें कवित्व-शक्ति तो हो नहीं, पर जो जरा सी बातों पर दस-दस, बीस-बीस पृष्ठों की सख्त भद्दी तुकबन्दियाँ कर देते हों और यदि उनका आदर न हो तो नाराज होकर खड़ीबोली, उसके शब्द, उसके छन्द और उसके कवियों तक को दोष देते हों॥"[७]

परन्तु आगे इसी लेख 'कविता कैसी हो' के सम्बन्ध में भट्ट जी का प्रस्तुत किया गया विचार प्रारम्भिक रहस्यवादी और छायावादी कवियों की रचनाओं पर कितना सार्थक सिद्ध होता है, देखा जा सकता है। कविता के सम्बन्ध में भट्ट जी का कथन द्रष्टव्य है—

"हमारी कविता समय के अनुरूप होनी चाहिए और हमारे छन्द भावों के अनुरूप। उनमें ओज होना चाहिए, स्फूर्ति होनी चाहिए—मुर्दापन नहीं। वे चाहे संस्कृत के हों, चाहे ब्रजभाषा के, चाहे फारसी के—वे जातीय जागृति के द्योतक होने चाहिए। कुछ मुर्दादिलों को अथवा प्राचीन छन्दों के अनन्य भक्तों को उनमें तरह-तरह के दोष दिखाई दे सकते हैं, कहीं शिथिलता और कहीं उच्छृङ्खलता का भान भी उन्हें हो सकता है।"[८]

भट्ट जी जिस ओज, स्फूर्ति और जातीय जागृति के प्रति इतने सजग और चिन्तित हैं, उन्हीं के प्रमुख सहयोगी रहस्यवाद और छायावाद के प्रमुख प्रवक्ता श्री मुकुटधर जी पाण्डेय की अधोलिखित कविताओं में इन तत्त्वों को खोजा जाय कि वे सारे तत्त्व उसमें किस अनुपात में विद्यमान हैं जब कि रचनाकाल की दृष्टि से प्रथम कविता भट्टजी के विचारों के प्रकाशन में ८ वर्षों बाद और दूसरी उसी वर्ष प्रकाशित हुई थी—

'जब वर्षा ऋतु की उष्मा में,
होकर श्रम से क्लान्त महान।
हल जोतते किसान छेड़ता,
है जब अपनी लम्बी तान।………[९]
ज्योत्सना में भर रही तू दिव्यतम आह्लाद,
लाया, बता, क्या साथ निज प्रभु का पवित्र प्रसाद?
यह सृष्टि सारी कर रही है स-मुद तुझमें स्नान,
निश्चय शमन-सन्ताप तू प्रभु का सुकरुणादान।……[१०]

शुक्लजी का विरोध इन कविताओं से अथवा भावों से तो था नहीं। विरोध तो 'रहस्यवाद' के नामकरण को लेकर था और इसे अपनी मृत्यु तक वह पचा नहीं पाये। रहस्यवाद और छायावाद के विरोध का मुद्दा तो सर्वप्रथम नामकरण से था। स्वयं इन प्रवक्ताओं ने अपनी रचनाओं को 'रहस्यवाद' कहकर प्रचारित किया था। शुक्लजी ने इसे बंगला की कविताओं का छायाभास मानकर आलोचना की थी। यद्यपि कि मुकुटधर जी पाण्डेय 'श्री शारदा' पत्रिका में इस प्रकार की रचनाओं के लिए 'छायावाद' शीर्षक लेख भी लिखा था, फिर भी बीसवीं सदी के तीसरे दशक तक इस प्रकार की कविताओं के लिए 'रहस्यवाद' का ही प्रयोग किया जाता रहा है। यदि ऐसा न होता, तो जब शुक्लजी ने 'पाखंड-प्रतिषेध' शीर्षक कविता लिखकर साहित्य के सुधी पाठकों को रहस्यवादियों से सावधान रहने की बात कही—

काव्य में 'रहस्य' कोई 'वाद' है न ऐसा, जिसे
लेकर निराला कोई पंथ ही खड़ा करे;
यह तो परोक्ष रुचि रंग की ही झाईं है, जो
पड़ती है व्यक्त में अव्यक्त बिबता धरे।……
किंतु जो इसी के सदा झूठे स्वाँग रचे, उसे
हाँक दो, न घूम-घूम खेती काव्य की चरे।……[११]

तो इसके उत्तर में पं० मातादीन शुक्ल ने 'पाखंड-परिच्छेद' नामक जो कविता प्रस्तुत की, उसमें वे बार-बार 'रहस्य' व 'रहस्यवाद' की चर्चा करते हैं। 'पाखंड-परिच्छेद' कविता की एक बानगी प्रस्तुत है जो 'रहस्य' और 'रहस्यवाद' से पूर्ण है—

'लेकर विवाद एक, कैसा है, 'रहस्यवाद'
यह बकवासवाद का ही शेष डंका है।

किंतु वह देखो जरा तुलसी 'शशि' की ओर
'अलख,' 'अनादि' में ही जिसका अतंका है।......
वह भी विकासवाद का प्रमाद एक रहा,
नाहक ज्यों ढोंगी-सा उखाड़ या पछाड़ कर,
तब राम-नाम, अब उसका रहस्य जान
है रहस्यवाद यह उसका विचार कर।......
है रहस्यवाद के रहस्य का रहस्य यह,
शस्य श्यामला पै दीखता जो आदि अंत है,
संत सा विरागी, अनुरागी, धन्य त्यागी वीर
भाषा-भाल-कुंकुम तिलक विकसंत है।"......[१२]

बार-बार 'रहस्यवाद' की चर्चा करना क्या स्वयं इन कवियों की अपनी ऊहापोह की मानसिकता का परिचायक नहीं है ?

जैसी की आम धारणा है कि रहस्यवाद और छायावाद के प्रबल विरोधी थे शुक्ल जी और कवियों से सबसे अधिक विरोध के पात्र थे निराला जी।[१३] इस कथन के सम्बन्ध में यह कहना अधिक समीचीन होगा कि 'छायावाद' के विरोध में निकलने वाली 'छायावाद-परिषद' पत्रिका का अवलोकन एवं उसके स्वरों का सूक्ष्मता से विवेचन किया जाय, तो स्पष्ट ज्ञात होगा कि इस विरोध में किसी भी प्रकार का भेदभाव नहीं था। 'छायावाद-परिषद' पत्रिका का सम्पादन किसी ने भी किया हो, परन्तु उसमें विरोध निराला का ही नहीं, बल्कि तत्कालीन छायावादी कहे जाने वाले सभी कवियों को समेट रखा था जिसमें पंत, माखनलाल चतुर्वेदी, निराला, प्रसाद, भगवतीचरण वर्मा आदि सभी थे। इसके साक्ष्य के लिए 'छायावाद-परिषद' पत्रिका के 'तर्पण' का वह अंश प्रस्तुत किया जा सकता है जिसमें तर्पण की विधि का उल्लेख किया गया है—

॥ विधिः ॥

"इस मंत्र को कर माला पर छायावादियों के बीच खड़े होकर आकाश की ओर टकटकी लगाकर हाथ पैर फटकारता हुआ २१ दिन तक अष्टोत्तरशत नित्य जपैं। २२वें दिन 'पल्लव' में 'मधुकण' मिलाकर 'अनामिका' से दशांश हवन करें। फिर 'आँसू' से तद्दशांश दर्पण करैं। पश्चात् 'दूर्वादल' से दशांश मार्जन करें। उसके बाद बिस्कुट, चाय, फल, मेवा, मिष्ठान्न, नमकीन से सम्पादकों को भोजन करावें तो मंत्र सिद्ध हो। अन्त में 'युगवाणी' का उच्चारण करैं।

इति श्री 'उस पार' संहितायां निर्जन नीरव खड़े मूक वेदना रहस्ये सूर्य्य-सुमित्रा संवादे मित्र निरूपणाख्यः प्रथमः पटलः।"[१४]

उपर्युक्त अंश में 'पल्लव', 'मधुकण', अनामिका, आँसू, दूर्वादल, युगवाणी तथा 'उस पार' जैसी रचनाएँ क्रमशः पंत, भगवतीचरण वर्मा, निराला, प्रसाद, सियारामशरण गुप्त तथा मंगल प्रसाद शर्मा की हैं। छायावादियों की कोटि में उस समय बृहत्रयी—पन्त, प्रसाद और निराला के अतिरिक्त, भगवतीचरण वर्मा, सियारामशरण गुप्त आदि कवियों की गणना होती थी। महादेवी जी तथा रामकुमार वर्मा की गणना तो बाद में हुई। यह सही है कि छायावादियों में सबसे अधिक आलोचना के पात्र निरालाजी ही थे। इसका भी कारण था। प्रसाद और पन्त की रचनाओं में ओज, पौरुषता तथा गतिमयता का वह अंश विद्यमान न था जो निरालाजी की अधिकांश रचनाओं में उपलब्ध है। पन्तजी अपने माधुर्य तथा सुकुमारता के लिए आलोचकों

की दृष्टि से बचे रहे तो प्रसादजी अपनी आध्यात्मिकता, भारतीय तथा ऐतिहासिक दर्शन-बोध के कारण उनके कृपापात्र बने रहे। अब अकेले निरालाजी तथा उनकी रचनाएँ ही आलोचकों की दृष्टि का कोपभाजन बनी। यह आलोचना मात्र शुक्लजी के द्वारा नहीं हुई थी, बल्कि इस धारा में बहुत से लोग बहते देखे गये थे। इन छद्मनामधारियों के कारण शुक्लजी ही छायावादियों के प्रबल विरोधी मान लिए गये। सम्भवतः हिन्दी साहित्य में अकेले शुक्लजी ही एकमात्र ऐसे व्यक्ति थे जिन्होंने छद्म नाम का प्रयोग कभी भी नहीं किया। जो कुछ भी लिखा, वह 'पं० रामचन्द्र शुक्ल' के नाम से। महावीरप्रसाद द्विवेदी जी जैसे व्यक्तित्व को भी छायावादी रचनाओं के विरोध के लिए 'सुकवि किंकर' जैसे छद्म नाम का सहारा लेना पड़ा था। लेकिन शुक्लजी के व्यक्तित्व के लिए यह सहन नहीं था। आचार्य द्विवेदी ने छायावादी रचनाओं को 'बंगला का अनुकरण' कहा तथा आचार्य शुक्ल ने इसे बंगला का अनुवाद व बंगला के आध्यात्मिक रहस्यवाद का अनुकरण, तो वह अत्युक्ति थी क्योंकि बंगला में भी 'छायावादिता' नामक शैली का प्रयोग हुआ है जिसे स्वयं मुकुटधर पाण्डेय ने स्वीकार किया है। इतना ही नहीं, 'छायावाद' नामकरण की सार्थकता के कारणों पर भी उन्होंने प्रकाश डाला है। स्मरण रहे कि मुकुटधर पाण्डेय 'छायावाद' के प्रबल समर्थक, प्रमुख प्रवक्ता एवं इसके नामकरण के श्रेय से मंडित हैं। इस सम्बन्ध में उन्हीं का कथन द्रष्टव्य है—

"मेरे सामने नई शैली के गीत थे। इनके भावों में एक धुंधलापन था, मानो वे भाव नहीं, उनकी छाया हों। बस, इसी बुनियाद पर मैंने 'छायावाद' नाम रखा। बंगला में मैंने एक आलोचना पढ़ी थी जिसमें नई शैली के लक्षणों में 'छायावादिता' भी गिनाई गई थी। पर बंगला में नई शैली को छायावाद नहीं कहा जाता था, न कहा जाता है। यह बात सही है कि मैंने 'छायावाद' का नामकरण किया।"[१४]

पाण्डेयजी के भावों का धुंधलापन और भावों की छाया ही आचार्य शुक्ल के 'प्रस्तुत के स्थान पर उसकी व्यंजना करने वाली छाया के रूप में अप्रस्तुत' का कथन है और यही छायावाद का सामान्य अर्थ हुआ, बाद में भले ही छायावादी कवियों ने अपनी रचनाओं के विश्लेषक बनकर 'छायावाद' का विभिन्न अर्थ दिया हो। प्रसाद और पन्त तो इस हेतु कई लेख भी प्रकाशित कराये।

आश्चर्य तो तब होता है जब आचार्य शुक्ल को आधार बनाकर साहित्य के इस 'वाद' को इसकी पूर्ण प्रतिष्ठा के बाद तक ही नहीं, अपितु समापन वर्षों के समय तक इसके विरोध में 'छायावाद-परिषद' पत्रिका का प्रकाशन हुआ। फरवरी, १९४० में [माघ संवत् १९९६] इसका प्रकाशन होता है और शुक्लजी तब तक छायावाद के सम्बन्ध में अपने विचारों में काफी संशोधन कर चुके थे। उस समय तक छायावादी कवियों की रचनाएँ यथार्थपरक आने लगी थीं जो शुक्लजी के लिए सन्तोषप्रद थीं। शुक्लजी जिस समय 'छायावाद' के आविर्भाव को हिन्दी-साहित्य के लिए अनिवार्य घोषित कर रहे थे, उस समय तक 'छायावाद-परिषद्' पत्रिका का प्रकाशन होता रहा है—अगस्त-सितम्बर, १९४० तक। इस प्रकार का विरोधाभास शुक्लजी जैसे व्यक्तित्व के लिए एक ही समय में घटित होना सम्भव नहीं प्रतीत होता है। छायावाद के सम्बन्ध में शुक्लजी का मत उस समय तक किस स्तर तक परिवर्तित हो चुका था, इसके प्रमाण में उनके उस वक्तव्य को देखा जा सकता है जिसे उन्होंने काशी में अट्ठाइसवें अखिल भारतीय हिन्दी-साहित्य सम्मेलन परिषद के स्वागताध्यक्ष-पद से दिया था। हिन्दी-साहित्य काव्य की तीन

धाराओं—ब्रजभाषा, द्विवेदी-युगीन इतिवृत्तात्मक खड़ीबोली तथा तीसरी नूतन अभिव्यंजना-प्रधान छायावाद की विवेचना करते हुए उन्होंने छायावाद के सम्बन्ध में कहा था—

"छायावाद कही जाने वाली धारा में अभिव्यंजना का वैचित्र्य प्रधान रहता है, वस्तु-विधान गौण। पर यह कोई ऐसी बात नहीं जो हममें परस्पर सामंजस्य का भाव बना न रहने दे। हमारे प्रेम और श्रद्धा के पात्र तीनों धाराओं के प्रतिभाशाली कविजन हैं। यदि हम नूतन धारा की कविता के विकास की ओर ध्यान देते हैं तो उसका किसी न किसी रूप में आविर्भाव अनिवार्य दिखाई पड़ता है"[१६]

शुक्लजी की विवेचन-शक्ति सदा ही उन्मुक्त रही है, उसमें न तो प्रतिबद्धता है और न ही किसी प्रकार की अस्पष्टता। प्रतिबद्धता और अस्पष्टता के अभाव में ही यह विवाद इतने दिनों तक मुखर होकर गतिशील रहा है। प्रो० पं० सद्गुरुशरण अवस्थी के इस कथन में काफी बल है कि—

"रहस्यवाद के वास्तविक स्वरूप के सम्बन्ध में हिन्दी में जो भ्रम फैल रहा है, उसके निराकरण की आवश्यकता है और उसके सच्चे स्वरूप की जानकारी भी अपेक्षित है। कुछ लोगों को छोड़कर इसके सम्बन्ध में जो कुछ भी लिखा गया है, वह बहुधा अस्पष्ट और पक्षपातयुक्त है। अर्वाचीन लेखकों ने रहस्यवाद का स्वरूप समझाने का चाहे कष्ट न उठाया हो, किन्तु रहस्यवाद की प्रशंसा के पुल अवश्य बाँधे हैं। ××× दूसरी ओर प्राचीनवादी लेखकों में कविता की नवीन प्रगति की अराजकता का इतना भय समा गया है कि वे सारी प्राचीन पद्धति को विलीन हुई देखते हैं।"[१७]

शुक्लजी के ऊपर अवस्थी जी ने इसी लेख में आगे चलकर एकांगीपन होने का आरोप लगाते हुए, उन्हें निर्बल-हृदय समालोचक कहकर पुनः शुक्लजी के तथ्यों को ही प्रमुखता प्रदान की है। शुक्लजी कुछ भी रहे हों, परन्तु यह बड़े ही धैर्य एवं गर्व के साथ कहा जा सकता है कि शुक्लजी ने कभी कुछ-कुछ अस्पष्ट नहीं रखा। रहस्यवाद और छायावाद के सम्बन्ध में शुक्लजी स्पष्ट घोषणा करते हैं—

"हमारा विचार है कि आध्यात्मिक रहस्यवाद का यह नूतन रूप हिन्दी में न भी आता तो भी अभिव्यंजना की वे विशेषताएँ जिनका उल्लेख ऊपर हुआ है, हिन्दी काव्य में स्फुरित होतीं; पर तब शायद 'छायावाद' नाम न आता। पर अब तो वह आ ही गया है, अतः इसका अर्थ स्पष्ट कर रखना चाहिए।

बात यह है कि 'छायावाद' शब्द काव्य-वस्तु से भी सम्बन्ध रखता है और अभिव्यंजना-प्रणाली से भी। जहाँ वह वस्तु से सम्बन्ध रखता है, वहाँ तो वह रहस्यवाद के अन्तर्गत है; जहाँ अभिव्यंजना-प्रणाली से ही सम्बन्ध रखता है, वहाँ प्रतीकवाद और अभिव्यंजनावाद के अन्तर्गत है। नई रंगत की अधिकतर रचनाओं को छायावादी इसी दूसरे अर्थ में कह सकते हैं क्योंकि इसका सम्बन्ध आध्यात्मिक रहस्यवाद से नहीं रहता है.........जैसा कि हम अभी कह आए हैं कि भाषा की भावानुकूल उन्मुक्त गति, कल्पना की उड़ान, लाक्षणिक विचित्रता इत्यादि विशेषताओं का विकास वर्तमान समय में आकर हमारे काव्य-क्षेत्र में होता ही, चाहे आध्यात्मिक रहस्यवाद आता या न आता।"[१८]

शुक्लजी की यह स्वीकृति चौथे दशक के समापन के समय की है। यह भी कहा जा सकता है कि उस समय तक हिन्दी काव्य-साहित्य एक नये वाद में प्रवेश कर चुका था और वह वाद था—प्रतीकवाद। सम्पूर्ण विवेचनों से यह स्पष्ट होता है कि शुक्लजी ने छायावाद का

विरोध नहीं किया था, विरोध था तो रहस्यवाद से। यह निर्विवाद सत्य है कि प्रारम्भ में इस 'वाद' को समझने एवं समझाने का प्रयास दोनों पक्षों से नहीं किया गया। यदि थोड़ा-बहुत प्रयास हुआ भी तो केवल शुक्लजी द्वारा ही। प्रो० गुलाबराय ने रहस्यवाद की चर्चा अवश्य की, परन्तु उस प्रवाह में वह हिन्दी-साहित्य को छोड़कर, संस्कृत साहित्य और दर्शन की ओर मुड़ गये। उससे हिन्दी साहित्य के पाठकों को कोई लाभ नहीं हुआ। अपनी व्याख्या में उन्होंने स्पष्ट शब्दों में इसकी अस्पष्टता की ओर संकेत किया है—

"किन्तु छायावाद में जो छाया शब्द है, वह एक प्रकार से खोखलापन, नकल और असारता का व्यंजक है। × × छायावाद या रहस्यवाद की परिभाषा करना कठिन है। यह एक प्रकार की दृष्टि है जिसके द्वारा आध्यात्मिक रहस्य अपने भीतरी अनुभव में, जो कि प्रायः भावप्रधान होता है, प्रकाशित होते हैं।"[१६]

छायावाद नाम को लेकर उठे विवाद से साहित्य के अध्येताओं को भले ही कुछ लाभ हुआ हो, परन्तु जिस रहस्य और रहस्यवाद को लेकर विवाद खड़ा किया गया, वह कुछ था ही नहीं। रहस्यवाद की श्रेणी में उस समय तक तथाकथित रहस्यवादी भी नहीं आते थे। इन तथाकथित रहस्यवादियों के सम्बन्ध में प्रो० सद्गुरुशरण अवस्थी की निम्न पंक्तियाँ सटीक बैठती हैं—

"यह स्पष्ट समझ लेना चाहिए कि वर्तमान हिन्दी के कवियों में रहस्यवादी बहुत कम हैं। समासोक्ति अथवा अन्योक्ति में रहस्य देखना भ्रम है। दुरूहवाद और रहस्यवाद दो भिन्न-भिन्न बातें हैं। शुक्लजी ने ठीक कहा कि काव्य-शक्ति से परिज्ञान के शून्य अभिमानी कवि परोक्ष की ओर झूठा इशारा करके असीम और ससीम का समन्वय कराया करते हैं। चित्रों की विकृति को ही वे रहस्यवाद समझते हैं। कुछ थोड़े से शब्द हैं, और कुछ थोड़े प्रतीक।"[२०]

( २ )

रहस्यवाद/छायावाद बनाम आचार्य शुक्ल का विवाद शुक्लजी के अवसान के साथ ही लगभग समाप्त हो गया, क्योंकि सन् १९४३ तक तारसप्तक का प्रकाशन हो चुका था और इसके पूर्व ही हिन्दी-साहित्य में प्रतीकवाद को लेकर एक नई हलचल पैदा हो चुकी थी। हिन्दी कविता अब प्रगतिवादी बन्धनों में बाँधी जाने लगी थी, जैसा कि पूर्व में छायावादी कविताओं के साथ हो रहा था। शुक्लजी के समय तक उनके छायावाद के सम्बन्ध में व्यक्त की गई मान्यताओं को लेकर विवाद चल रहा था। परन्तु उनके अवसान के बाद शुक्लजी के योगदान पर ही प्रश्नचिह्न लगने शुरू हो गये। 'हिन्दी-शब्दसागर' की भूमिका को लेकर सर्वप्रथम विवाद खड़ा किया शुक्लजी के वरिष्ठ सहयोगी बाबू श्यामसुन्दर दास जी ने। भूमिका शुक्लजी की देन थी या श्यामसुन्दर दास जी की। श्री श्यामसुन्दर दास जी ने 'मेरी आत्मकहानी' में उसे अपनी 'स्व' की कृति प्रमाणित करने हेतु कई पृष्ठों का निरर्थक प्रयोग किया। फिर भी 'भूमिका' शुक्लजी का संशोधित हिन्दी-साहित्य का इतिहास ही प्रमाणित हुई।

'हिन्दी साहित्य का इतिहास' आचार्य शुक्ल की वह देन है जिसे पाकर हिन्दी साहित्य विश्व के किसी भी साहित्य-इतिहास से टक्कर लेने में सक्षम है। इसी इतिहास के काल-विभाजन, नामकरण एवं प्रवृत्तियों को लेकर इतिहास-लेखकों ने कई इतिहासों का सृजन किया। परन्तु शुक्लजी का इतिहास मील का पत्थर बनकर आज भी सर्वमान्य इतिहास बना हुआ है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, शिवदान सिंह चौहान व शुक्लजी की शिष्य-परम्पराओं के नन्ददुलारे

वाजपेयी प्रभृति समीक्षकों ने इतिहास व समीक्षा-लेखन के नाम पर न जाने कितनी पुस्तकें व समीक्षाएँ लिखीं, परन्तु इनमें से कोई भी पूर्ण मौलिकता का परिचय देने में असमर्थ रही है। यह सही है कि आचार्य शुक्ल की अपनी कुछ मान्यताएँ थीं जिनमें उनका लोकानुरंजन, तथा तुलसी की मर्यादावादी-आदर्शवादी दृष्टिकोण भी यत्किंचित् मात्रा में विद्यमान है। फिर भी शुक्लजी की मान्यताएँ न तो रूढ़िवादी थीं, न ही वे किसी तथ्य को बिना यथार्थ की कसौटी पर कसे व विज्ञान के साथ बिना तारतम्य बैठाये मानने को ही तैयार होते थे। उनकी स्पष्टता ही साहित्य के लिए व इतिहास-लेखकों के लिए मार्गदर्शक का कार्य करती है।

आचार्य शुक्ल की प्रवृत्तियों को केन्द्र-बिन्दु मानकर आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' तथा शिवदान सिंह चौहान ने 'हिन्दी साहित्य के अस्सी वर्ष' जैसी प्रमुख आलोच्य कृतियों का सृजन किया। प्रथम में जहाँ आचार्य शुक्ल की मान्यता 'लोक-प्रवृत्ति के उपरान्त जब से मुसलमानों की चढ़ाइयों का आरम्भ होता है, तब से हिन्दी साहित्य की प्रवृत्ति एक विशेष रूप में बँधती हुई पाते हैं' के स्थान पर परम्परा को प्रमुखता प्रदान की और बड़े ही स्पष्ट शब्दों में घोषणा करते हैं—'अगर इस्लाम न भी आया होता तो भी इस साहित्य का बारह आना वैसा ही होता है, जैसा आज है। इस्लाम का प्रभाव मात्र चतुर्थ अंश तक स्वीकार करने वाले द्विवेदीजी साहित्य-इतिहास में केवल 'आदिकाल' को लेकर कुछ दूर तक शुक्लजी के समानान्तर चलने का प्रयास करते हैं। इसके पश्चात् तो शुक्लजी की मान्यताएँ ही स्वीकार करते हैं। एक काल की प्रवृत्ति को अस्वीकार करके दूसरे काल की प्रवृत्ति को स्वीकार करना शुक्लजी की परम्पराओं का ही अप्रत्यक्ष निर्वाह करना है। जिस प्रकार युगीन परि-स्थितियाँ और परम्पराएँ एक-दूसरे की पूरक हैं, वैसे ही शुक्लजी का मत और द्विवेदी जी का मत एक-दूसरे के पूरक हैं।'[२१]

'हिन्दी-साहित्य के अस्सी वर्ष' में श्री शिवदान सिंह चौहान ने आचार्य शुक्ल के इतिहास को अवैज्ञानिक बताते हुए उनके युग-नामकरण को एक रूढ़िवादी प्रवृत्ति मानते हैं। आश्चर्य तो तब होता है जब कि पाठक स्वयं चौहान जी को युगों को वाद करते हुए देखता है। 'छायावाद' को केन्द्र मानकर पूर्व छायावाद युग, छायावाद युग, छायावादोत्तर युगों में[२२] साहित्य-इतिहास को विभाजित करने के कारण तथा शुक्लजी को रूढ़िवादी एवं परम्परानुगती कहकर चौहानजी भले ही आज जनवादी रचनाकारों की कोटि में स्थापित हो लें, परन्तु आज का जनवादी पाठक चौहानजी की जनवादिता से कहीं अधिक प्रवुद्ध और जनवादी है। यही कारण है कि वह चौहानजी के अस्सी वर्ष के साहित्य को अस्वीकार करने में कभी भी हिचक की अनुभूति नहीं करता।

इसके बाद शुरू होता है—आलोचना पत्रिका का प्रकाशन। इसी के प्रकाशन से शुक्लजी के विरोध हेतु एक लाबी तैयार होती है जो शुक्ल विरोध को ही अपनी ख्याति का प्रमुख साधन मानकर साहित्य-क्षेत्र में प्रवेश करते हैं। इसके अग्रणी होते हैं श्री शिवदान सिंह चौहान, डॉ० नगेन्द्र, डॉ० नामवर सिंह और फिराक गोरखपुरी। कुछ तो ऐसे भी लेखक हैं जो शुक्लजी को बहुत बाद में जानने को स्वीकार करते हैं, फिर भी शुक्लजी की आलोचना करने में गर्व का अनुभव करते हैं—

'शुक्लजी को पढ़ते मुझे थकान हो आई। मैं मान लूँ कि मैं अपात्र था। पर स्फूर्ति का लक्षण है कि वह उँघाये नहीं, जगाये। मैं जगता था, जगने का इच्छुक था, फिर भी ऊँघ पड़ता था।'[२३]

यह समझ से परे की बात है कि इस ऊँघने और थकान की अनुभूति में शुक्लजी की मानसिकता के विकास का अभाव था या आलोचक की स्वयं की। शुक्लजी उपन्यास तो लिख नहीं रहे थे जो जगाये रखने के लिए पाठक को प्रेरित करे।

शुक्लजी की तुलना डॉ० आई० ए० रिचर्ड्स के साथ करते हुए डॉ० नगेन्द्र ने बड़ी ही सूक्ष्मता के साथ दोनों की काव्य-प्रतिभा का परिचय दिया है। विषमताओं के साथ समन्वय स्थापित करने में असफल होने के कारण शुक्लजी 'आउट ऑव डेट हो गए,—रिचर्ड्स कभी नहीं हो सकते', 'उनका सत्य गत्यात्मक है, शुक्लजी का स्थिर।' इस प्रकार के मत व्यक्त करते हुए भी डॉ० नगेन्द्र पुनः यह स्वीकार करते हैं कि 'शुक्लजी प्राणवान् पुरुष थे—उनमें जीवन था, गति थी। यह गति संस्कारवश आगे को अधिक नहीं बढ़ी, इसलिए भीतर को बढ़ती गई और उसका परिणाम हुआ अतुल गाम्भीर्य और शक्ति।"[२४]

इस प्रकार के विरोधाभास का कथन डॉ० नगेन्द्र को ही शोभा दे सकता है, जबकि डॉ० नगेन्द्र इस क्षेत्र में आचार्य शुक्ल की रस-परम्परा के पोषक लेखक हैं।

'आचार्य शुक्ल के निबन्धों की तरह का निबन्ध तो एम० ए० का छात्र भी लिख सकता है' के प्रवक्ता फिराक गोरखपुरी का हिन्दी साहित्य में क्या स्थान है, यह किसी से छिपा नहीं है। अतएव उनके इस बड़बोलापन के सम्बन्ध में कुछ कहना ही निरर्थक है। फिर भी यह बड़े गर्व के साथ कहा जा सकता है कि शुक्लजी की तरह का निबन्ध-लेखक आज तक हिन्दी-साहित्य में कोई उत्पन्न ही नहीं हुआ।

सम्पूर्ण विवेचनों के बाद यह कहने में किसी भी प्रकार का संकोच नहीं होना चाहिए कि शुक्लजी के साथ चिपका हुआ विवादों का आक्षेप शुक्लजी को अपने समय में विचलित नहीं ही कर सका, उनकी मृत्यु के बाद उनके योगदान को भी कम करने के सारे प्रयास असफल ही सिद्ध हुए। अपने विरोधियों के प्रति आचार्यजी कभी असहिष्णु नहीं हुए। उन्हें असहिष्णु कहने वालों के लिए निम्न पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

"मैंने उन्हें (शुक्लजी को) सर्वप्रथम सन् १९३५ में इंदौर में एक वृद्ध तपस्वी के रूप में (जिसने सरस्वती की आराधना में बाल पकाए थे) शांत, गंभीर, प्रभावशाली किन्तु एक नवीन आवरण से सुसज्जित देखा था। × × × उनका भाषण आरम्भ हुआ। वृद्धावस्था के कारण वे बहुत धीमे बोले थे। इसलिए भाषण का मुख्यांश पं० बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' ने सुनाया। भाषण पुस्तकाकार था। बीच में ही श्रीनाथ सिंह—सम्पादक 'हल'—खड़े होकर उपन्यास पर शुक्लजी पर आक्षेप कर बैठे, किन्तु उस महर्षि ने चूं तक न की। टस से मस न हुए। शांत, स्थिर ही बैठे रह गये।"[२५]

यह था शुक्लजी की अपनी सहिष्णुता का परिचय। यही कारण था कि वे अपने विरोधियों के भी श्रद्धेय बने रहे। छायावाद की आलोचना को लेकर सम्पूर्ण छायावादी कवि शुक्लजी के विरोधी हो गये थे, परन्तु उनके व्यक्तित्व की उदारता एवं महानता को वे हृदय से स्वीकार भी करते थे—

"साहित्य परिषद् में रामचन्द्र शुक्ल और निराला एक मंच से बोले। शुक्लजी ने छायावाद-सम्बन्धी अपनी स्थापनाएँ बदल दी थीं। निराला ने उनके प्रति पूर्ण सम्मान प्रदर्शित किया।"[२६]

शुक्लजी को गतिमान न मानकर स्थिर मानने वाले आलोचकों के लिए उपर्युक्त कथन ही प्रमाण होगा कि शुक्लजी गतिशील थे, विकसनशील-विवेकी थे या परम्परानुगती रूढ़िवादी और

प्रतिबद्ध। शुक्लजी के दिवंगत होने पर निरालाजी काफी दुखी हुए थे और इसे साहित्य की अपूर्ण क्षति बतलाए थे।

## संदर्भ-संकेत

१. 'सरस्वती'—मार्च १९०५, पृष्ठ संख्या ४५३। २. 'त्रिपथगा'—१९५७ ई० में योगेशदत्त शुक्ल द्वारा प्रकाशित शुक्लजी के पत्रों को देखा जा सकता है। ३. 'सुधा'—पाखंड-प्रतिषेध—फरवरी १९२८, पृष्ठ संख्या ५६। ४. निराला की साहित्य-साधना—भाग १, डॉ० रामविलास शर्मा, पृ० सं० १६२। ५. सरस्वती, जनवरी १९१९ ई०, पृ० संख्या ३५। ६. श्री शारदा, मार्च १९२२ ई०, वर्ष २, खण्ड-२, पृ० संख्या ३२५। ७ सरस्वती, मई १९१४ ई०, भाग १५, खण्ड ११, पृ० संख्या २६६। ८. वही, पृ० संख्या २६७। ९. 'विशाल भारत'—मई १९३४, पृ० सं० ५९३। १०. 'श्री शारदा'—२७ जून १९२२, पृ सं० ५५५। ११. सुधा—फरवरी १९२८ ई०, पृ० सं० ५९। १२. सुधा—मार्च १९३८ ई०, पृ० सं० १९१-१९२। १३. हिन्दी साहित्य का इतिहास, दशम खण्ड, पृ० सं० १७३, प्रथम संस्करण, सम्वत् २०२८। १४. हिन्दी साहित्य का वृहद् इतिहास—दशम खण्ड, प्रथम संस्करण, संवत् २०२८, पृ० सं० १७२, पादटिप्पणी। १५. हिन्दी-साहित्य का अद्यतन इतिहास—डॉ० मोहन अवस्थी, परिवर्द्धित संस्करण, १९८३ ई०, पृष्ठ संख्या २६०। १६. चिन्तामणि, भाग ३, सं० डॉ० नामवर सिंह, प्रथम संस्करण, १९८३ ई०, पृ० सं० २७३। १७. सुधा—जनवरी १९३३, पृ० संख्या ८४८। १८. चिन्तामणि—भाग ३, सं०—नामवर सिंह, सन् १९८३, पृ० सं० २७३-२७४। १९. विशाल भारत—आषाढ़, सम्वत् १९८५, पृ० सं० ७२९। २०. सुधा—जनवरी १९३३ ई०, पृ० संख्या ८६१। २१. हिन्दी साहित्य का इतिहास—सं० डॉ० नगेन्द्र, द्वितीय संस्करण, पृ० सं० ५१। २२. हिन्दी साहित्य के अस्सी वर्ष—डॉ० शिवदान सिंह चौहान। २३. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल—सम्पादक प्रो० गुलाबराय व विजयेन्द्र स्नातक, १९५१ ई०, पृ० सं० ५२। २४. वही, पृ० संख्या १३७। २५. रामचन्द्र शुक्ल : जीवनी और कृतित्व—स्व० प० चन्द्रशेखर शुक्ल, प्रथम संस्करण, पृ० सं० २०७। २६. निराला को साहित्य-साधना, भाग १, पृ० सं० ३२७।

●

प्रेमघन मार्ग,
वासलीगंज, मीरजापुर

## आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का सृजनात्मक साहित्य

साभार—हिन्दी विभाग, गुरुनानक देव विश्वविद्यालय के सौजन्य से

| क्र० सं० | पुस्तक | प्रकाशन-स्थान | प्रकाशक | संस्करण | विशेष |
|---|---|---|---|---|---|
| १. | काव्य में रहस्यवाद | वाराणसी | साहित्य भूषण कार्यालय | १९८० वि० | |
| २. | गोस्वामी तुलसीदास | वाराणसी | नागरी प्रचारिणी सभा | | |
| ३. | चिन्तामणि (भाग-१) | इलाहाबाद | इंडियन प्रेस | | |
| ४. | चिन्तामणि (भाग-२) | वाराणसी | नंद ब्रदर्स/नागरी प्रचारिणी सभा/ सरस्वती मन्दिर | | विश्वनाथ प्रसाद मिश्र द्वारा सम्पादित |
| ५. | चिन्तामणि (भाग-३), | दिल्ली | राजकमल प्रकाशन | १९८३ | डॉ० नामवर सिंह द्वारा सम्पादित |
| ६. | जायसी-ग्रन्थावली की भूमिका | वाराणसी | नागरी प्रचारिणी सभा | | |
| ७. | त्रिवेणी | वाराणसी | नागरी प्रचारिणी सभा | | |
| ८. | मधु स्रोत | वाराणसी | नागरी प्रचारिणी सभा | | मौलिक काव्य-संग्रह |
| ९. | रस-मीमांसा | वाराणसी | नागरी प्रचारिणी सभा | | विश्वनाथप्रसाद मिश्र द्वारा सम्पादित |
| १०. | विचारवीथि | इलाहाबाद | इंडियन प्रेस | १९३० ई० | |
| ११. | श्री राधाकृष्णदास का जीवन-चरित्र | वाराणसी | नागरी प्रचारिणी सभा | १९१३ ई० | |
| १२. | सूरदास | वाराणसी | नंदकिशोर एण्ड ब्रदर्स | | |
| १३. | हिन्दी साहित्य का इतिहास | वाराणसी | नागरी प्रचारिणी सभा | | |
| १४. | हिन्दुस्तानी का उद्गम | वाराणसी | नागरी प्रचारिणी सभा | १९९६ वि० | |
| **अन्य** | | | | | |
| १. | आचार्य शुक्ल : प्रतिनिधि निबंध | दिल्ली | राधाकृष्ण | | सम्पा० सुधाकर पांडेय |
| २. | आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : प्रतिनिधि निबंध | | | | सम्पा० डॉ० हरीश |

**कहानी**

| | | | |
|---|---|---|---|
| १. | ग्यारह वर्ष का समय | सरस्वती पत्रिका | १६०३ |

# आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : लेख

| क्र० सं० | लेख | पत्रिका | वर्ष |
|---|---|---|---|
| १. | भाषा का विस्तार | आनन्द कादम्बिनी | १८६६ |
| २. | प्राचीन भारतीयों का पहरावा | सरस्वती | दिसम्बर, १६०२ |
| ३. | कविता क्या है ? | सरस्वती | अक्टूबर, १६०३ |
| ४. | हुएनसांग | सरस्वती | जुलाई/अगस्त, १६०४ |
| ५. | दुर्गावती | आनन्द कादम्बिनी | १६०५ |
| ६. | बाबू काशीप्रसाद खत्री | सरस्वती | नवम्बर, १६०६ |
| ७. | अपनी भाषा पर विचार | आनन्द कादम्बिनी | १६०७ |
| ८. | शब्द-विस्तार | आनन्द कादम्बिनी | १६०७ |
| ९. | पारसीकों का इतिहास | सरस्वती | १६०७ |
| १०. | फ्रेडरिक पिनकाट | सरस्वती | जनवरी, १६०८ |
| ११. | महाराज कनिष्क | नागरी प्रचारिणी पत्रिका | १६०६ |
| १२. | बुद्धदेव की हड्डियाँ | नागरी प्रचारिणी पत्रिका | १६०६ |
| १३. | उर्दू राष्ट्र भाषा | नागरी प्रचारिणी पत्रिका | १६०६ |
| १४. | उपन्यास | सरस्वती | जुलाई/अगस्त, १६१० |
| १५. | भारतीय शिल्पकला | नागरी प्रचारिणी पत्रिका | १६१० |
| १६. | जापानी खोज | नागरी प्रचारिणी पत्रिका | १६१० |

| क्र० सं० | लेख | पत्रिका | वर्ष |
|---|---|---|---|
| १७. | बंगाल में उर्दू | नागरी प्रचारिणी पत्रिका | १९१० |
| १८. | शेष स्मृतियाँ | नागरी प्रचारिणी पत्रिका | १९११ |
| १९. | भाषा की शक्ति | नागरी प्रचारिणी प्रत्रिका | १९१२ |
| २०. | मनोविकारों पर लेख : भाव या मनोविकार, उत्साह, श्रद्धा-भक्ति, करुणा, लज्जा और ग्लानि, लोभ और प्रीति, घृणा, ईर्ष्या, भय और क्रोध | नागरी प्राचारिणी पत्रिका | १९१२ |
| २१. | काव्य में प्राकृतिक दृश्य | माधुरी | १९२२ |
| २२. | गोस्वामी तुलसीदास और लोकधर्म | माधुरी | १९२३ |
| २३. | सूरदास | नागरी प्रचारिणी पत्रिका | १९२४ |
| २४. | भारतेन्दु हरिश्चन्द्र | (भारतेन्दु संग्रह की भूमिका) | १९२८ |
| १५. | हिन्दी और हिन्दुस्तानी | नागरी प्रचारिणी पत्रिका | १९२८ |
| २६. | हिन्दी साहित्य | नागरी प्रचारिणी पत्रिका | १९२९ |
| २७. | सभ्यता के आवरण और कविता | सुधा | १९२९ |
| २८. | साधारणीकरण और व्यक्ति वैचित्र्यवाद | द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ में प्रकाशित | १९३३ |
| २९. | काव्य में लोकमंगल की साधानावस्था | | १९३३ |
| ३०. | मानस की धर्मभूमि | | |
| | तुलसी का भक्तिमार्ग | | |
| | रसात्मक बोध के विविध रूप | | |

## आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अंग्रेजी में लेख

| | | | |
|---|---|---|---|
| १. | ह्वाट हैज इण्डिया टु डू | हिन्दुस्तान रिव्यू | १९०३ |
| २. | हिन्दी में धांधली | दि इण्डियन पीपुल | १९०४-१९०७ |
| ३. | हिन्दी की आलोचना | मार्डन रिव्यू | १९०६-१९०८ |
| ४. | हिन्दी एण्ड दी मुसलमान्स | लीडर | १९१७ |
| ५. | नानंकु आपरेशन एण्ड दी नान-मर्कन्टाइल क्लासेज | एक्सप्रेस (कबीरपुर-पटना) | १९२१ |

## आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा सम्पादित ग्रन्थ

| | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|
| १. | तुलसीकृत कवितावली | रा० च० शुक्ल, लाला भगवानदीन तथा ब्रजरत्न दास | वाराणसी | नागरी प्रचारिणी सभा | १९२३ ई० |
| २. | तुलसी ग्रन्थावली (खंड २) | रा० च० शुक्ल, लाला भगवानदीन तथा ब्रजरत्न दास | वाराणसी | नागरी प्रचारिणी सभा | |
| ३. | तुलसीकृत दोहावली | रा०च० शुक्ल, लाला भगवानदीन तथा ब्रजरत्न दास | वाराणसी | नागरी प्रचारिणी सभा | १९२३ ई० |
| ४. | नूर मुहम्मद कृत अनुराग बाँसुरी | रा० च० शुक्ल तथा चन्द्रबली पांडेय | प्रयाग | हिन्दी साहित्य सम्मेलन | |
| ५. | जायसी-ग्रन्थावली | रा० च० शुक्ल | वाराणसी | नागरी प्रचारिणी सभा | |
| ६. | सूर कृत भ्रमरगीत सार | रा० च० शुक्ल | वाराणसी | साहित्य सेवा सदन | |
| ७. | भारतेन्दु साहित्य | रा० च० शुक्ल | वाराणसी | पुस्तक भंडार, लहरिया सराय | १९२९ ई० |
| ८. | हिन्दी शब्दसागर | (सं० मंडल के प्रमुख सदस्य के रूप में कार्य किया।) | | | |
| ९. | वीरसिंह देव चरित | (केशवदास के ऐतिहासिक काव्य 'वीरसिंह देव' का सम्पादन अधूरा ही मुद्रित मिलता है।) | | | |

## आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का अनूदित साहित्य

| क्र० सं० | पुस्तक | मूल लेखक | | |
|---|---|---|---|---|
| १. | आदर्श जीवन (प्लेन लिविंग एण्ड हाई थिंकिग) | स्माइल्स, सैम्युअल | | |
| २. | बुद्धचरित (सं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी) | आरनाल्ड एडविन | वाराणसी | नागरी प्रचारिणी सभा |

| | | | | |
|---|---|---|---|---|
| ३. | भारतीय आदर्श | एनी बेसेन्ट | इलाहाबाद | थियोसोफिकल सोसाइटी |
| ४. | राजप्रबन्ध शिक्षा (माइनर हिंटप) | माधवराज, सर टी० राज | वाराणसी | इंडियन प्रेस |
| ५. | विश्व-प्रपंच (रिडल ऑफ द वर्ल्ड) | हैवेल | वाराणसी | नागरी प्रचारिणी सभा |
| ६. | शशांक | राखालदास वंद्योपाध्याय | वाराणसी | नागरी प्रचारिणी सभा |

अन्य

| | | | |
|---|---|---|---|
| १. | कल्पना का आनन्द (प्लेजर्स ऑफ एमैजिनेशन) | जोसेफ एडिसन | नागरी प्रचारिणी पत्रिका में प्रकाशित |
| २. | मेगास्थनीज का भारतवर्षीय वर्णन | (यह 'टा इण्डिका' का अनुवाद है) | |
| ३. | साहित्य (लिटरेचर) | जॉन हेनरी न्यू मैन | सरस्वती पत्रिका में प्रकाशित |
| ४. | प्राचीन भारत के राव-राजा | (अंग्रेजी में अनुवाद) | ना० प्र० स० से प्रकाशित |
| ५. | भारत में हूण | | ना० प्र० स० से प्रकाशित |

## आचार्य रामचन्द्र शुक्ल सम्बन्धी आलोचनात्मक साहित्य

| | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|
| १. | कुमार, अजित | आचार्य शुक्ल विचार कोश | दिल्ली | नेशनल पब्लिशिंग हाउस | १९७४ |
| २. | कृष्ण, बलदेव | गद्य-लेखक रामचन्द्र शुक्ल | दिल्ली | ओरिएंटल बुक डिपो | १९६२ |
| ३. | किशोर, नवल | हिन्दी निबन्ध और रामचन्द्र शुक्ल | | | |
| ४. | गौतम, लक्ष्मणदत्त | आचार्य शुक्ल | दिल्ली | अशोक प्रकाशन | |
| ५. | जगधारी, अनुराधा | कविता क्या है और रामचन्द्र शुक्ल | इलाहाबाद | चित्रलेखा प्रकाशन | १९५४ |
| ६. | जयनाथ 'नलिन' | आचार्य रामचन्द्र शुक्ल | दिल्ली | साहित्य संस्थान | १९६० |
| ७. | जयनाथ 'नलिन' | रामचन्द्र शुक्ल : एक समीक्षा | शहादरा दिल्ली | साहित्य संस्थान | १९६२ |
| ८. | झारी, कृष्णदेव | आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : निबन्ध-यात्रा | | | |
| ९. | टण्डन, हरिहरनाथ | चिन्तामणि-दर्शन | आगरा | विनोद पुस्तक मंदिर | १९५४ |
| १०. | धवन, कृष्ण | आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और उनका इतिहास-बोध | होशियारपुर | विश्वेश्वरानंद वैदिक शोध संस्थान | १९८० |

| | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|
| ११. | पांडेय, शंभुनाथ | आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : सिद्धांत, कृतित्व और आलोचना का विशद विवेचन | आगरा | सरस्वती संवाद | १९६२ |
| १२. | पालीवाल, कृष्णदत्त | आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का चिन्तन-जगत् | दिल्ली | साहित्य निधि | १९८४ |
| १३. | बोरा, राजमल | चिन्तामणि-मीमांसा | | | |
| १४. | भाटी, कृष्णदेव | निबन्धकार रामचन्द्र शुक्ल | अम्बाला | साहित्यिक प्रकाशन | १९५८ |
| १५. | मिश्र, दुर्गाशंकर | चिन्तामणि-मंथन | लखनऊ | हिन्दी साहित्य भंडार | १९६१ |
| १६. | मिश्र, विश्वनाथ प्रसाद | चिन्तामणि-मंजूषा | इलाहाबाद | इंडियन प्रेस प्रा० लि० | |
| १७. | राय, गुलाब, विजयेन्द्र स्नातक | आलोचक रामचन्द्र शुक्ल | दिल्ली | आत्माराम (संशोधित सं०) | १९६२ |
| १८. | राय, जयचन्द्र | आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और उनका साहित्य | दिल्ली | भारतीय साहित्य मंदिर | १९६० |
| १९. | राय, जयचन्द्र | आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : सिद्धांत और साहित्य | दिल्ली | भारतीय साहित्य मंदिर | १९६३ |
| २०. | शर्मा, जगदीश चन्द्र | साहित्य-इतिहासकार आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी | नई दिल्ली | प्रभुदयाल पब्लिशिंग हाउस | |
| २१. | शर्मा, मक्खनलाल | शुक्लजी की निबन्ध-कला और चिन्तामणि | आगरा | रतन प्रकाशन मंदिर | १९६२ |
| २२. | शर्मा, रामविलास | आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिंदी आलोचना | आगरा | विनोद पुस्तक मंदिर | १९५५ |
| २३. | शिवनाथ | आचार्य रामचन्द्र शुक्ल | वाराणसी | सरस्वती मंदिर | १९४० |
| २४. | शुक्ल, गिरिजादत्त 'गिरीश' | समीक्षक प्रवर श्री रामचन्द्र शुक्ल | इलाहाबाद | रामनारायण लाल, | १९५५ |
| २५. | शुक्ल, चन्द्रशेखर | रामचन्द्र शुक्ल : जीवनी और कर्तृत्व | वाराणसी | वाणी वितान प्रकाशन | १९६२ |
| २६. | शुक्ल, सुधा | आचार्य शुक्ल | जालंधर | हिन्दी भवन | १९६२ |
| २७. | सक्सैना, ललताप्रसाद | निबंधकार आचार्य रामचन्द्र शुक्ल | | | |
| २८. | सिंह, अशोक | आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का गद्य-साहित्य | | | |
| २९. | सिंह, रामलाल | आचार्य शुक्ल के समीक्षा-सिद्धांत | वाराणसी | नागरी प्रचारिणी सभा | १९६९ |
| ३०. | सिंह, रामलाल | निबंधकार रामचन्द्र शुक्ल | | | |

## आचार्य रामचन्द्र शुक्ल संबंधी शोधकार्य

| क्र. | शोधकर्ता | विषय | स्थान | वर्ष |
|---|---|---|---|---|
| १. | कुमार, इंदिरा हृदयेश | आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल की जीवनी तथा काव्य-संबन्धी मान्यताओं का विवेचन | कानपुर | १९७५ |
| २. | गोस्वामी, कृष्णकुमार | आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की भाषाशैली का वैज्ञानिक अध्ययन | मेरठ | १९७२ |
| ३. | पांडे, दीनानाथ | प्रगतिशील चेतना के परिप्रेक्ष्य में पं० रामचन्द्र शुक्ल का पुनर्मूल्यांकन | काशी | १९७८ |
| ४. | पांडे, रामकृपाल | आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के साहित्य-सिद्धान्त | इलाहाबाद | १९६६ |
| ५. | राय, जयचन्द्र | आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : एक अध्ययन | आगरा | १९६३ |
| ६. | सिंह, देवीप्रसाद | पौरस्त तथा पाश्चात्य साहित्य-सिद्धान्त तथा आचार्य शुक्ल | काशी | १९७१ |
| ७. | सिंह, राजेन्द्रकुमार | आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी के आलोचनात्मक निबन्धों का तुलनात्मक अध्ययन | काशी | १९७४ |
| ८. | सिंह, रामलाल | आचार्य शुक्ल के समीक्षा-सिद्धांत | सागर | १९५६/५७ |
| ९. | त्रिपाठी, शम्भुनाथ | आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की समीक्षात्मक शब्दावली, भूमिका, व्याख्या और अनुक्रमणिका | काशी | १९७३ |

डॉ० जगदीश गुप्त, सचिव एवं कोषाध्यक्ष, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद द्वारा प्रकाशित एवं नागरी प्रेस, अलोपीबाग, इलाहाबाद द्वारा मुद्रित ।